हिन्दी साहित्य और साहित्यकार

.43009
हि

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

[विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा बोर्डों में पाठ्यक्रम के लिए स्वीकृत]

हिन्दी साहित्य
और
साहित्यकार

डा. डिल्ली रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
पुस्तकालय

लेखक

सुधाकर पाण्डेय

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बाक्स नं० ७० ज्ञानवापी बनारस

प्रकाशक

ओम्प्रकाश बेरी,

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,

पो० बक्स नं० ७०, ज्ञानवापी,

बनारस ।

प्रथम संस्करण——२५ फरवरी, १६५४

द्वितीय संशोधित संस्करण——१५ अगस्त, १६५४

तृतीय संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण

जनवरी, १६५५

मूल्य : एक रुपया चार आना,

सजिल्द :: दो रुपया

[आवरण सर्जक—कांजिलाल]

मुद्रक

श्रीकृष्णचन्द्र बेरी,

विद्यामन्दिर प्रेस लि०,

डी० १५।२४, मानमन्दिर

बनारस ।

संस्करण पर संस्करण

कुछही महीने में इस पुस्तक को हिंदी-जगत का इतना अधिक स्नेह मिला, शैक्षिक जगत में इसका इतना अधिक सम्मान हुआ जितनी आशा मैंने कभी भीं न की थी। संस्करण पर संस्करण इस पुस्तक के निकलते चले जा रहे हैं। यह हिंदी-प्रेमियों द्वारा दिया गया प्रोत्साहन किसी भी व्यक्ति के लिए उत्साहवर्द्धक हो सकता है। आज इन पंक्तियों के लिखते समय तक लगभग ५६०० कापियों का आर्डर कट चुका है, पुस्तक के अभाव में। यह मेरे लिये भी अत्यन्त दुख का कारण हो सकता है। पर मैं विशेष रूप से उन बन्धुओं से क्षमा चाहता हूँ, इस आश्वासन के साथ कि अब ऐसा प्रवन्ध किया जा रहा है कि भविष्य में ऐसा न हो सके।

इस आश्वासन के साथ ही यह भी निवेदन कर देना कर्त्तव्य समझता हूँ कि पुस्तक के प्रत्येक संस्करण में जब तक हूँ परिवर्द्धन, संशोधन होता रहेगा। इस संस्करण का आकार बढ़ा दिया गया है। नयी सामग्री वढ़ायी गयी है। पुरानी भूलें सुधारी गयीं हैं। फिर भी त्रुटियों के लिए क्षमा चाहूँगा।

एक बात लज्जा की है वह यह है कि कुछ स्थानों से मुझे सूचनाएँ मिली हैं कि यह पुस्तक अधिक दाम पर बेची जाती हैं। साहित्य का कृष्णमुखी व्यापार करने वालों से विनम्र प्रार्थना है कि वे ऐसा न करें। यह अच्छा नहीं। डा० महादेव साहा अपने हैं, उन्होंन सुझाव दे अनुगृहीत किया। धन्यवाद क्या दूँ।

सुझाव देनेवालों का सदा ऋणी रहा हूँ और रहूँगा।

'हिन्दी-प्रचारक' कार्यालय, — सुधाकर पाण्डेय

काशी — १०-१-५५

डा. दिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय

---:o:---

अपनी ओर से.........

हिन्दी न केवल अब हमारे देश के साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है, अपितु राष्ट्र-भाषा भी है। जब हिन्दी-साहित्य के अतीत की चर्चा की जाती है तब प्रायः विद्वान इसे मध्यदेश की भाषा ठहराते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हजारों वर्ष से मध्यदेश का साहित्य हिन्दी में लिखा जा रहा है, पर यह मत ऐसी खोजों पर आधृत है जो स्वयं अभी पूर्ण नहीं है। हिन्दी का खोज-सम्बन्धी अधिकांश कार्य मध्यदेश में ही हुआ है, अभी यह कार्य समस्त भारत में नहीं हुआ। फिर भी इस अभाव के रहते हुए जो साहित्य खोज द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, उसको भी यदि आधार बनाया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि हिन्दी केवल मध्यदेश तक ही सीमित नहीं रही, अपितु उसकी महत्ता अखिल-भारतीय रही है और समस्त भारत में उसके साहित्य का प्रणयन होता रहा है।

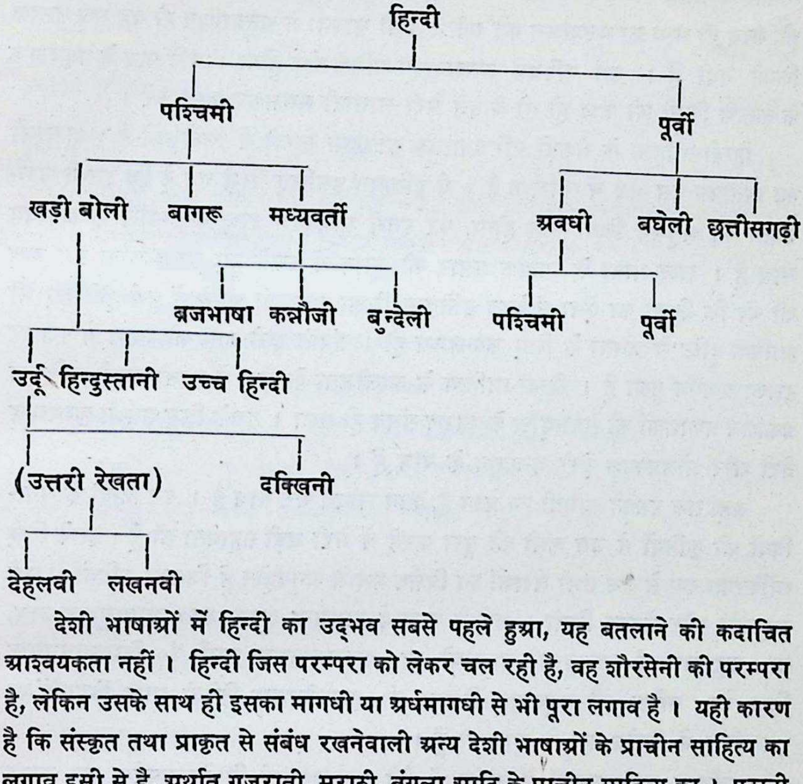
भारत को सांस्कृतिक एक-सूत्रता में आबद्ध करनेवाले तत्व धार्मिक चेतना सम्पन्न जीवन में प्रतिष्ठित मान्यताएँ हैं। ये मान्यताएँ कितनी प्राचीन हैं, इसकी निश्चित तिथि का निर्धारण सर्वमान्य रूप से इतिहासकार करने में असमर्थ हैं। पर ये मान्यताएँ कई हजार वर्ष प्राचीन हैं—इसमें सन्देह नहीं। धर्मयात्रा का व्यापक विधान सर्वत्र धर्मशास्त्र के अङ्ग के रूप में अत्यन्त प्राचीन काल से ही मिलता है। सभी धर्मों के महान तीर्थ हिन्दी-क्षेत्र में स्थित हैं, जहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से देश के ही नहीं, विदेश के लोग भी धर्मयात्रा के लिये आते रहे हैं। देश के सभी भू-भागों के लोग इस प्रदेश में निरन्तर धर्मयात्रा करते रहे हैं। अतएव यहाँ बोली जानेवाली भाषा का परिचय वे रखते ही हैं, साथ ही उसका उपयोग करने में गौरव का भी अनुभव करते रहे हैं। व्यापारिक दृष्टि से भी यह प्रदेश सदैव से व्यापार का केन्द्र रहा है। व्यापार से संबंधित लोग भाषा के माध्यम द्वारा निकट सम्पर्क-स्थापन में विशेष लाभान्वित होते हैं। अतएव इस प्रदेश की भाषा का प्रचलन सांस्कृतिक, सामरिक, राजनैतिक, व्यापारिक सभी दृष्टियों से अखिल भारतीय रहा है। जो खोज अभी तक हुई है उसी को यदि कसौटी पर रखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दी-साहित्य का प्रणयन न केवल मध्य-देश में हुआ, अपितु समस्त भारत में उसका प्रणयन होता रहा। परिमाण की विशेषता भले ही मध्यदेश में रही हो।

जैन-साहित्य का निर्माण समस्त भारत में हुआ तथा हिन्दी में भी रचना जैन प्रभाव क्षेत्र में हुई। राजस्थान का साहित्य तो हमारे गौरव की वस्तु है ही। महाराष्ट्र में भी हिन्दी-रचना होती रही है। शाहजी, शिवाजी, महादाजी सिंधिया, दौलतराव सिंधिया आदि राजनैतिक महापुरुष तथा ज्ञानदेव, मुक्ता बाई, तुकाराम आदि संत भी हिन्दी के रचनाकार हैं। ट्रावनकोर के केरलपति गर्भ श्रीमान् भी हिन्दी के कवि थे। बंगाल में विद्यापति की रचना तथा दक्खिनी-साहित्य हिन्दी के व्यापक प्रसार के राष्ट्रीय महत्वका आख्यान करता है।

आज सभी वर्गों के लोग, सभी राज्यों में हिन्दी में रचना करने में गौरव का अनुभव करते हैं। वास्तव में हिन्दी-साहित्य सदैव से अखिल भारतीय महत्व का रहा है।

की दृष्टि से भारत के लिए हिन्दी का कितना महत्व है यह पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र की कृति वाङमय विमर्श से दिये गये इस उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा ।

"हिन्दी के अन्तर्गत जो साहित्यिक और लौकिक बोलियां आती हैं उनका प्रसार इस प्रकार है ।



देशी भाषाओं में हिन्दी का उद्भव सबसे पहले हुआ, यह बतलाने की कदाचित आश्वयकता नहीं । हिन्दी जिस परम्परा को लेकर चल रही है, वह शौरसेनी की परम्परा है, लेकिन उसके साथ ही इसका मागधी या अर्धमागधी से भी पूरा लगाव है । यही कारण है कि संस्कृत तथा प्राकृत से संबंध रखनेवाली अन्य देशी भाषाओं के प्राचीन साहित्य का लगाव इसी से है, अर्थात् गुजराती, मराठी, बंगला आदि के प्राचीन साहित्य का । पुरानी रचनाओं की परम्परा हिन्दी की ही है अर्थात् हिन्दी इन देशी भाषाओं की बड़ी बहन है ।

राष्ट्रीय महत्व के इस साहित्य का वास्तविक इतिहास लिखने के लिए रायल आकार के १५०० पृष्ठों के २० खण्डों की आवश्यकता है, साथ ही यह कार्य कमसे कम ६० विशिष्ट विद्वानों के पूर्ण साधना-सम्पन्न सहयोग पर अवलम्बित है । मुझे पूर्ण आशा है कि निकट भविष्य में यह कार्य सम्पन्न होगा । प्रस्तुत पुस्तक तो केवल परिचय है ।

आज आलोचकों का, विशेषकर हिन्दी से रोजी और रोटी चलानेवालों का जो रुख है, उसे देखते हुए निराशा होती है। दलगत राजनीति में आकण्ठ निमग्न प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान अपनी शक्ति केवल अपने निकट के साहित्यिकों को गिराने या उठाने में लगा रहे हैं या अपनी शक्ति अपने स्वार्थ-साधन के लिए । आज भी प्रतिभा-सम्पन्न ऐसे विद्वान हैं, जिनकी सेवाएँ हिन्दी के लिए अर्पित हैं, उनमें से अनेक या तो संयस्थ हो गये

हैं या वे दल न बना सकने के कारण महत्व के ही नहीं माने जाते। ऐसी परिस्थिति में आज के अधिकांश आलोचक अपना धर्म भूल गये हैं। गलत और झूठी बातें लोग पढ़ाते हैं और लिखते हैं, पर बातचीत में अपने इस अपराध को वे स्वीकार भी कर लेते हैं। ऐसी परिस्थिति में आवश्यकता इस बात की थी कि कोई ऐसी पुस्तक लिखी जाय जो सर्व-सुलभ हो, साथ ही सत्य का मूल्यांकन कर सके। इसी भावना से अनुप्राणित हो यह लघु पुस्तक लिखी गयी है। इसे परिचय समझना ही अधिक ठीक होगा। यदि सत्य के उद्घाटन के कारण किसी को कष्ट हो तो वे इसे मेरी लाचारी समझकर क्षमा करें।

हिन्दी-साहित्य के सैकड़ों परिचयात्मक इतिहास हिन्दी में लिखे गये हैं। शुक्लजी का इतिहास इस क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ है। ये इतिहास इसलिए लिखे गये हैं कि इनकी उपादेयता का अनुभव किया गया होगा, पर इनमें अधिकांश राष्ट्रीय-सम्पत्ति के अपव्यय मात्र हैं। राष्ट्र-भाषा के व्यापक प्रसार को ध्यान में रखते हुए आवश्यकता इस बात की थी कि हिन्दी का ऐसा संक्षिप्त इतिहास लिखा जाय जो अपने में पूर्ण होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से जनता के लिए क्रय-साध्य हो। संप्रति इसी बात को ध्यान में रखकर इसका प्रणयन हुआ है। हिन्दी-साहित्य के आलोचना के क्षेत्र में इतनी सस्ती कृति का प्रकाशन प्रकाशकों की सेवा-वृत्ति के कारण संभव हो सका। इसके लिए सर्वश्री कृष्णचन्द्र बेरी और ओमप्रकाश बेरी धन्यवाद के पात्र हैं।

जहाँ तक इसकी सामग्री का प्रश्न है, ज्ञान लाघव मेरे साथ है। पर हिन्दी के मनीषियों की कृतियों ने उस कमी को पूरा करने में मेरी बड़ी सहायता की है। इसके लिए व्यक्तिगत रूप से उन सभी लेखकों का विशेष रूप से अनुग्रहीत हूँ जिनकी कृतियों से मुझे सहायता और प्रेरणा मिली। सर्वश्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बा० श्यामसुन्दर दास, डा० बड़थ्वाल, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० नगेन्द्र, श्री प्रभुदयाल मित्तल, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि विद्वानों का इस संबंध में विशेष रूप से आभारी हूँ।

वर्त्तमान साहित्यकारों के संबंध में मैंने स्पष्टता एवं निर्भीकतापूर्वक मत व्यक्त किया है। यह कार्य धर्म के नाते मैंने किया है, यद्यपि सभी साहित्यिकों का, जहाँ तक वय और साहित्य रचना का प्रश्न है, मैं आदर करता हूँ। झूठी प्रशंसा से भले ही मेरा उपकार अधिक हो मैं उनका अपकार ही करता। आशा है, यह किसी को बुरा न लगेगा।

इस पुस्तक के निर्माण में सर्वश्री हनुमानप्रसाद शर्मा, स्वामीदयाल सिनहा, विजय, राजेन्द्र, जयशंकर मिश्र आदि जाने-अनजाने सुहृदयों से सहायता मिली है; उनके प्रति भी आभार प्रदर्शित करना अपना धर्म ही है।

पुस्तक में जो त्रुटियाँ या भूलें हैं उनकी ओर ध्यान आकृष्ट करनेवाले मित्रों के प्रति भी मैं अनुग्रहीत होऊँगा, यदि वे निःसंकोच कृपा करने का कष्ट करेंगे।

काशी

२५ फरवरी, ५४ सुधाकर पाण्डेय

अनुसूची

---:०:---

हिन्दी-साहित्य

प्रस्तावना काल

[आठवीं से बारहवीं शताब्दी]

प्रत्येक भाषा का विकास बोली से आरम्भ होता है और बोली जब भावाभिव्यक्ति की क्षमता ग्रहण कर साहित्य की भाषा बनती है तो बाद में बोली के विकास का पता लगाना साहित्य-शास्त्रियों के लिए अत्यन्त-जटिल कार्य हो जाता है । प्रारम्भ में हिन्दी-भाषा का विकास कब, किस भाँति हुआ, उसका बीजारोपण कैसे हुआ, इसका पता लगाना आज एक अत्यन्त दुरूह कार्य है, क्योंकि बोली को साहित्य का रूप धारण करने में सदियों लग जाता है । बोली का साहित्य लिखा भी नहीं गया और जो लिखित साहित्य मिलता भी है वह बाद में लिखा जाने के कारण या मौखिक-परम्परा से प्राप्त होने के कारण अपने पूर्व रूप में नहीं रह पाया । प्राप्त पदों में उस समय की भाषा नहीं मिलती । मूल भाषा में बाद की भाषा बाद में मिल गयी—अब मूल का पता लगाना सम्भव नहीं ।

हिन्दी-साहित्य का आदि काल कब से प्रारम्भ होता है, यह निश्चित रूप से न तो आज तक बताया जा सका, न बताया जा सकता है । क्योंकि जो पुरानी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है । दूसरे इतना अधिक साहित्य या तो विनष्ट हो चुका है या जीर्ण-शीर्ण इधर-उधर वेष्टनों में पड़ा है कि आज तक हिन्दी-साहित्य के आदि समय का निश्चित पता अनेक प्रयत्नों के बाद भी नहीं लगाया जा सका ।

यह तो सर्वसम्मत है कि बौद्धों और जैनों ने अपने धर्म-साहित्य का प्रसार लोक-भाषा में किया था और यह भी निर्विवाद रूप से सत्य माना जाता है कि अपभ्रंश से ही हिन्दी का उद्भव हुआ । इधर साहित्यान्वेषियों ने अनेक ग्रन्थों का पता लगाया है जिनके द्वारा हिन्दी के आदि युग के सम्बन्ध में कुछ नवीन बातों पर प्रकाश पड़ता है । सर्व प्रथम इस सम्बन्ध में जो साहित्य उपलब्ध है, उसपर विचार करना अप्रासंगिक न होगा । इस युग में प्राप्त रचनाओं में दो प्रकार की कृतियाँ मिलती हैं । कुछ तो विशुद्ध साम्प्रदायिक हैं और कुछ सन्धिकालीन लोक-भाषा की रचनाएँ हैं ।

विशेष रूप से जिन भारतीयों ने साहित्य का पता लगाया है उनमें पं० **हरप्रसाद शास्त्री** का नाम सम्मान के साथ लिया जा सकता है । उनका संग्रह सन् १९१६ ई० में बंगला-अक्षरों में **"बौद्ध गान और दोहा"**, जिसमें **सरहापा और कृष्णाचार्य** के दोहे संग्रहीत हैं, प्रकाशित हुआ । इसमें पाठ की अशुद्धियाँ अनेक थीं । इसके पश्चात् **डा० सहीदुल्ला** ने इसके मूल को तिब्बत-अनुवाद से मिलाकर प्रामाणिक संकलन उपस्थित करने का सुन्दर प्रयत्न किया । **"ला चाटस मिसतीक्स कान्ह ऐन्द सरह"** नाम से यह रचना प्रकाशित हुई जिसमें अर्थ भी स्पष्ट किया गया । इस क्षेत्र में **डा० प्रबोध चन्द्र बागची** ने बड़े परिश्रम

से कार्य किया है। उनके द्वारा प्रकाशित की गयी रचनाओं **तिल्लोपादस्य दोहा कोष, सरहपादीय दोहा, सरहपादस्य दोहाकोष, काण्हपादस्य दोहाकोष, सरहपादीय दोहा संग्रह, संकीर्ण दोहा संग्रह का संकलन 'दोहा कोष' में है।** हिंदी में बहुत बड़ा प्रयत्न इधर **पं० राहुल सांकृत्यायन ने** किया। हाल में ही उनका **काव्यधारा** नाम से आठवीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक की जैन, चारण और सिद्ध कवियों की रचनाओं का संग्रह प्रकाशित हुआ है। **राहुल जी ने** सिद्ध कवियों की रचनाओं का रूपान्तर भी दे दिया है। सन् १९५३ में **श्री वियोगी हरि** द्वारा संपादित **संत-सुधा-सार** का प्रकाशन हुआ। इस ग्रंथ में संतों की वाणियों का संग्रह है, जिसका मूलभूत उद्देश्य साहित्यिक न होकर आध्यात्मिक जीवन को शांति प्रदान करना है। इन व्यक्तियों के प्रयत्न से हिन्दी कविता के आदि काल पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

सिद्धों और नाथों का साहित्य

नाथ पंथ के नाम से जिस पंथ का प्रवर्तन **गोरखनाथ** ने तथा **मत्स्येन्द्र नाथ** ने किया सिद्धों द्वारा उस पंथ का उद्भव संवत् ७९७ में माना जाता है। ८४ सिद्धों का समय संवत् ७९७ से सं० १२५७ तक है। इन्हींके द्वारा संत-साहित्य की मूल शाखा, **जो कबीर** आदि द्वारा बाद में पल्लवित की गयी, उद्भूत हुई। **कबीर ग्रन्थावली** का यह दोहा इस बात का प्रमाण है :—

धरती अरु असमान बिचि दोई तू बड़ा अबध ।
षट दर्शन शसे षड्या अरु चौरासी सिद्ध ॥

सिद्धों की कविता जन भाषा में थी। उनमें उनके मत-प्रचार सम्बन्धी तथा उनकी साधना सम्बन्धी रचनाएँ हैं। उनमें साहित्यिक तत्व नहीं के बराबर हैं। सिद्धों की भाषा भी अनक रूपों में मिलती है। इससे यह बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि ५०० वर्षों के साहित्य में जन-भाषा का अनेक रूप हुआ जो स्वाभाविक ही था। **राहुल जी ने 'तरे-ग्रां' मठ में** छपी प्रति के आधार पर सिद्धों का विवरण, तिब्बत के ५ प्रधान गुरुओं की ग्रन्थावली **'सस्क्य क्कंवुम'** के आधार पर **गंगा क पुरातत्वांक** तथा **पुरातत्वनिबंधावली** में दिया है।

सरहापा का नाम इन ८४ सिद्धों में प्रथम सिद्ध के रूप में लिया जाता है। इनके आविर्भाव काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। **डा० विनयतोष भट्टाचार्य** इनका आविर्भाव काल सं० ८९० मानते हैं। **डा० रामकुमार वर्मा राहुल जी के 'पुरातत्व निबन्धावली'** के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **सरहापा** ७९७ से सं० ८२६ तक अर्थात् इन तीस वर्षों के आसपास अवश्य वर्तमान रहे होंगे। ये बज्रयान सम्प्रदाय के विशेषज्ञ ब्राह्मण भिक्षु थे तथा नालन्दा में रहते थे। इनकी रचनाएँ सहज-संयम, पाखंड-आडम्बर-भर्त्सना, जातिपाँति, ऊँच-नीच-भेद, गुरु-सेवा, सहजमार्ग, महासुख की प्राप्ति आदि के सम्बन्ध में है। इनका साहित्यिक मूल्य नहीं के बराबर है। इनकी रचना का एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है।

घोरान्धारें चन्दमणि जिम उज्जोअ करेइ ।
परम महासुख एक्कु खणे, दुरि आसेस हरेइ ॥

श्री अद्वयवज्र की संस्कृत-पंजिका सरहपाद के दोहा-कोष पर खोज में मिली है, उसका प्रकाशन दी जर्नल आफ दी डिपार्टमेण्ट आव् लेटर्स (खंड २८) में हुआ है। (संत सुधा-सार पर आधृत।)

अन्य सिद्ध कवियों में भसुकि पा, लुइपा, निसपा, डोम्बिप्पा, दारिकपा, गुडंरिपा कुकुरि पा, कमरि पा, कण्हपा, गोरक्षपा, तिलोपा, शान्तिपा, तन्तिया, महिया, भदेया, धर्मपा आदि का नाम लिया जाता है।

नाथ-साहित्य

८४ सिद्धों में गोरक्षपा का नाम भी लिया जाता है। यह सिद्धों में अत्यन्त तेजस्वी सिद्ध हुए और इन्होंने स्वयं अपना मार्ग चलाया। सिद्धों के द्वारा प्रवर्तित मार्ग से अनेक अर्थों में इनका सम्प्रदाय अलग था। ये अपने समय के अत्यन्त प्रभावशाली धार्मिक नेता थे। इन्होंने हठ योग का प्रचार उन क्षेत्रों में किया जिन क्षेत्रों में वज्रयानी सिद्धों की वीभत्स लीला व्याप्त नहीं थी। वज्रयानियों का प्रभाव क्षेत्र पूरबी भारत था और इन्होंने पश्चिमी भारत को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। पंडित राहुल उनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी मानते हैं। गोरखनाथ के शिष्य ज्ञानदेव ने, जो सं० १३५८ में वर्तमान थे, अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार बतायी है, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गनीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर। इसी आधार पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृथ्वीराज के समय के आसपास ही गोरखनाथ का समय मानते हैं। 'पृथ्वीराज के समय के आसपास ही विशेषतः कुछ पीछे--गोरखनाथ के होने का अनुमान दृढ़ होता है।" आचार्य अभिनव गुप्त ने, जो दशवीं शती में हुए थे, अपने तन्त्रलोक में मच्छन्द बिभु की वन्दना की है। मच्छन्द बिभु या मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ थे। इस आधार पर तथा तिब्बती परम्परा से प्राप्त तथ्य को मिलाकर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मत्स्येन्द्र-नाथ का समय नवीं शताब्दी के आसपास माना है। डा० शहीदुल्ला आठवीं शताब्दी और डा० फरकुहर उनका समय बारहवीं शताब्दी मानते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों के आधार पर इनका समय विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी ठहरता है। डा० बड़थ्वाल और बाबू श्यामसुन्दर दास इनका समय ११वीं शताब्दी का मध्य मानते हैं।

गोरखनाथ के हठ योग की साधना में एकेश्वरवाद होने के कारण यह मत मुसलमानों के लिए भी आकर्षक बना क्योंकि इसमें मूर्ति-पूजा और देवोपासना की व्यवस्था नहीं थी। साथ ही पंडितों द्वारा पोषित धर्म के बाह्याडम्बर की भर्त्सना भी की जाती थी। साधना इनका आदर्श था। बौद्धों से भी ये प्रभावित थे। नाद और बिंदु इनकी साधना के अंग थे। इनके धर्म में पारित अधिकतर शुद्र कही जानेवाली जातियाँ थीं। क्योंकि उनके लिए इस मत में बहुत अधिक आकर्षण था। बुद्धि के विकास की दृष्टि से भी स्वल्प बुद्धि के लोग ही इस सम्प्रदाय में आये। आज भी नाथपंथी साधु गेरुआ वस्त्र पहन इधर-उधर राजा भर्तृहरि और गोपीचंद के गीत गाते घूमते हैं। यद्यपि नाथ सम्प्रदाय में जो कुछ भी साहित्य निर्मित हुआ वह विशुद्ध साम्प्रदायिक है, तो भी भाषा की दृष्टि से तथा हिन्दी साहित्य के संत परम्परा को प्रभावित करने की भावना के कारण उसका

महत्व है । **गोरखनाथ** की अनेक पुस्तकें संस्कृत में मिलती हैं जो साम्प्रदायिक ग्रंथ हैं । **डा० बड़थ्वाल ने** इनके पुस्तकों की संख्या ४० बतायी है :—

१. शब्द, २. पद, ३. सिष्यादरसन, ४. प्राण संकली, ५. नरवैबोध, ६. आत्म बोध ७. अभययात्रा योग, ८. पंद्रहतिथि, ९. सप्तवार, १०. मछिन्द्रगोरख बोध, ११. रोमाली १२. ज्ञानतिलक, १३. ज्ञान चौतीसा. १४. पंचमात्रा, १५. गोरख-गणेश–गोष्ठी, १६. गोरख दत्त गोष्ठी, (ज्ञानदीप बोध), १७. महादेव गोरख गोष्ठी, १८. शिष्ट पुरान, १९. दया बोध, २०. जातिभंवरावली, २१. नवग्रह, २२. नवराशि, २३. अष्टपारक्षय २४. रणसंह, २५. ज्ञानमाला, २६. आत्मबोध, (२), २७. व्रत, २८. निरंजनपुरान, २९. गोरखबचन, ३०. इन्द्रिय देवता, ३१. मूल गर्भावली, ३२. वाणी, ३३. गोरखसंत, ३४. अष्टमुद्रा, ३५. चौबीस सिद्धि, ३६. षडक्षरी, ३७. पंचअग्नि, ३८. अष्टचक्र, ३९. अवह्लि सिलक, ४०. काफिर बोध ।

इनकी जो रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है । उन्होंने लोकभाषा म भी साहित्य की रचना की है। उनके कहे जानेवाले हिन्दी ग्रंथों के नाम हैं— **सबदी, पद, अभैमात्रा जोग, सिष्यादरसन, प्राणसंकली, आत्मबोध, मछीन्द्रगोरख बोध, जाती भौरावली, गोरख गणेश-संवाद, गोरखदत्त संवाद, सिद्धांत जोग, ज्ञान तिलक कैथड़ा बोध ।**

सबदी को कुछ लोग उनकी अत्यन्त प्रामाणिक रचना बतलाते हैं, पर उस सम्बन्ध में भी अधिक अधिकारपूर्वक नहीं कहा जा सकता ।

इनकी भाषा में राजस्थानी, गुजराती, तथा खड़ी बोली का अत्यन्त प्राचीन रूप दिखायी पड़ता है । साथ ही इनके साहित्य ने वाद के निर्गुण साधकों को बहुत कुछ प्रभावित किया है, इसलिये इसका हिन्दी–साहित्य में महत्व है । **गोरखनाथ** की एक रचना का नमूना यहां दिया जा रहा है :—

स्वामी तुम्हइ गर गोसाईं ।
अम्हे जो सिष सबद एक बूझिबां ।।
निरारंबे चेला कण बिधि रहै ।
सतगुरु हाई स पुछया कहै ।।

अवधू रहियो हाटे बाटे रूप विरज सी छाया ।
तजिबा काम क्रोध लोभ मोह संसार की माया ।।

गोरखनाथ हिन्दी म आदि गद्य के प्रवर्तक भी माने जाते हैं ।

मछेन्दर नाथ जो असम के मछुए कहे जाते हैं, इनके गुरु थे । उनका लिखा हुआ एक पद बताया जाता है जो सन्देहास्पद है । उसकी कुछ पंक्तियां यहां दी जाती हैं।

जब गोविंद कृपा करे तब मनवौ समझे नाहि ।।
जल कूँ चाहै माछिली घन कूँ चाहै मोर ।।
यूँ हरिजन चाहै राम कूँ चितवत चंद चकोर ।।

जालन्धर, कणेरी आदि भी गोरखनाथ के सम्प्रदाय के साधक बताये जाते हैं। इनकी रचनाओं का प्रभाव भक्तियुगीन निर्गुण कवियों पर पड़ा। संत-मत के अध्ययन के लिए इन रचनाओं का अध्ययन आवश्यक है। इनकी रचनाओं में हिन्दी स्पष्ट रूप से आँख खोलती जान पड़ती है।

बौद्ध धर्म में विकार आने पर वज्रयान सम्प्रदाय अत्यन्त विकृत हो उठा था। धर्म की आड़ में सुरा और सुन्दरी का उपभोग उस धर्म के कर्णधार खुलेआम कर रहे थे, जिस धर्म में आत्मविकास की साधना के सबसे बड़े विरोधी तत्व सुरा और सुन्दरी समझे गये थे। यद्यपि तन्त्र प्रधान हठयोग की पद्धति का अनुसरण करनेवाले सिद्ध सुरा और सुन्दरी से दूर रहे, सदाचार की मर्यादा का पालन करते रहे, प्रकृति के नियमों के अनुसार समाज को जीवन-यापन करने की मन्त्रणा देते रहे, तो भी उनका मार्ग संकट से मुक्त नहीं था, क्योंकि कुछ सिद्ध स्पष्ट रूप से यह सलाह देते हुए पाये जाते हैं कि विकार नष्ट करने का सहज उपाय यह है कि विकार में आदमी इस भाँति तल्लीन हो जाय कि उसे स्वयं विकृति के प्रभाव का बोध होने लगे। सिद्ध-साधना में महासुख या शून्य तत्व साधक का सबसे बड़ा ध्येय ठहराया गया सहज संयम उसकी प्राप्ति का मार्ग था और गुरु उपदेश उस मार्ग पर प्रकाश की किरणें थीं।

ऊपर निवेदन किया जा चुका है कि इन्हें साहित्य की सीमा के अन्तर्गत मानना साहित्य की मर्यादा का अतिक्रमण करना है। किन्तु भाषा की दृष्टि से इनका निश्चय ही महत्व है। इनके भीतर हिन्दी के विकास की कहानी इतस्ततः अपनी आंखें खोलती दिखायी पड़ती है। प्रायः सिद्ध नालन्दा और विक्रमशिला में ही रहते थे। अतएव उनकी भाषा में उक्त क्षेत्र की जन-बोली मगही का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है। कुछ विद्वानों ने उसे सन्ध्या-भाषा की भी संज्ञा दी है। यह नाम से भले ही भिन्न हो, अर्द्ध मागधी अपभ्रंश ही है। डा० **रामकुमार वर्मा** का यह मत अत्यन्त समीचीन लगता है **"सन्ध्या भाषा का सीधा साधा अर्थ यही है कि वह भाषा जो अपभ्रंश के सन्ध्या काल या समाप्त होनेवाले काल में लिखी गयीं।" (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।)** इनकी रचनाओं में शान्त और शृंगार रस की प्रधानता है। हिंदी की इन रचनाओं को भी साहित्यिक रचना ठहराया जाता है तो अर्थशास्त्र की पुस्तकों में भी अनेक स्थलों पर अनेक रस मिल सकता है—हास्य से लेकर रौद्र तक। लेकिन वे रचनाएँ यदि साहित्यिक नहीं हैं तो इन्हें साहित्यिक न मानने से हिन्दी की कोई बहुत बड़ी हानि नहीं होगी। लेकिन साहित्य में इनका अध्ययन इस दृष्टि से अपेक्षित है कि बाद के साहित्य को न केवल बाह्याकार की दृष्टि से अपितु अन्तस्तत्वों द्वारा भी इन्होंने प्रभावित किया है। इनका सबसे बड़ा योग बाह्याकार के सम्बन्ध में छन्दों का है। दोहा, चौपाई, चर्या गीतों मे इन्होंने रचनाएँ कीं। सोरठा और छप्पय के दर्शन भी कहीं-कहीं इनकी रचनाओं में हो जाते हैं। इनके गीत जनता में मत के प्रचार के लिए रचे जाते थे। संगीत-तत्व की प्रधानता से आकर्षण बढ़ जाता है। इनके गीतों म संगीत का तत्व भी मिलता है। बाद में इन छन्दों में हिन्दी में रचनाएँ की गयीं। इस दृष्टि से हिन्दी इनकी उपकृता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता

है कि सिद्ध साहित्य का महत्व साहित्यिक दृष्टि से उसके रचना-विधान के कारण, भाषा की दृष्टि से तथा परवर्ती साहित्य विशेष कर संत-साहित्य पर पड़नेवाले प्रभाव के कारण है।

जैन-साहित्य

बौद्ध धर्म के अभ्युदय के बाद ही जैन धर्म क्षीण होने लगा था और एक समय तो ऐसा आया जब सर्वत्र ही जैन धर्म का ह्रास दिखायी पड़ा। पर भारत में वह इस भांति जमा कि आज भी जब बौद्ध धर्म भारत में विलुप्त प्राय है, जैनियों की बहुत बड़ी संख्या यहां निवास करती है। बौद्ध धर्म के पतित हो जाने पर भी इसका व्यापक प्रभाव समाज के कुछ वर्गों पर जमा रहा। यह धर्म बौद्ध धर्म की अपेक्षा हिन्दू धर्म से अधिक मेल खाता है। इनका परमात्मा चित् और आनन्द का अजस्र स्रोत है। उसका संसार से कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो परम आत्मा है। जीव भी अपने पौरुष से इस पद की प्राप्ति कर सकता है। यही परम पद जीवन का चरम साध्य भी है।

महाबीर के बाद ही जैन धर्म में विग्रह प्रारंभ हुआ और भद्रबाहु ने दिगम्बर तथा स्थूलभद्र ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय की स्थापना की। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैनी श्वेत वस्त्र धारण करते हैं तथा दिगम्बर सम्प्रदाय वाले आत्मसंयम तथा साधना पर आस्था रखते हैं। ४५४ ई० में **देवर्षि गण ने** समस्त जन साहित्य का आलेखन कराया। यह कार्य प्राकृत भाषा में हुआ। बाद में जैन सम्प्रदाय के साहित्य का सर्जन जन-भाषा अपभ्रंश में होने लगा। अधिकांश दिगम्बर सम्प्रदाय का साहित्य अपभ्रंश में लिखा गया जो हिन्दी के अत्यधिक निकट है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इस साहित्य का अत्यन्त महत्व है। जैन कवियों में सर्वप्रथम **स्वयंभूदेव** का नाम लिया जाता है।

स्वयंभूदेव न केवल व्याकरण और छन्द-शास्त्र के ज्ञाता थे अपितु एक साहित्यिक भी थे। **स्वयंभूदेव** के निम्नलिखित चार ग्रन्थों की चर्चा की जाती है :—

(१) पउम चरिउ : या पद्म-चरित्र——जैन रामायण।

(२) रिट्ठिमि चरिउ : या अरिष्टनेमि चरित, हरिवंश पुराण।

(३) पंचमि चरिउ : या नाग कुमार चरित।

(४) स्वयंभू छन्द।

रावण की मृत्यु पर मन्दोदरी द्वारा किया गया विलाप इनकी रचना का एक अच्छा उदाहरण है, जिसका अंश यहाँ दिया जाता है।

आएहिं सोआरियहिं अट्ठारह हिव जवइ सहासेहिं।
णव घण माला डंबरेहिद्र छाइउ बिज्जु जमे चउपासेहिं॥
रोवेइ लंकापुर परमेसरि।
हा रावण! तिहुंचण जण केसरि॥
पइ विण समर तूरुकहों बज्जई।
पइ विणु बालकील कहो छज्जई॥
पइ विण णवगह एक्कीकरणउ।
को परिहेसइ कंठाहरणउ॥

इधर डा० हीरालाल जैन, मुनिजिन विजय, नाथूराम प्रेमी आदि ने पर्याप्त जैन ग्रंथों की खोज की है। आचार्य देवचन्द्र सूरि विक्रमी सं० ९१० में वर्तमान थे। इन्होंने अनेक जैन ग्रन्थों का प्रणयन किया। नयचक्र (लघु) इनका लिखा हुआ है। इनके शिष्य माइल्लधवल ने बृहत नयचक्र की रचना की। नयचक्र के अतिरिक्त देवचन्द्र के ग्रन्थों के नाम हैं दर्शनसार, भाव संग्रह, आराधना सार और तत्व सार। इनकी भाषा हिन्दी के अत्यन्त निकट की है। उदाहरण स्वरूप नीचे उनकी एक रचना दी जा रही है :—

काइं बहुत्तइं संपयइं जइ किविणहँ घरि होइ।
उवहि णीरन खार भरिउ पाणिउ पियइ ण कोइ॥

कवि पुष्पदन्त जैन साहित्य के महाकवि माने जाते हैं। यह शैव परिवार में उत्पन्न हुए थे और बाद में इनका परिवार जैन धर्मावलम्बी हो गया था। इनके पिता का नाम केशव भट्ट तथा मां का नाम मुग्धा था। ये अत्यन्त आत्माभिमानी तथा टीम-टाम वाले कवि थे। इन्हें अपनी कविता पर स्वयं गर्व था। इन्होंने अपने को अभिमान में काव्य-रत्नाकर आदि उपाधियों से विभूषित किया था। ये अत्यन्त मस्त जीव थे, साथ ही दुबले-पतले, कुरुप और निर्धन भी। राष्ट्र-कूट वंश के महाराज कृष्णराज तृतीय के प्रधान मन्त्री और उनके पुत्र के आश्रय में रहते थे। इनके ग्रन्थों के नाम हैं तिसट्ठि-महापुरिस गुणालंकारु, त्रिषष्ठि महापुरुष गुणालंकार, णाय कुमार चरिउ, नाग कुमार चरित, जसहंर चरिउ, यशोधर चरित और कोश ग्रन्थ। इन्होंने खंड काव्य और प्रबन्ध काव्य तो लिखा ही, ये विद्वान तथा पंडित भी थे। इन्होंने अलंकारों का अत्यंत सुन्दर निरूपण किया है। कुछ लोगों का ऐसा भ्रम है कि शिव सिंह सेंगर द्वारा उल्लिखित हिन्दी के प्रथम कवि पुष्प ये ही हैं। पर उक्त पुष्प की कोई भी रचना आज तक उपलब्ध नहीं है। इन्होंने कवि के रूप में अत्यन्त सफलता प्राप्त की। इनकी एक रचना का अंश उदाहरण स्वरूप नीचे दिया जा रहा है।

संध्या वर्णन

अत्थमिइ दिणेसरि जिइ सउणा।
तिह पंथिय थिय माणिय सउणा।
जिह फुरियउ दीवय दिस्तियउ।
तिह कंहाहरणह दिस्तियउ।
जिह संझा राएं रंजियउ।
तिह वेसा राएं रंजियउ।
जिह भवणल्लउ संतातियउ।
जिह दिसि दिसि तिमिरइं मिलियाई।
तिह दिसि दिसि जारइ मिलियाइं।
जिह रयणिहिं कमलइं मउलियाइं॥
तिह विरहिणी वयणइं मउलियाइं॥

तिसट्ठि महापुरिष गणालंकारु—(महापुराण)

मुनिरामसिंह, जिनका आविर्भाव काल डा० हीरालाल ने संवत् १०५७ के लगभग माना है, जैन मत से प्रभावित रहस्यवाद के कवि थे। इनका **पाहण दोहा** नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। सिद्धों के काव्य से यह प्रभावित लगते हैं। इनका एक दोहा यहां दिया जा रहा है।

मुंडिय मुंडिय मुंडिया सिर मुंडिय चित्तुण मुंयिउ।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ संसारहंखंडणुंति कियउ।

अभयदेव सूरि (संवत् १०७२ से ११३५) जैन साहित्य के प्रमुख टीकाकार कवि थे। **कनकदेव मुनि** ने संवत् १११७ **सुदंसण चरिउ** नामक प्रेमाख्यान जैन धर्म के प्रचार के लिए लिखा। **जोगचंद्र मुनि** ने **जोगसार** नामक एक ग्रंथ लिखा। भाषा के विकास की दृष्टि से इसका बहुत महत्व है। उनका एक सोरठा यहां दिया जा रहा है।

जीवा जीवह भेउ जो जाणइ जो जाणयउ।
मोख्खइ कारण एउं भणइ जो यहि भणिउ॥

हेमचंद—गुजरात के सोलंकी राजा **सिद्धराज जयसिंह** और उनके भतीजे **कुमारपाल** के श्रद्धास्पद थे। इनका रचना-काल संवत् १२१६ से १२२९ है। प्रतिष्ठा की दृष्टि से इनकी टक्कर का दूसरा आचार्य जैनियों में नहीं हुआ। ये संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पंडित थे। हिंदी साहित्य इनका बहुत ऋणी है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों, विशेष कर अपभ्रंश के कवियों की साहित्यिक रचनाओं का अपने बृहद् व्याकरण ग्रंथ **"सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन"** में उदाहरण दिया है, इससे हेमचंद्र के पूर्ववर्ती साहित्य की एक झांकी मिल जाती है। **कुमारपाल चरित नामक ग्रंथ** में इन्होंने **कुमारपाल** का जीवन चरित्र आठ सर्गों में लिखा है। इनकी रचना का उदाहरण यहां दिया जा रहा है।

भल्ला हुआ जु मारिया वहिणि म्हारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु॥
पिय संगमि कउ निद्दणी पियहो परख्ख होकेंव।
मंह विन्निव विन्नासिया निद्द न एंव नतेंव॥

सोमप्रभ सूरि—अन्हिलवाण गुजरात के रहनेवाले जैन पंडित थे। **कुमारपाल प्रतिबोध** नामक एक ग्रंथ की, गद्य-पद्य मिश्रित संस्कृत और प्राकृत ोनों का उपयोग करते हुए, इन्होंने रचना की, जिसमें **हेमचंद्र** द्वारा **कुमारपाल** को उपदेश के रूप में दी गयी कथाएँ संग्रहीत हैं। प्रायः प्राकृत में होने पर भी बीच-बीच में संस्कृत श्लोक और अपभ्रंश के दोहे उदाहरण के रूप में इन्होंने प्रस्तुत किये हैं जिनमें कुछ तो पूर्ववर्ती कवियों के हैं और कुछ स्वयं के रचे हैं। उस पुस्तक में से अपभ्रंश के दो दोहे यहां दिये जा रहे हैं।

वसइ कमलि कल हंसी जीव दया जसू चित्ति।
तसु पख्खालण जलिण हासइ असिव निवित्ति॥
वेस विसिट्ठह वरियइ जइवि भरोहण जत्त।
गंगा जल पख्खालियवि सुणिहि कि होइ पारवत्त॥

जिन पद्म सूरि और **विनय चंद्र सूरि** जो १२५७ के लगभग उत्पन्न माने जाते हैं और

धर्मसूरि और विजयसिंह सूरि जिनका आविर्भाव काल क्रमशः संवत् १२६६ और १२८८ माना जाता है, प्रसिद्ध जैनी कवि माने जाते हैं।

मेरुतुंग नाम के जैनी आचार्य ने संवत् १३६८ में **प्रबंध चिंतामणि** नामक कथात्मक चरित्र ग्रंथ का निर्माण संस्कृत में किया। इन्होंने **सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल हेमचन्द्र, वस्तुपाल, तेजपाल** आदि के वृत्त बड़ी सावधानी से लिखे, जिसमें इन्होंने बीच-बीच में अपभ्रंश के पदों को भी उद्धृत किया है। ये पद्य बड़े प्राचीन हैं। **राजा भोज** के चाचा **मुंज** के नाम के कुछ दोहे इसमें संग्रहीत हैं जिसमें साहित्य की छटा तथा पूर्ववर्ती भाषा का रूप स्पष्ट दिखायी देता है। इस ग्रन्थ से **मुंज** की रचना का उदाहरण यहां उद्धृत किया जाता है।

मुंज भड़इ मुणाल वइ जुव्वण गयुं नझूरि ।
जइ सक्कर रापखंड थिय लो इरु मीठी चोरि ।।
जामति पच्छइ सम्पजइ सामति पहिलीं होइ ।
मुंज भड़इ मुणालवइ विघन न बेढ़इ कोह ।।

जैन कवियों की यह परंपरा बाद में भी चलती रही और वे बराबर अपने धर्म के प्रसार के लिए कार्य करते रहे।

ऊपर के तथ्यों से यह बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि आध्यात्मिक-साम्प्रदायिक साहित्य का निर्माण इस युग में अत्यधिक परिमाण में हुआ जिसके भीतर हिन्दी भाषाविदों के लिए अमूल्य संपत्ति संरक्षित है। सिद्धों और नाथों की अपेक्षा अध्यात्म के क्षेत्र में कविता को आधार बना कर अपने सम्प्रदाय की श्री वृद्धि करनेवाले जैन आचार्यों की रचनाओं में काव्य की छटा का दर्शन अधिक मात्रा में होता है, क्योंकि उन्होंने केवल अपने तीर्थंकरों की जीवन गाथा प्रस्तुत की, अपितु लौकिक प्रेम कथाओं का भी निर्माण किया। **राम का चरित्र (पउम चरित्र)** गान भी किया। नीति सम्बन्धी रचनाएँ भी लिखीं। यद्यपि यह सब इसलिए किया गया कि जैन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा जनमन में उसकी सार्थकता का बोध करा, व्यापक रूप से की जा सके। ऐसे विषय प्रतिपादित करने में निश्चय ही इधर-उधर काव्य की छटा साहित्यिक पैमाने पर आ ही जाती है पर इन सबसे बड़ी उनकी देन यह है कि अपनी रचनाओं के मध्य उदाहरण के रूप में उन्होंने अपभ्रंश में रची जानेवाली दूसरे कवियों की रचनाएँ भी दीं जिससे तात्कालिक काव्यधारा के सम्बन्ध में हल्का आभास मिलता है। यह बहुत बड़ी देन है।

काव्य के बाह्ययाकार के रूप में भी इन लोगों के प्रयोग में लाये गये छंदों का उपयोग बाद के साहित्य में व्यापक रूप से किया गया। दोहा और चौपाई पद्धति पर सिद्धों ने व्यापक परिमाण में रचना की। सोरठा आदि का उदाहरण कवियों के विवेचन के समय प्रस्तुत किया गया। यह दोहा, चौपाई पद्धति उसके बाद आज तक '(कृष्णायन में) बराबर चरित गान के लिए अपनायी गयी है। गीत की शैली भी इन्होंने अपनायी। "पद्धरि" और हरिगीतिका छंदों का भी प्रयोग इन कवियों ने किया। हिन्दी गद्य के निर्माण का आरम्भ भी इसी युग से माना जाता है। इन सभी दृष्टियों से यदि देखा जाय

तो हिन्दी का यह प्रस्तावना काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है विशेष कर भाषा—विकास की दृष्टि से।

सम्प्रदाय-मुक्त-साहित्य

रहमान, जल्लर और खुसरो

जीवन के लौकिक पक्ष की अभिव्यंजना नारी का शृंगारयुक्त चित्रण, ऋतुओं का वर्णन आदि भी इन कवियों ने किया किन्तु उनका ध्येय इस वर्णन में लौकिक जीवन में निस्सारता का प्रसार कर, अलौकिक अध्यात्म-पक्ष के प्रबल स्थापन द्वारा लोगों को अपने सम्प्रदाय की ओर उन्मुख करना था। पर इस समय का सभी साहित्य इस घेरे में न घिरा रहा होगा क्योंकि सदैव ऐसे साहित्य का निर्माण होता रहता है जो उन्मुक्त वातावरण में लिखा जाता है। ऐसे निर्माण का आधार साहित्यिक मर्यादा का पालन, रागात्मक सम्बन्ध की प्रतिष्ठा, स्वान्तः सुख या मनोरंजन में से कुछ भी हो सकता है।

इस युग के ऐसे साहित्य पर दृष्टि डालने से लौकिक शृंगार प्रधान तथा चमत्कार-कौतूहल और मनोरंजन प्रधान रचनाओ का दर्शन होता है। इन रचनाओं में लौकिक दृष्टि व्यापक रूप से दिखलायी पड़ती है। इस दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है। लोक जीवन में आस्था की भावना बनाये रखने में इनका योगदान था। ऐसे अनेक कवियों के होने की संभावना सहज ही की जा सकती है पर अभी तक **अब्दुर्रहमान, जल्लर और खुसरो** की रचनाएँ ही सामने आ सकी हैं।

अब्दुर्रहमान मुलतान के जुलाहा थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १३६७ बताया जाता है। भारतीय आदर्शोंसे अनुप्राणित हिंदू संस्कारों के प्रति श्रद्धानत यह प्रौढ़ कवि अपने "सनेह.रासय" (सन्देश-रासक) के लिए प्रसिद्ध है। ऋतुओं का सहारा लेकर कवि ने वियोगनियों का संदेश अत्यंत मनोहर ढंग से प्रिय के पास भेजवाया है। इस कवि की एकमात्र प्राप्त रचना अपूर्ण ही है। इनकी रचना से उदाहरण दिया जा रहा है।

कहबि इय गाह पंथिय ! मनाएबि पिउ ।
दोहा पंच कहिजासु, गुरु विणएणसंउ ।।
पिअ बिरहानल संत विउ, जइ वच्चइसुरसोई ।
तुअ छड्डिवि हिय अट्ठियह, तं पखाडि णहाई ।।

(आलोचनात्मक इतिहासः)

जल्लर की स्फुट रचनाएँ मात्र प्राप्त हुई हैं। यह दरबारी कवि थे तथा **राजा कर्ण कर्णघुरी** के आश्रित औंर जबलपुर के निवासी बताये जाते हैं। इन्होंने शृंगार की प्रौढ़ रचनाएँ की हैं। उदाहरण के रूप में एक अंश यहां दिया जा रहा है :

रे धणि ! मत्त मअंगण यामिणी खंजन लाअणि चंद्र मुहीं ।
चंचल जोव्वण जातण न जानहि छइल सम्पहि काइणहीं ।।

खुसरो—खुसरो की गणना हिन्दी के उन कवियों में की जाती है जिन्होंने रूढ़ि से अलग हटकर अपने आंखों से लोकजीवन का दर्शन कर, नयी भावना से अनुप्राणित हो,

काव्य का सर्जन किया। ये फारसी के विद्वान्, लेखक तथा जनप्रिय कवि थे। शुक्ल जी ने इनके रचना काल का आरंभ संवत् १३४० के आसपास माना है। ये स्वभाव से सहृदय, विनोद-प्रिय और जन-जीवन में रस लेनेवाले व्यक्ति थे। जनता में प्रचलित काव्य परिपाटी को इन्होंने अपनाया। ये हिन्दी में अपनी पहेलियों तथा मुकुरियों के कारण प्रसिद्ध हैं। इनके लिखे कुछ गीत और दोहे भी पाये जाते हैं। इनकी भाषा दो प्रकार की है। पहेलियों,मुकरियों में ठेठ खड़ी बोली,जिसमें कहीं-कहीं हल्की ब्रजभाषा का मिश्रण भी है,तथा गीत आदि उन्होंने ब्रजभाषामें लिखे हैं।यद्यपिखुसरो की पहेलियोंआदि में बहुत-से प्रक्षिप्त अंश भी जोड़ दिये गये हैं तथा परम्परा से लोगों द्वारा कहे सुने जाने के कारण उनमें कुछ मिलावट या भाषा का रूप परिवर्तिन भी हो गया है, तो भी उनकी रचनाओ में तत्कालीन खड़ी बोली का वह रूप स्पष्ट दिखायी पड़ता है जो उनके समय की बोल-चाल की भाषा का था। खुसरो की सबसे बड़ी देन भाषा के सम्बन्ध में है। उन्होंने खड़ी बोली का आदि रूप अपनी रचनाओं में गृहीत किया है। यह एक महान् कार्य उनके द्वारा सम्पन्न हुआ। उनकी रचनाएँ सदियों से लोगों का मनोरंजन करती चली आ रही हैं। उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं।

एक थाल मोती से भरा। सबके सिर औंधा धरा॥
चारो ओर वह थाली फिरे। मोती उसके एक न गिरे॥
:आकाश:

एक नार ने अचरज किया। सांप मारि पिंजड़े में दिया॥
ज्यों ज्यों सांप ताल को खाए। सूखे ताल सांप मर जाए॥
:दिया बत्ती:

उज्जल वरन अधीन तन, एक चित्त दो ध्यान।
देखे में तो साधु है निपट पाप की खान॥
खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग।
तन मेरो मन पिउ को दोउ भए एक रंग॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

—:०:—

संधि-काल

विद्यापति

[युग-संधि के कवि]

इस युग के सर्वाधिक प्राणवान एवं जनप्रिय कवि **विद्यापति** हैं । इनके गीत सैकड़ों वर्ष से गाये जाते हैं । आज भी बिहार में इनकी नचारियां आस्थापूर्वक गायी जाती हैं । इनकी रचनाएँ अत्यन्त श्रृंगारिक, भावप्रवण तथा हृदय को मुग्ध करने वाली हैं । तिरहुत प्रदेश के विसपी (दरभंगा) जिले के जरैइल परगने के एक गांव में इनका जन्म हुआ था । इनके जीवन-वृत्त के बारे में विद्वानों में मतभेद है । इस संबंध में अनेक अप्रामाणिक, अर्ध-प्रामाणिक तथ्यों द्वारा विविध बातें कहीं गयी हैं । जिस गांव में ये उत्पन्न हुए थे, वह गांव **राजा शिवसिंह** से, जो इनके अन्तरंग मित्रों में थे, दान स्वरूप मिला था तथा इन्हें उनके द्वारा **'अभिनव जयदेव'** की सम्मानित उपाधि भी मिली थी । प्रान्तीयता की रागभरी भावनाओं से पीड़ित कुछ विद्वानों ने उनकी जन्मभूमि बंगाल सिद्ध करने का प्रयत्न किया है तथा उन्हें बंगला का कवि बतलाया है, पर अब प्राय: सभी गंभीर विद्वान् इस सत्य के सम्वन्ध में एकमत हैं कि विद्यापति मैथिली एवं अवहट्ट (अपभ्रंश) के कवि हैं । उनकी रचनाओं का अध्ययन और मनन करने पर तथा उनकी भाषाको कसौटी पर कसने पर रंच मात्र भी संदेह इस बात में नहीं रह जाता कि वे हिन्दी के थे, हैं और रहेंगे ।

कहा जाता है कि पंचदेव के उपासक अत्यंत प्रतिष्ठित विद्वान मैथिल ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ था । ये स्वयं शैव थे । इनके पिता का नाम **गणपति ठाकुर** तथा मां का नाम **हंसिनी देवी** था । इनके पिता **राजा गणेश्वर** के दरबार के सभापंडित थे तथा ये स्वयं उनकी परम्परा के उस राज दरबार में वाहक हुए । विद्यापति संस्कृत, अपभ्रंश, देशीभाषा, फारसी तथा मैथिली के मर्मज्ञ थे । वे नृत्य के साथ-साथ संगीत कला से भी परिचित थे । यद्यपि विद्यापति के तेरह,––चौदह ग्रंथ बताए जाते हैं,तो भी उनकी ख्याति सर्वाधिक श्रृगार रसपूर्ण पदों के कारण है । इन्होंने नीति, उपदेश, कर्मकाण्ड तथा आश्रयदाताओं से सम्बन्धित रचनाएँ की हैं । इनकी पदावली मैथिली हिन्दी में है। समय-समय पर लिख गये इन पदों ने बिहार, बंगाल,आसाम, उड़ीसा के वैष्णव भक्तों को न केवल अनुप्राणित मात्र किया अपितु भाषा काव्य में राधाकृष्ण की परम्परा का संस्थापन भी किया । **विद्यापति** के पदों के अवतक कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं । यद्यपि इनके पदों की संख्या सहस्रों में बतायी जाती है तो भी तीनों प्रसिद्ध संस्करणों में उनकी संख्या उतनी नहीं पहुँचती । **नगेन्द्रनाथ गुप्त** ने हिन्दी में उनके ६७५ और बंगला में ६४५ पद संग्रहीत किये । ब्रजनंदन सहाय ने ४०० पद और श्री बेनीपुरी ने २६५ पद मात्र ही संकलित किये हैं । पर अभी तक कोई भी ऐसा संग्रह हिन्दी जगत के सम्मुख नहीं आया जिसे पूर्ण प्रामाणिक समझा जाय ।

इन पदों में अधिकांश राधाकृष्ण सम्बन्धी श्रृंगार विषयक पद हैं और कुछ पद दुर्गा, शिव और गंगा की भक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। वास्तव में श्रृंगार के पदों के कारण ही यह कवि अमर है। जयदेव के **गीतगोविन्द** से **विद्यापति** अत्यन्त प्रभावित दीखते हैं तथा उसका अनुगमन भी करते हैं। सूक्ष्म निरीक्षण, सुन्दर कल्पना, श्रृंगार की व्यापक अनुभूति इनकी रचनाओं में सर्वत्र दिखलायी देती है। सौन्दर्य की गहरी अनुभूति इनकी रचनाओं में व्यापक रूप से अभिव्यक्त हुई। एक-एक चेष्टाओं, एक एक हावों, एक-एक भावों का कामोल्लसित वर्णन तो कवि ने किया ही है, नख से शिख तक नायिका का बड़ा ही मधुर चित्र भी खींचा है। इस वर्णन में इतना व्यापक सूक्ष्म दृष्टि-दर्शन का परिचय मिलता है जो किसी भी दरबार के सीमित वातावरण में बंधे कवि के लिए गौरव की बात है। भादों की अंधेरी रात्रि में एक नायिका द्वारा अपनी सखी पर अभिव्यक्त किये गये इन विचारों में विद्यापति के सूक्ष्म निरीक्षण का पता चलता है।

गगन अब धन मेह दारुण सघन दामिनि झलकई।
कुलिस पातन सबल झन झन पवन खरतर बलगई।
सजन आज दुर्दिन भेल,
कन्त हमार नितान्त अगुसरि संकेत कुंजहि गेल।
तरल जलधर बरिख झरझर गरज घन घनघोर।
साम नागर एकले कइसन पंथ हेरए मोर।
सुमिरि मझु तनु अवृस मेल जनि अथिर थर थर कांप।
इ मझु गुरुजनन पर दारुण घोर तिमिरहि झांप।

उनकी कल्पना भी अनूठी है। जगह जगह उसका मनोहर रूप सर्वत्र दिखायी पड़ता है। एक स्थान पर रोमावलियों के सम्बन्ध में की गयी एक कल्पना उदाहरण के रूप में दी जा रही है।

मांझ—खानि तनु भरे भांगि जाए जनु
विधि अनुस ये भेल साजि।
नील पटोर आनि अति से सुदृढ़ जानि
जतन विरिजु रोमराजि।

इस प्रकार विद्यापति प्रेम-श्रृंगार तथा सौन्दर्य के अपने युग के सर्वोत्तम कवि हैं। उनकी दो रचनाएँ यहां दी जा रही हैं। ये स्वयं विद्यापति के काव्य गौरव का आख्यान कर लेंगी।

कालि कहल पिय सांझहि रे जाइवि भई भारू देस ।
मोए अभागिलि नहीं जानलरे, संग जइतंव जोगिनि वेस ।।
हिरदय बड़ दारून रे, पिया बिनु बिहर न जाई ।
एक सयन सखि सूतल रे, अदल बलम निसि मोर ।।
न जानल कत खन तजि गेल रे, बिछुरल चकवा जारे ।
सूनि सेज पिय आइल रे, पिय बिनु घर मोए आजि ।।

बिनति करहुं सुसहेलिनि रे, मोहि देहि अगिरह साजि ।
विद्यापति कवि गावल रे, आवि मिलत पिय तोर ॥
'लखिमादेइ' वर नागर रे, राय सिवसिंह नहि मोर ॥

× × × ×

नव वृन्दावन नव-नव तरूजन,
नव नव विकसित फूल।
नवल बसंत नवल मलयानिल,
मातल नव अलि कूल ॥ २ ॥
विहरइ नवल किसोर।
कालिंदि-पुलिन कुंज वन सोभन,
नव नव प्रेम विभोर ॥ ४ ॥
नवल रसाल-मुकुल-मधु मातल,
नव कोकिल कुल गाय।
नव जुवती मन चित उमताअई
नवरस कानन धाय ॥ ६ ॥
नव जुवराज नवल वर नागरि,
मिलए नव-नव भांति।
निति ऐसन नवनव खेलन
विद्यापति मति माति ॥ ८ ॥

आजकल कुछ लोग सभी रचनाओं को आध्यात्मिक रहस्य की दृष्टि से देखने में गौरव का अनुभव करते हैं। कभी-कभी इनके द्वारा इस कारण सहज साहित्यिक सौन्दर्य की हत्या भी हो जाया करती है। विद्यापति के सम्बन्ध में भी ऐसे प्रयत्न बराबर होते रहे हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी द्वारा अभिव्यक्त यह मत अत्यन्त महत्वपूर्ण है। "आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीतगोविन्द के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी। सूर आदि कृष्ण-भक्तों के शृंगारी पदों की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। पता नहीं बाल-लीला के पदों का वे क्या करेंगे। इस सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि लीलाओं का कीर्त्तन कृष्ण-भक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप में लीलाएँ वर्णित हैं, उसी रूप में उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप में वे लोक म नित्य मानी गयी हैं, वहाँ वृन्दावन, यमुना, निकुंज, कदंब, सखा, गोपिकाएँ इत्यादि सब नित्य रूप में हैं। न लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं।"

(हिन्दी साहित्य का तिहास)

संस्कृत में इन्होंने 'पुरुष-परीक्षा' नामक पुस्तक लिखी जिसमें विविध प्रकार के पुरुषों का परिचय छोटी छोटी मनोरंजक कहानियों में दिया गया है। यह छात्रोपयोगी है। इनकी दूसरी रचना का नाम 'कीर्तिलता' है जिसके कारण इनकी अत्यंत महत्ता है। अपन आश्रेयक तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह, की प्रशस्ति में विद्यापति ने इस ग्रंथ का प्रणयन

किया । यह ग्रंथ पूर्वी अपभ्रंश में लिखा गया है तथा इसमें संस्कृत के तत्सम् शब्द भी गृहीत हुए हैं । इसमें बीच बीच में देशी भाषा या बोली के भी शब्द हैं । इस माने में यह ग्रंथ प्राकृत की रूढ़ियों से अपने को मुक्त करता हुआ आभासित होता है ।

यह ग्रंथ ऐतिहासिक है और **कीर्तिसिंह** का चरितगान करते हुए भी उसमें ऐतिहासिक तथ्यों की हत्या नहीं की गयी है, उस काल में लोगों का, अधिकारियों का, युद्धों का कवि ने जीता-जागता चित्र खींचा है जो यथार्थ की अभिव्यक्ति के साथ सरस काव्य का प्रतीक बन गया है । स्थान-स्थान पर विषय के अनुसार छन्दों का परिवर्त्तन इस भांति किया गया है कि कविता में जीवनमयी सजीवता आ गयी है । इस ग्रंथ को सर्वप्रथम महामहोपाध्याय **पं० हरप्रसाद शास्त्री** ने नेपाल के राजकीय पुस्तकालय से प्रतिलिपि कर लोगों के सम्मुख रखा, यद्यपि इसकी और कीर्ति-पताका की चर्चा **ग्रीयरसन ने** बहुत पहले ही की थी । यह ग्रंथ अंत और आरंभ में संस्कृत के छन्द और भाषा में लिखा गया है और बीच में अपभ्रंश भाषा के दोहा, चौपाई, छप्पय, गाथा आदि छन्द का व्यवहार किया गया है ।

कीर्ति-पताका में प्रेम कथा वर्णित है । कीर्ति-लता से एक उदाहरण यहां दिया जा रहा है ।

रज्ज-लुद्ध असलान बुद्धि विक्कमवले हारल ।
पास बसइ बिस वासि राय गय नेसर मारल ।।
भारत राव रणरोल पड मेइनि हाहासद्द हुअ ।
सुरराय नपर नरअर-रमणि बाम नयन पप्फुरिअ धुअ ।।

—:o:—

आदिकाल

वीर श्रृंगार

[ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी]

प्राय: हिन्दी के सभी विद्वान हिन्दी का आदिकाल सन् ई० १००० के लगभग से १४५३ संवत् चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक मानते हैं। साहित्यिक भाषा होने के पूर्व प्रत्येक बोली कुछ समय तक निर्माण काल से होकर गतिशील होती है। पुरानी साहित्यिक भाषा के स्थान पर नयी बोलचाल की भाषा को साहित्य का रूप लेने में पर्याप्ति समय लगता है। विशुद्ध अपभ्रंश से लोक भाषा की ओर हिन्दी इस युग में अधिक झुकी हुई दिखायी पड़ती है और यह भाषा स्पष्ट रूप से अपभ्रंश की भाषा से कुछ भिन्नता लिए हुए है। यद्यपि इस युग में भी काव्य की उसी रूढ़ि को अपनाया गया जो परम्परा से प्राप्त हुई थी, तो भी इस युग में भाषा की दृष्टि से पद्य रचना में तद्भव शब्दों का प्रयोग बढ़ता गया।

इस युग का साहित्यिक इतिहास उपस्थित करने में प्रामाणिक ग्रंथों का अभाव बहुत बड़ी कठिनाई उपस्थित करता है। यह युग ऐसा था कि उत्तरी पश्चिमी भारत पर (जहाँ हिन्दी साहित्य का निर्माण हो रहा था) वार-वार मुसलमानों के आक्रमण होते थे। अतएव ऐसी परिस्थिति में विशिष्ट साहित्य का सर्जन किस मात्रा में हुआ होगा यह कहना या पता लगाना सम्भव नहीं। उस समय राजपुताने में ही बची बचायी सामग्री होने का भी अनुमान डा० **श्याम सुन्दर दास** इन शब्दों के साथ करते हैं :—

"यदि राजपुताने में प्राचीन हिन्दी पुस्तकों की खोज का काम व्यवस्थित रूप से किया जाय तो सम्भव है कि बहुत कुछ उपयोगी सामग्री प्राप्त हो जाय। यह भी सम्भव है कि हिन्दी साहित्य के उस युग में देश की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति के कारण न तो किसी कला की ही विशेष उन्नति हुई हो और न अनेक साहित्यिक ग्रंथों का ही निर्माण हुआ हो।"

साथ ही बाबू साहब का यह भी कथन है—

"जब अन्य कलाओं की ऐसी अवस्था थी तब यह आशा नहीं की जा सकती कि उस काल में साहित्य कला की सर्वतोन्मुखी उन्नति हुई होगी अथवा अनेक उत्कृष्ट ग्रंथों का निर्माण हुआ होगा।"

अब तक जो ग्रंथ प्राप्त हुए हैं, उनमें इतना अधिक प्रक्षिप्त अंश तथा अऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है जिसपर विश्वास नहीं किया जा सकता। अनुमान के आधार पर तथा उस काल की भाषा के आधार पर कुछ विद्वानों ने तत्कालीन रचनाओं का वास्तविक रूप रखने का प्रयत्न भी किया है पर सावधानी रखने पर भी अभी तक प्रामाणिक रचनाएँ

सामने नहीं आ सकीं। इसके मूल में यह तथ्य स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि प्राप्त मौलिक रचनाओं में सैकड़ों वर्ष तक चारण परम्परा के कवि बराबर प्रक्षिप्त अंश जोड़ते रहे। इसलिये एक ही रचना के विविध अंशों में विविध प्रकार की भाषा का दर्शन होता है। मुख्य रूप से इस काल की जिन रचनाओं की विशेष चर्चा है, वे राजस्थानी में हैं। अभी तक अनुमान के ही आधार पर तत्कालीन साहित्य की छानबीन की गयी है और यही आधार अभी तक अपनाना पड़ रहा है। जिन लोगों ने **पृथ्वीराज रासो** आदि रचनाओं का प्रामाणिक रूप रखने का दावा किया है उनके अध्ययन की प्रामाणिकता को हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान **पं० चन्द्रबली पाण्डेय** ने लेखों द्वारा यह सिद्ध किया है कि उनकी ये प्रस्तुत प्रामाणिक रचनाएँ भी सर्वथा अप्रामाणिक हैं।

राजनीतिक दृष्टि से यह युग भयंकर विक्षोभ और अशान्ति का था। आक्रमणकारी मुसलमान शासक बन बैठे थे। इधर घर में भयंकर आत्म-कलह मचा हुआ था। देश में एकता की शृंखला हर्ष के बाद ही विच्छिन्न हो चुकी थी। भीतर ही भीतर वह वीरता, जो मुसलमानों के दांत खट्टे करती थी, स्वयंवर–शौर्य तक ही रह गयी। आपस की तू-तू-मैं-में में अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित करने के व्यामोह के कारण लोगों में नाहक लड़ाइयां छिड़ जाया करती थीं। चौहान, सोलंकी, परमाल और चन्देल आपस में ही लड़ते रहे। गहड़वालों को भी देश का ध्यान न था। वे सभी घर में ही अपना शौर्य प्रदर्शन करना चाहते थे।

भारतीय संस्कृति के ठीकेदार साधु लेहड़े बना कर घूम रहे थे तथा भैरवी चक्र के प्रवर्तन में अपने जीवन की चरम सिद्धि समझते थे। जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। संगीनों के भय से उसे सब कुछ मौन हो सहना पड़ता था। दक्षिण ऐसी विषम परिस्थिति से उतना आक्रान्त नहीं था जितना उत्तर। उत्तर पर बार-बार मुसलमानों के आक्रमण होते थे। ऐसी स्थिति में स्वतंत्र रूप से कला की उपासना करनेवालों के लिए किसी सुअवसर की सम्भावना नहीं थी। जो स्वतंत्र रचनाएँ हुई भी होंगी, वे न तो उस अशान्त वातावरण में व्यापकता पा सकीं और न सुरक्षित ही रखी जा सकीं। कलाकार को विवश होकर राजाश्रित होना पड़ा। उसे अपने आश्रयक के इशारों पर अपनी वाणी मुखरित करनी पड़ी। राजाओं की प्रशस्ति में कवियों को काव्य का निर्माण करना पड़ा। जीवन के व्यामोह के कारण उन्हें स्वामी की कीर्ति-गाथा गानी पड़ी। लोक-जीवन से दूर राजमहलों में अशान्त किन्तु वैभव पूर्ण वातावरण में उन्हें दाताओं की प्रशस्ति में काव्य लिख कर जीवन-यापन करना पड़ा।

युग की रचनायें

उस युग की रचनाएँ जो आज उपलब्ध हैं; अपने मूल रूप में नहीं हैं, इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। एक ही रचना में कई व्यक्तियों का हाथ लग जाने के कारण जो रचनाएं उपलब्ध भी हैं, उनमें वह साहित्यिक गठन एवं सुडौलपन नहीं है, जो कृति में

एक रचनाकार के हाथ से सम्भव होता है। साहित्य का निर्माण करनेवालों का हृदय भी उन राजाओं के प्रति श्रद्धा से आकण्ठ निमग्न नहीं था। अतएव अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में प्रायः सच्चे हृदय से निकली वाणी का अभाव दिखायी पड़ता है। साथही इतिहास सम्बन्धी घटनाओं को भी इस प्रकार तोड़-मरोड़कर इन दरबारी कवियों को रखना पड़ा कि अधिकांश में ऐतिहासिक तथ्यों की हत्या हो गयी है। इसके मूलमें जाने पर यह तथ्य स्पष्ट ही विदित हो जाता है कि उन कवियों का कर्म किसी भी प्रकार तोड़-मरोड़ कर, तथ्यों की हत्या करके भी अपने आश्रयदाता की गौरव गाथा गाना था। साथ ही प्राप्त रचनाओं में प्रक्षिप्त अंश कई सौ वर्ष बाद तक मिलाये जाते रहे हैं। अतएव उसमें झूठे, भ्रामक, और संदिग्ध तथ्यों का मिश्रण होता गया है। या तो उस राज्य की लोक परम्परा से या उस राज्य की प्रशस्ति के लिए झूठी मन गढ़न्त कल्पना द्वारा यह भ्रम उत्पन्न किया गया। अतएव ऐतिहासिक तथ्यों की हत्या तो निश्चित सी ही है।

इस युग की हिन्दी की काव्य धारा जिस भी रूप में प्राप्त है उसे यदि कल्पना और संभावना की दृष्टि से देखा जाय तो निश्चय ही यह आभासित होता है कि काव्य की धारा अत्यन्त वैयक्तिक एवं संकुचित हो बहती रही। इस युग के कवियों का न तो कोई आदर्श था, न कोई उनका सामाजिक आदर्श की प्रतिष्ठा का ध्येय ही था। यत्र-तत्र इन रचनाओं में जो संवेदनशील भाव दीख पड़ते हैं, यद्यपि वे महत्व रखते हैं तो भी मानव के भीतर, जाति-जाति के भीतर, एक देश के भीतर ही ऊँच-नीच की द्वेष भरी भावना फैलाने का विषाक्त कार्य भी उन्होंने किया। इस युग के काव्य म कहीं-कहीं सुन्दर सूक्तियाँ, हृदयमोहिनी उद्भावना, अच्छी कवित्व शक्ति तथा सुन्दर चरित्र-चित्रण दिखायी पड़ता है और सुन्दर वर्णन से अनेक अंश भरे दिखायी पड़ते हैं पर उनकी मात्रा सीमित है। युद्ध के वर्णन में उन्हें सर्वाधिक सफलता मिली है। उनके काव्य में कहीं-कहीं अद्भुत शब्द-शक्ति का दर्शन भी होता है। युद्ध सम्बन्धी वर्णनों में व्यापक रूप से शब्द ध्वनिमय हो स्थिति का चित्रण करते हैं। काव्य का ढांचा विरासत के रूप में अपभ्रंश से लिया गया। इस युग का अधिकांश साहित्य राजपूताने में निर्मित हुआ जो लोक परम्रा या राज्य संरक्षण की परम्परा से प्राप्त हुआ है। इस युग में काव्य का विषय प्रायः किसी नृपति के शौर्य की प्रशस्ति ही रहा है। किसी रमणी के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कोई राजा उस देश पर चढ़ाई कर देता है और युद्ध में महान योद्धा की भांति लड़ते हुए अपने वांछित उद्देश्य की प्राप्ति करता है। युद्ध के वर्णन में इन चारण कवियों को सफलता प्राप्त करने का मूल कारण यह भी है कि समर छिड़ जाने पर राजाओं के साथ युद्ध-स्थल पर कवि भी जाता था। अपनी आंखों से युद्ध होते हुए देखता था और कभी-कभी तो अनेक कवि योद्धा की तरह हाथ में तलवार लेकर अपने आश्रयदाता के लिए युद्ध-भूमि में संघर्ष भी करते थे। इस युग में प्रबंध-काव्य और मुक्तक-काव्य दोनों लिखे गये। इन्हें 'रासो' के नाम से पुकारते हैं। इस रासो शब्द का सम्बन्ध कुछ लोग रहस्य से लगाते हैं और आचार्य शुक्ल जी इसे 'रासायण' शब्द का परिवर्तित रूप समझते ह। क्योंकि बीसलदेव रासो में अनेक स्थलों पर काव्य के अर्थ में बार-बार 'रसायण' शब्द का

प्रयोग हुआ है । इस युग की कही जानेवाली रचनाओं के सम्बन्ध में अब विचार करना अप्रासंगिक न होगा ।

खुमान रासो

वीर-काव्य की परम्परा के प्रबन्ध काव्यों में यह सबसे प्राचीन माना जाता है । **दलपति विजय या दौलत विजय** इस कृति के ग्रंथकार माने जाते हैं । चित्तौड़ में **खुमान** नामक तीन राजा हुए जिनका समय क्रमशः संवत् ८१० से ८३५, ६७० से ६०० और ६३५ से ६६० है । **शुक्ल जी** ने अब्बासिया वंश के **अलमांमू** के आक्रमण के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि यह खुमान रासो **खुमान** द्वितीय की प्रशस्ति में लिखा गया है । **शिवसिंह सरोज** म जिस **खुमान रासो** की चर्चा की गयी है उसमें रामचंद्र से लेकर खुमान तक का वर्णन होना बताया गया है और इसका रचयिता किसी अज्ञात भाट को कहा गया है । किन्तु खुमान रासो की अभी तक जो प्रति प्राप्त की जा सकी है वह अपूर्ण है और उसमें **महाराणा प्रताप** तक का वर्णन है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ अधिक प्राचीन नहीं है । **महाराणा प्रताप सिंह** तथा **राज सिंह** के वर्णन तथा भाषा के कारण **शुक्ल जी** तथा **डा० श्यामसुन्दर दास** इसे सोलहवीं शताब्दी से अधिक पुरानी रचना नहीं मानते और इसी मत का प्रतिपादन प्रायः हिन्दी के सभी साहित्यकार करते हैं । डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने यह भी सम्भावना प्रकट की है कि :—

"यद्यपि उसका वर्तमान रूप बहुत पीछे का है परन्तु सम्भव है कि मूल खुम्भाण चरित्र प्राचीन रहा हो और उसी का यह परिवर्तित और परिवर्धित रूप हो । यह भी संभव है कि इसे वर्तमान रूप देने का श्रेय दलपति विजय को ही हो, मूल का रचयिता कोई और रहा हो ।"

मोती लाल मिनारिया इन्हें "शान्ति विजय" नामक जैन साधु का शिष्य तथा इनका रचना काल संवत् १७३० से लेकर १७६० के मध्य तक मानते हैं । इस रचना पर अभी तक लोग हिन्दी के आदिकाल में ही विचार करते चले आये पर वास्तव में ऐसा करना उचित तथा न्यायसंगत नहीं । काव्य की रचना का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है :—

षत्री मौड़ षुमाण, मान कर मूंछ मरोड़े ।
जणणी वह जाइयो जोध जोरे मन जोड़े ।।
भीत माड़ियो भाव रवि राणी म्हेंमाणी ।
दिल्ली थी चित्तौड़ पंच सहेली पल आणी ।।

भुआल ने दोहा, चौपाई में भगवत गीता का अनुवाद किया है तथा इनका समय एक दोहे के आधार पर संवत् १००० बताया जाता है । लेकिन वास्तव में तथ्य की खोज करने पर यह १७वीं शताब्दी के बाद की रचना मालूम पड़ती है । "पत्तलि"—लेखक **मोहन लाल द्विज** (जिन्होंने उस ग्रन्थ में कृष्ण की बारात में पत्तल पर परोसी सामग्री का वर्णन किया है) के आधार पर लोग इनका रचना-काल संवत १२४७ बताते

हैं। पृथ्वीराज विजय नाम का एक ऐतिहासिक ग्रन्थ, जिसमें पृथ्वीराज चौहान का विजयवर्णन है, अपने फटे रूप में डा० गोलर को काश्मीर में प्राप्त हुआ था। यह शारदा लिपि में लिखा गया है। ग्रन्थ खण्डित है तथा पूना के दक्षिण कालेज लाइब्रेरी में सुरक्षित है। डा० रामकुमार वर्मा इस कृति के रचनाकार को पृथ्वीराज का सामयिक मानते हैं किन्तु इसके लेखक का कुछ भी पता नहीं हैं। अनुमान के आधार पर जयानक नामक कवि का नाम इसके लेखक के रूप में वे लेते हैं। इसकी कविता सुन्दर है तथा इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक सामग्री है। संवत् १३५७ में सारंगधर नाम का एक कवि हुआ बताया जाता है। इसने हमीर रासो की रचना की। इस ग्रन्थ में हमीर और अलाउद्दीन के युद्ध का ओजस्वी वर्णन है। इस ग्रन्थ की प्रामाणिक प्रति कोई भी प्राप्त नहीं है। संवत् १४६० के आसपास ग्वालियर के तोमर वंशीय राजा वीरमदेव के आश्रय में पालित कवि नयन चन्द्र ने हमीर महाकाव्य की रचना की। नल्लसिंह भट्ट, विजयपाल रासो की परम्परा में प्राप्त होनेवाला एक ग्रन्थ है जिसमें करोली विजय-पाल के युद्ध का वर्णन है। अतः रासो अवश्य लिखे गये होंगे जिनके सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि अभी तक या तो किसी के घर पर पड़े होंगे या नष्ट हो गये होंगे।

पृथ्वीराज रासो

पृथ्वीराज रासो को कुछ लोग हिन्दी का प्रथम महाकाव्य मानते हैं। यह अढ़ाई हजार पृष्ठों का ६९ वे समय (सर्ग) में कवीन्द्र (छप्पय) दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या छंदों में लिखा हुआ ग्रंथ है। इस ग्रंथ को महाकाव्य के बदले वृहत् काव्य ग्रंथ की संज्ञा देना ही युक्तिसंगत होगा क्योंकि न तो इसमें महाकाव्यों के द्वारा प्रतिष्ठित होनेवाला महान सन्देश है और न ही इसमें किसी एक कथानक का क्रमबद्ध विकसित रूप है। कहा जाता है कि यह पृथ्वीराज, दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट् के राज कवि चन्द्र बरदाई की रचना है। इसके अन्तिम अंशों को चन्द के पुत्र जल्हण के द्वारा पूरी की जाने की भी बात कही जाती है जो प्राप्त रासों से प्रमाणित है।

पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज।

× × ×

रघुनाथचरित हनुमत कृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथ्वीराज-सुजस कवि चंद कृत चंद-चंद उद्धरिय तिमि॥

पृथ्वीराज रासो के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान बूलर, मारिशन, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, मुंशी देवीप्रसाद जी, पं० मोहनलाल विष्णु लाल पंडया, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री परस्पर विरोधी बातें कहते हैं। इसमें जो कथावस्तु दी गयी है वह आबू के यज्ञ कुण्ड से चार क्षत्रीय कुलों की उत्पत्ति से लेकर दिल्ली के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज के कैद होने तक है। संयुक्ता और पृथ्वीराज की सुप्रसिद्ध कथा भी इसमें वर्णित है। इस ग्रंथ में चंगेज, तैमूर आदि के आक्रमणों का भी वर्णन है। पृथ्वीराज की सभा के कश्मीरी कवि जयानक के पृथ्वीराज विजय के आधार पर तथा इस ग्रंथ में वर्णित तिथियों के कारण

जो शिलालेख आदि से अप्रमाणिक और अऐतिहासिक ठहरती हैं, लोग ग्रंथ को जाली मानते हैं। पृथ्वीराज विजय में चंद नामक किसी कवि का उल्लेख नहीं है। एक जगह चन्द्रराज शब्द श्लोक में आया है उसे डाक्टर गौरीशंकर हीरा चंद ओझा कश्मीर का चन्द्रक कवि मानते हैं। इस अवस्था में आचार्य शुक्ल जी निम्नलिखित संभावना प्रकट करते हैं :—

"इस अवस्था में यही कहा जा सकता है कि चन्दवरदाई नाम का कोई कवि था तो वह पृथ्वीराज की सभा में रहा होगा या जयानक के कश्मीर लौट जाने पर आया होगा। अधिक संभव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्द राज या उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनों मेंसे किसी के वंशज के यहाँ चंद नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो। पीछे जो बहुत सा कल्पित "भट्ट भणंत" तैयार होता गया उन सबको लेकर और चंद को पृथ्वीराज का समसामयिक मान उसी के नाम पर "रासो" नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गई है।"

हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार कुछ लोग चंद का जन्म मगध और कुछ लोग "रासो" के अनुसार लाहौर में मानते हैं। चन्द पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के दरबारी तथा पृथ्वीराज के सखा और राजमंत्री थे। नागौर में पृथ्वीराज द्वारा चंद को जमीन दी गयी थी और अब भी उनके वंशज वहाँ रहते हैं।

बाबू रामनारायण दूगण के अनुसार

"उदयपुर राज्य के विक्टोरिया हाल के पुस्तकालय में रासो की जिस पुस्तक से से मैंने यह सारांश लिया है उसके अंत में यह लिखा है कि चंद के छंद जगह-जगह बिखरे हुए थे जिनको महाराणा अमर सिंह जी ने एकत्रित कराया।"

(पृथ्वीराज चरित्र से डाक्टर श्यामसुन्दर दास के हिंदी साहित्य का उद्धरण।)

इस उद्धरण तथा संवत् १७३२ में महाराजा राजसिंह द्वारा राजसमुद्र तालाव के चौकी पर अंकित महाकाव्य के आधार पर, जिसमें सर्वप्रथम 'रासो' शब्द का उल्लेख मिलता है, इस ग्रंथ का संकलन आदि पहले पहल अमर सिंह के राज्य काल में हुआ माना जाता है। उनका राज्य काल सम्वत् १६५३ और १६७६ के बीच था। अतएव यह रचना सत्रहवीं शताब्दी के मध्य की ही मानी जा सकती है। नागरी प्रचारणी सभा की प्रति संवत् १६४२ की लिखी बतायी जाती है जो इसकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिक लगती है। यद्यपि दोनों ही में प्रक्षिप्त अंश बहुत अधिक है पर यह निश्चय रूप से सत्य है कि चंद नामक कोई कवि अवश्य ही हो चुका है क्योंकि हाल में ही मुनि जिन विजयजी ने पुरातन प्रवन्ध संग्रह में जयचन्द प्रबन्ध नामक एक ग्रन्थ में चन्द के चार छप्पय दिये हैं। (पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी के हिन्दी साहित्य के आधार पर) जिसपृथ्वीराज विजय के आधार पर डा० ओझा चंद कवि के अस्तित्व पर सन्देह करते हैं वह प्रति भी अभी तक खंडित ही प्राप्त हो सकी है। साथ ही भट्ट केदार कृत जयचंद रासो में चंद और भट्ट केदार के संवाद का भी एक स्थान पर उल्लेख है। इसके साथ ही यह भी ध्रुव

सत्य है कि वर्तमान रासो अपने पूर्व रूप में नहीं है और उसमें बहुत अधिक संख्या में प्रक्षिप्त अंश बाद का जोड़ा हुआ है । डा० श्यामसुन्दर दास के अनुसार :—

"**सारांश यह कि वर्तमान रूप में पृथ्वीराज रासो में प्रक्षिप्त अंश बहुत अधिक है, पर साथ ही उसमें बीच-बीच में छंद बिखरे पड़े हैं और निश्चित जान पड़ता है कि वर्तमान रासो चंद रचित छंदों का संकलित एवं संपादित रूप है ।**"

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि ने रासो का एक प्रामाणिक संस्करण इधर हाल में निकालने का प्रयत्न किया है । **पं० चन्द्रबली पांडेय** आदि विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उनका प्रयत्न सफल नहीं हुआ ।

पृथ्वीराज रासो में प्राचीन काव्य परिपाटी के आधार पर शुक-शुकी के संवाद के रूप में कथा कहने का उपक्रम किया गया है । **पृथ्वीराज** की पूर्व परम्परा और उनके जीवन के सम्बन्ध में सम्पूर्ण घटनाओं का विशेष कर **संयुक्ता-हरण** एवं **शहाबुद्दीन गोरी** के आक्रमण और युद्ध का वर्णन अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है । साहित्यिक दृष्टि से इसकी गणना हिन्दी के अच्छे काव्यों में की जाती है । स्थान-स्थान पर इसमें छंद परिवर्त्तन मिलता है । काव्य की रसात्मकता प्रायः सर्वत्र बनी रहती है । इस ग्रंथ का अध्ययन भी सोलहवीं शताब्दी के ग्रन्थों के साथ ही करना अधिक वैज्ञानिक होता पर हिन्दी के प्रायः सभी समीक्षकों ने आदि काल में ही इस ग्रंथ की चर्चा की है । उनकी रचना का उदाहरण इस प्रकार है :—

पद्मावती का रूप गुण वर्णन

दोहा

पदमसेन कँवर सुघर ता घर नारि सुजान ।
ता उर इक पुत्री प्रगट मनहु कला ससि भान ।।

कवित्त

मनहुं कला ससि भान, कला सोलह सो बन्निग ।
बाल बेस ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय ।।
बिगसि कमल स्रिग भ्रमर नैन मंजन स्रिग लुट्टिय ।
हार कीरन प्ररू बिंब मोति वषसिष अहि छुट्टिय ।।
छत्रपति गयंद हकि हंस गति बिह बनाय संचे सचिय ।
पद मिनिय रूप पदमा वति य मनहुं काम कामिनी रचिय ।।

दोहा

मनहुं काम कामनिनी रचिय रचिय रूप की रास ।
पसु पंछी सब मोहनी सुर-नर मुनिवर पास ।।

अन्य प्रबन्धकारों में **भट्ट केदार** और **मधुकर कवि** कन्नौज और काशी के शासक जयचंद के दरबार की शोभा थे । इनका रचना काल आचार्य शुक्ल जी ने संवत् १२२४

से १२४३ तक माना है। भट्ट केदार ने जयचंद-प्रकाश, मधुकर ने जयमयंक, जयचन्द्रिका सारंगधर ने हमीर काव्य और नल्ल सिंह ने विजयपाल रासो की रचना की। यदि राजपूता में खोज की जाय तो निश्चित रूप से और अनेक ऐसे ग्रंथ मिलें।

मुक्तक

इस युग में स बात की चर्चा पहले ही की जा चुकी है कि प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त गीत काव्यों की रचना अधिक हुई। उस अशान्त युग में वातावरण गीतकाव्य के निर्माण के लिय अधिक उपयुक्त भी था। चारण प्रायः राज दरबारों से जाया करते रहे और नित नूतन छंदों द्वारा सामन्तों एवं आश्रेयकों का मनोरंजन एवं प्रशस्ति-गान करते रहे। अब जो उस काल के गीत प्राप्त हैं उनमें मौखिक परम्परा में होनेवाले रूपान्तर तो मिलते ही हैं साथ ही उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। अभी तो कुछ इतस्ततः बिखरे हुए होंगे जिनका पूरा पता हिन्दी जगत को नहीं है और कुछ नष्ट प्राय भी हो गये होंगे। अतएव इस काल के प्रबन्ध काव्यों के सम्बन्ध में जो बातें कही गयी हैं वही गीतों के संबंध में भी कही जा सकती हैं। पर साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से प्रबन्धों की अपेक्षा ये गीत अधिक सुन्दर हैं। इन गीतों में ओज है तथा है स्वच्छन्द प्रवाह। ये गीत रोचक भी बन पड़े हैं। ये गीत जन-जीवन में प्रसरित भी हुए और आज तक लोगों द्वारा गाये जाते हैं। आल्हा इसका प्रमाण है। ये गीत जितनी व्यापक सीमा में प्रतिष्ठित हुए उतना उस युग के प्रबन्ध काव्य नहीं।

बीसलदेव रासो

नरपति नाल्ह द्वारा रचित यह लघु-काव्य वीर-गीतों की शैली पर है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित बीसलदेव रासो में, जो जयपुर से प्राप्त हुआ था, इस का ग्रंथ निर्माण काल यों दिया हुआ है।

बारह सै बहत्तरां हां मंझारि।
जेठ बदी नवमी बुधवारि।
नाल्ह रसायण आरंभई।
सारदा तुठि ब्रह्म कुमारि॥

यद्यपि हिन्दी के अनेक विद्वान बहत्तराँ का अर्थ बारह लगाते हैं और इसके अनुसार इसे संवत् १२१२ की रचना ठहराते हैं पर इस सम्बन्ध में डा० श्यामसुन्दर दास का यह मत अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि बहत्तराँ का अर्थ बहत्तर ही होता है बारह नहीं।

"चैत्र मास से वर्ष गणना करने पर सं० १२७२ की ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार नहीं पड़ता पर राजपूताने में कार्तिक मास से भी वर्ष गणना करने की प्रथा थी और उसके अनुसार वार की गणना ठीक बैठ जाती है। अतः पुस्तक की रचना सं० १२७२ में मानने में कोई बाधा नहीं है।"

चार सर्गों में इस रचना का निर्माण हुआ है। प्रथम में राजमति से बीसलदेव के

विवाह का वर्णन, दूसरे सर्ग म उड़ीसा-विजय प्रयाण का वर्णन और तीसरे सर्ग में राजमति का विरह वर्णन तथा चतुर्थ सर्ग में राजमति को भोजराज के यहाँ से बीसलदेव द्वारा चित्तौड़ लाने का वर्णन है। यद्यपि यह ग्रंथ प्रेम प्रधान है किन्तु फिर भी विद्वान इसे वीर गीतों के रूप में लेते हैं। यह रचना भी संदिग्ध है। इसमें कुछ बातें तो ऐतिहासिक संभावनाओं द्वारा विद्वानों ने ठीक मान ली है पर अनेक ऐसे अऐतिहासिक तथा काल्पनिक तथ्य आये हैं जिनके कारण श्री मोतीलाल मेनारिया गुजराती के नरपति और नरपति नाल्ह को एक मान कर इसे सोलहवीं शताब्दी के पहले की रचना नहीं मानते। इस प्रकार इस रचना में भी काव्य-तत्व अधिक होने पर भी इसे प्रामाणिक ग्रंथ नहीं माना जा सकता। रचना से एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है :—

"नाल्ह" रसायण रस भरि आई। तुठी सारदा त्रिभुवन माई॥
उलिगणां गुण वरण तां। कुकठ कमाणसां जिन कहई रास॥
अस्त्री चरित गति को लहई। एकई आखर रस सवई विण रस॥
तुठी सारदा त्रिभुवन माई। देव विनायक लागूं हूं पाय॥
तोहि लंबोदर वीन मूं। चउसठि जो गिनि का अगिवांण॥
चउथ जोहारू खोपरां। भूलेउ अक्खर आणजे ठाइं॥

आल्हा-खण्ड

इस युग का सर्वाधिक प्रचारित जन साहित्य आल्हा खण्ड है। ऐसा कहा जाता है कि कालिंजर के अधिपति परमाल के यहाँ जगनिक नाम का कोई भाट रहता था जिसने महोबे के दो प्रसिद्ध योद्धा आल्हा और ऊदल (उदयसिंह) की प्रशस्ति में आल्हा-खण्ड की रचना की। कुछ लोग इसे पृथ्वीराज रासो और कुछ लोग परमाल रासो का एक खण्ड बताते हैं। इतना तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि आज भी परिवर्तित रूप में यह ग्रंथ बराबर लोक में प्रचलित है। परन्तु इसकी पुरानी प्रति कहीं से भी प्राप्त नहीं होती। यह ग्रंथ कितना प्राचीन है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसकी भाषा और कलेवर दोनों बराबर परिवर्तित होते रहे हैं। आज जिस रूप में यह प्राप्त है उसकी भाषा का रूप बहुत पुराना नहीं। लगभग ८०–८५ वर्ष पूर्व सर्वप्रथम फरुखाबाद के कलक्टर श्री चार्ल्स इलियट ने इन गीतों को प्रकाशित कराया था। इस ग्रंथ को पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी अर्द्ध प्रामाणिक मानते हैं पर वास्तव में अधिकारपूर्वक इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना समीचीन न होगा। यदि आल्हा खण्ड को नृपति परमाल का सम-सामयिक माना जाय तो इसका रचना काल अपने पूर्व रूप में संवत् १२२२ के पास ठहरेगा।

इन वीर गीतों का निर्माण साहित्यिक प्रबन्ध पद्धति पर नहीं हुआ था। इसमें आल्हा ऊदल और उसके परिवार के लोगों की वीरतामय अतिरंजित कहानी छिपी हुई है। कहीं-कहीं यह रचना इतिहास विरुद्ध है, और भौगोलिक ज्ञान का अभाव प्रदर्शित करती है। तो भी आज उत्तरी भारत के देहातों में ढोल पर आल्हा-खण्ड स्वरबद्ध लोगों के मुख से सुनाई पड़ता है। बैसवाड़ा इसका मुख्य केन्द्र है। इन रचनाओं के पाठ से वीररस छलक उठता है। उदाहरण के रूप में यहां एक अंश दिया जा रहा है :—

इतनी सुनि के राय लंगरी नैना अग्नि जाल हुई जाय ।
ऐसो देखौं ना काहू को डोला लै दिल्ली को जाय ।।
बातन-बातन बत बढ़ हुई गयी औ बातन में बाढ़ी रार ।
दूनौ दल में हल्ला हुई गौ छत्रिन खेंचि लई तरवारि ।।
दल के संग पैदल अभिरे और असवारन से असवार ।
परो जड़ाका दूनौ दल में जहं मुंहतोर चलै तरवारि ।।
अपनो पराओ ना पहिचाने सबके मारि-मारि रट लाग ।
आठ हजार घोड़ सब जूझे दिल्ली बारन दए गिराय ।।

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि चौंदहवीं शताब्दी के बाद डिंगल का स्रोत सूखने लगा था पर इसमें बराबर रचना होती रही । श्रृंगार-काल में भी वीरता के गीत चारण कवि स्फुट रूप से गाते रहे ।

चैत श्री रान काबू जीरा छंद नामक ग्रंथ बीकानेर के राव जैतसी की प्रसंशा में १५५१ में लिखा गया था । कवि का नाम अज्ञात है किन्तु मारवाड़ी मिश्रित देवनागरी और महाजनी लिपि में लिखित यह ग्रंथ बीकानेर के दरबार पुस्तकालय में है जिसमें राव जैतसी द्वारा बाबर के पुत्र कामरान को बीकानेर से मार खदेड़ने का वर्णन किया गया है । यह ग्रंथ ऐतिहासिक महत्व का है । १६१५ में शिवदास ने गागरण के खिची शासक अचलदास की प्रशस्ति में लिखा है । यह रचना सामान्यतः अच्छी समझी जाती है साहित्यिक दृष्टि से ।

गणपति ने माधवानल और कामकंदला वाली प्रसिद्ध प्रेम कथा संवत् १५८५ में नर्मदा के किनारे आद्रपत्र नामक स्थान पर की थी । १६१६ म कुशललाभ ने माधवानल और काम गंदला की भी रचना की ।

इस युग की डिंगल की सबसे महत्वपूर्ण रचना है—कृषन रुकमणी री वेल राज पृथ्वीराज की कही । यह ग्रंथ अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा इसमें भक्ति के साथ श्रृंगार का संयोग आकर्षक ढंग से किया गया है । रीति और भक्ति-काल की भावना का सुन्दर समन्वय इस ग्रंथ में हुआ है । नायिका भेद और षट्‌रितु का वर्णन इस ग्रंथ में है। यह ग्रंथ डिंगल के अनुसार बलिओ गीत छंद में लिखा गया है । इस ग्रंथ में तीन सौ पांच पद्य हैं जिनमें शैशव अवस्था से लेकर रुक्मिणी का पूरा जीवन-वृत्त, षट्‌रितु वर्णन आदि है । वर्णन में लेखक ने प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध तक का वर्णन किया है तथा कवि ने बल को कामधेनु माना है । रचना में सर्वत्र स्वाभाविकता के साथ सहज सुन्दर प्रवाह तो है ही, संगीत की मधुर ध्वनि भी है । काव्य-कला की दृष्टि से यह ग्रंथ डिंगल साहित्य में प्रथम कोटि का है । इस ग्रंथ के लेखक पृथ्वीराज थे जो अकबर के दरबार में अत्यंत सम्मानित सैनिक पद पर थे । उन्होंने में भी रणक्षेत्र में अकबर द्वारा भेजे-जाने पर काबुल के मिर्जा हकीम के छक्के छुड़ा दिये । कविता के क्षेत्र में उन्होंने कृष्ण और रुक्मणी की प्रेम-कथा द्वारा श्रृंगार की रसमयी धारा बहा दी जिसके कारण कुछ लोग

इसे राजस्थान का पांचवां वेद बताने लगे। इस ग्रंथ का रचना काल १६३७ है। भागवत पुराण इसका आधार है तथा कवि का जन्म संवत् १६०६ में हुआ था।

वचनिका राठौर रतनसिंह जी की महेश दासौत की खिड़ियो जगरी कही—संवत् १७१५ के बाद इस रचना का निर्माण हुआ। खिड़ियो जगो इसके लेखक हैं। मुराद और औरंगजेब के विद्रोह करने पर उज्जैन में १७१५ में युद्ध में आहुति देनेवाले रतनसिंह की प्रशस्ति में इस रचना का निर्माण हुआ।

महिलाओं ने भी काव्य-रचना की। बीकानेर की **झीमा चारणी** अनुमानतः १६वीं शती के मध्य तक वर्त्तमान मानी जाती है। वह युद्ध स्थलों तक पर जाया करती थीं। काव्य-कला की दृष्टि से इसका विशेष महत्व नहीं। **पद्मा चारणी** बीकानेर के अन्तःपुर की शोभा थी। अन्तःपुरी का काव्य द्वारा मनोरंजन करने के लिए यह वहाँ रखी गयी थीं। इनका समय १५६७ के आस पास माना जाता है। प्राप्त स्फुट कविताएँ सामान्य कोटि की हैं।

सोढ़ी नाथीरी कवित—**नाथी** नामकी महिला कृत है। निम्नलिखित वैष्णव धर्मसे प्रभावित भक्ति भावनापूर्ण ग्रंथों का निर्माण हुआ।

१—भगत भाव रा चंद्रायण	५—नीभ लीला
२—गूढ़ा रथ	६—बाल चरित
३—साख्या	७—कंस लीला
४—हरिलीला	—

डा० राजकुमार वर्मा अमर कोट के राजा भोजराज की पुत्री होने की संभावना नाथी के संबंध में प्रकट करते हैं और नैरासी की ख्याति के अनुसार वह ईश्वरदास की बहन ठहरती हैं।

ढोला मारवाड़ी चौपदी (अज्ञात) वर्षलपुर गढ़ विजय : महाराजा श्री सुजान सिंह जी रासो, ग्रंथ गाडण गोपीनाथ रव कहियोः रचना काल संवत् १८०३ से १८१०, के लेखक आचार्य गोपीनाथ हैं : आदि रचनाएं डिंगल में बाद में लिखी गयीं।

भाषा

इन ग्रन्थों की भाषा तत्कालीन राजस्थान की साहित्यिक भाषा है। इसे डिंगल के नाम से पुकारते हैं। अपभ्रंश से यह उत्पन्न हुई और वीर और शौर्य वर्णन के विशेष उपयुक्त है। इस भाषा में बराबर ग्रंथ रचना होती रही और उसमें संस्कृत और अरबी तथा फारसी के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी समय-समय पर होता रहा। छन्द पद्धति भी इन कवियों ने अलग अपनायी है। दोहा, पद्धड़ी, कवित्त आदि का व्यापक रूप से न्होंने प्रयोग किया है। ये छन्द भाव की अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध हुए।

धीरे-धीरे राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने लगा। राजस्थान ने मुसलमान शासकों की प्रभुता स्वीकार कर ली। भारत की वीरता विलासिता के अंक में खो गई,

तलवार की जगह नारी के कटाक्ष हिन्दू शासकों के खेलने के साधन बने । मुसलमानों ी कट्टरता बढ़ती गयी, उनके भय से सभी आक्रान्त रहे । परिणाम यह हुआ कि जन-जीवन में भी वीरता की मात्रा दिनोत्तर क्षीण होने लगी । बाद में शान्त और शृंगार की रचना ें हुईं । उसके लिए डिंगल उपयुक्त नहीं थी । वह तो तलवारों की खनखनाहट की ध्वनि की उद्बोध करा ेवाली रणचंडी की जिह्वा की भाँति दर्प से लपलपानेवाली, रण में हुंकार मचानेवाली भाषा थी । उसमें भक्ति, शान्ति और लौकिक शृंगार गुम्फन की सामर्थ्य कहाँ ? अतएव १४वीं शताब्दी के बाद धीरे-धीरे इसका क्षीण होने लगा और आज उसका प्रयोग उड़ सा गया है ।

स्वर्ण-युग

साधना-साहित्य

[१४वींसे १७ वीं शताब्दी]

सामान्य-परिचय

भारत के इतिहास का यह वह युग है जब भारत पर एक विरोधी धर्म और संस्कृति के कट्टर अनुयायियों का शासन स्थापित हो चुका था। मुहम्मद गोरी के उपरान्त उत्तरी भारत का शासन मुसलमानों के हाथ आ चुका था। मुसलमानों के शासन का नियंता सुलतान होता था, जिसकी शासन-पद्धति इस्लाम के सिद्धान्तों तथा उसके भावों पर आधृत होती थी। यद्यपि गुलाम, खिलजी एवं तुगलकों में अनेक प्रजाहितैषी एवं प्रतापी बादशाह हुए तो भी समस्त हिन्दी भाषी क्षेत्र पर उनका एकछत्र आधिपत्य स्थापित न हो सका और न स्थायी रूप से सामाजिक एवं सांस्कृतिक शांति ही अधिक समय तक विराज सकी। इन वंशों में अधिकांश शासक निकम्मे, अयोग्य एवं काठ की पुतलियों के समान थे। समय-समय पर शासन एवं उसकी नीति का परिवर्त्तन होता रहता था जिसका विषम और भयंकर परिणाम जनता पर पड़ता था।

आवागमन के साधन द्रुत न होने के कारण सर्वत्र सामन्तों का आतंक व्याप्त था। उनके द्वारा सुदूरप्रदेशों में नाना प्रकार के अत्याचार जनता पर किए जाते थे और जनता सब कुछ मौन होकर सहती थी। आकर्षण का मुख्य केन्द्र सुलतान होता था। सामन्तों का आदर्श भी वही होता था। वे भी उनका अन्धानुकरण करने में ही जीवन की सार्थकता समझते थे। अधिकांश सुलतान प्रायः विलासी हुए। उन्हें ऐश-आराम की दुनियाँ चाहिय थी, प्रजा का हितचिंतन उनका उद्देश्य रहा ही नहीं। सामन्तों का भी वही आदर्श बना, उन्होंने जनता के रक्त से अपने घरों में विलास के दीप जलाये। छोटा सामन्त बड़े सामन्त की चाटुकारिता में अपना समय व्यतीत करता था और उसके विलास का उपादान एकत्र करना अपना कर्त्तव्य समझता था। सामन्तों एवं छोटे-मोटे कर्मचारियों से लेकर सुलतान तक के विलास का बोझ जर्जर जनता पर पड़ता था। उसका मौन रहने में ही कल्याण था। हिन्दुओं के जो राज्य दक्षिण और राजपूताना में शेष बच रहे थे, उनमें से अधिकांश अपना अतीत भूल चुके थे और मानसिक तथा राजनीतिक पराभव स्वीकार कर चुके थ। एसे आत्महारों के लिये विलासिता जीवन का शृंगार बन चुकी थी और विलासिता के लिये जनता का अजस्र शोषण अधिकांश हिन्दू शासक भी कर रहे थे। झूठे दर्प और लिप्सा की भावना से आपस में ही वे लड़ रहे थे। इस आत्म-लिप्सा के नारकीय संघर्ष में जन-जीवन भुना जा रहा था। वे अपना कल्याण इस बात में समझते थे कि दिल्ली के शासक को कर देकर विलास की बंशी चैन से बजायी जाय।

यद्यपि मुगल शासन की स्थापना हो जाने पर स्थायी शासन नीति एवं शान्ति का अनुभव जन-जीवन में होने लगा तो भी समाज में जनता का शोषण कभी वन्द न हुआ। सामन्तवादी प्रवृत्ति जीवित ही रही और यह कहा जा सकता है कि मुसलमानी शासन के आरम्भ से ही जीवन का जो हनन एवं शोषण आरम्भ हुआ उसका अन्त भारत के स्वतंत्र होने पर ही संभव हुआ। पर उस युग में उस ओर संकेत करना भी प्राणों की बलि देना था।

भारत के नये शासकों का धर्म, जिसके आधार पर राजनीति का प्रवर्त्तन होता था, जनता के भीतर मत प्रसार में विश्वास रखनेवाला था। शासक से लेकर उस समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपना यह परम कर्त्तव्य समझता था कि इस्लाम का अधिक से अधिक प्रसार लोगों को मुसलमान बनाकर किया जाय। जिस हिन्दू-समाज में इस्लाम का प्रसार उन्हें करना था वह अब शासित था। उनके हाथ में सत्ता थी, सत्ताधारी किसी भी बल पर अपने कर्त्तव्य का पालन करने पर तुले बै े थे।

इधर जीवित हिन्दू समाज की पाचन शक्ति विलुप्त हो चुकी थी। जिस समाज ने शक, सीथियन और हूणों को पचाकर डकार तक नही लिया वही समाज इतना क्षीण हो गया था कि पचा े की तो बात ही दूर रही, स्वरक्षा में भी वह असमर्थ रहा। प्रारम्भ में इसके मूल में दक्षिण के सौराष्ट्र, बल्लभी, तथा कालीकट के हिन्दू शासकों की वह उदार व्यापारिक नीति थी जिसके कारण हिन्दू स्त्रियों से मुसलमानों को शादी करने की छूट दी गयी। मल्लाहों के घर पर कम से कम एक बच्चे को इस्लामी शिक्षा अनिवार्य की गयी और शासकों की ओर से मस्जिदें बनायी गयीं। जिसका परिणाम यह हुआ कि जाति की जाति मुसलमान वन गयी। हिन्दू-समाज की वह नीति जिसके बल पर वर्णों का भेद कर्मगत न रह कर जन्मगत माना जाने लगा, भी कम उत्तरदायी नहीं है। जातियों में उपजातियां बनने लगीं। एक जाति दूसरे जाति की पूरक न बनकर प्रतिस्पर्द्धी बन बैठी। एक जाति के लोग दूसरे जाति के लोगों से महान बनने का ढोंग रचने लगे। एक दूसरे को नीचा दिखाने लगे। एक उपजाति दूसरे से अपने को महान् समझने लगी और खान-पान, विवाह ए अन्य सामाजिक कार्यों में भी यह आत्मविग्रह परिव्याप्त होने लगा। यह दुराव भावना इसी से प्रकट होती है कि तव तक निम्न समझने जानेवाली जातियों में ही लगभग १२०० उपजातियां बन चुकी थीं। जातियों का यह बन्धन जो एक बार हिन्दू-समाज के लिये ढाल बना था, वही हिन्दू समाज के पतन के लिये द्वार खोल बैठा। समाज में हीन समझी जानेवाली ये उपजातियां कब तक अपनी मर्यादा को पानी की तरह बहा सकती थीं? सहने और सुनने की भी सीमा होती है। इसी विषम परिस्थिति का इस्लाम परस्त फकीरों ने लाभ उठाया। शेख इस्माइल उद्दौला यमनी, (११ वीं शती) और नूर सतागर (१२ वीं शती) (जिसे गुजरात की नीच समझी जानवाली जातियों को मुसलमान वनाया) जलालुद्दीन बुखारी सैय्यद अहमद कवीर एवं ख्वाजा मुईउद्दीन चिश्ती (१३ वीं शती) आदि फकीरों की परम्परा फरीदुद्दीन निजामुद्दीन औलिया, ख्वाजा कुतुबुद्दीन, शेख अल्लाउद्दीन अली एवं अहमद साबिरविरान ग्वालियर वाले ने अक्षुण्ण रखी और संकीर्ण जाति प्रथा के कारण हीन समझे जानेवाले एवं वहिष्कृत तथा पदमर्दित लोगों को काफी संख्या में मुसलमान

बनाया। इनकी सफलता के मूल में एक बहुत बड़ा कारण यह भी था कि जब हीन जाति के हिन्दू लोग मुसलमान बन जाते थे तो उनका सामाजिक महत्व उच्च वर्ण और जाति के हिन्दू भी स्वीकार कर लेते थे। सामाजिक प्रतिष्ठा की यह अभिवृद्धि भी इस्लाम के लिए कम उपादेय प्रमाणित नहीं हुई।

इन फकीरों के साथ ही साथ अनेक मुसलमान शासकों ने इस्लाम के प्रसार के लिए तलवार और राजसत्ता का भी सहारा लिया। इस काल में फिरोज शाह तुगलक (१३५१-१३८८ ई०) सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१७ ई०) कश्मीर के सिकन्दर (१३९४-१४१ई०) तथा शाहजहां और औरंगजेब (१६२२-१७०७ ई०) ने तो इसे चरम परणति पर पहुँचा दिया। हिन्दुओं पर नाना प्रकार के कर यथा जजिया आदि लगाये गये। मन्दिर ध्वंस कर उसी सामग्री से मस्जिदों का तथा पाठशालाओं की सामग्री से मकतबों का निर्माण कराया गया। इन शासकों ने इस्लाम परस्ती का वह नग्न-ताण्डव इस देश में आरम्भ किया जिसकी कहानी किसी भी मनुष्य का सर नीचा कर देने के लिए पर्याप्त है। फिर भी उस समय का मुसलमान अपना मस्तक ऊँचा कर चलता था और शासित हिन्दू को सर उठाने का अर्थ था अपनी बलि चढ़वाना।

जो नये मुसलमान होते थे वे पुराने मुसलमानों से भी कुछ मानें में कट्टर होते थे। एक तो यह कि उन्हें अपनी नयी बिरादरी को यह दिखाने का हौंसला रहता था कि वे किसी भी माने में अपने पुराने भाइयों से कम इस्लाम परस्त नहीं, दूसरे उनके मन में हिन्दू समाज के प्रति जो भयंकर विद्रोह भीतर ही भीतर युगों से सुलग रहा था उसके प्रति उनके मन में घृणा की भावना प्रतिहिंसा बन जल उठती थी, क्योंकि इस समाज ने उनके प्रति जो हीनता और घृणा का भाव प्रदर्शित किया था वह उनके लिए विष के घूंट से भी भयंकर प्रमाणित हुआ था।

इस्लाम के प्रचार-प्रसार में उसकी सामाजिकता तथा एकेश्वरवादिता ने भी पर्याप्त सहायता पहुँचायी। उनके यहां छोटा-बड़ा, गरीब-धनी, सबका अल्ला एक होता था जो सबके लिए एक होता था। इस भावना के कारण हिन्दू-समाज का वह वर्ग जो अत्यन्त निम्न समझा जाता था, जिसका मुख देखना भी पाप था, इस धर्म से अत्यन्त प्रभावित हुआ। दूसरी बात यह भी थी कि सामूहिक भावना से अनुप्राणित होने के कारण हिन्दुओं की व्यक्तिनिष्ठ धार्मिक-भावना इस्लाम के प्रसार को न रोक सकी क्योंकि जितना लगन और उत्साह अपने धर्म के प्रसार के निमित्त मुसलमानों में था उसका एक अंश भी हिन्दुओं के भीतर अवशिष्ट न था।

ऐसी विपन्न परिस्थिति में भी हिन्दू-समाज के कर्णधारों में उन लोगों की संख्या अधिक थी जो अपने स्वार्थ के कारण समाज को ले डूबने में सहायता पहुँचा रहे थे। उस समाज में कुछ ऐसे रूढ़िवादी पंडित थे जिन्होंने उसी प्रकार का एक नया स्वांग रचा जो सोमनाथ के ंदिर के रक्षार्थ रचा गया था। उनके अंध भक्तों की कमी भी समाज में नहीं थी। वे ुसलमानों को 'म्लेच्छ म्लेच्छ' कह कर उनको स्पर्श कर आयी वायु से भी घृणा कर रहे थे और अपने शिष्यों आाद को वही शिक्षा भी दे रहे थे। पर जो हिन्दू म्लेच्छ बन

रहे थे उन्हें बचाने का कोई भी उपाय उनके द्वारा नहीं किया गया। दूसरे समाज में ऐसे आस्था-प्राप्त साधु सन्यासियों एवं योगियों की बाढ़ थी जो समाज को धोखा देकर सरल निराश्रित जनता को अंधकूप में ढकलने का कार्य कर रहे थे। इनमें प्रमुख रूप से कनफटवे साधु, भ्रष्ट बौद्ध आदि थे। इन्होंने नाहक संत होने का स्वांग रच लिया था और समाज में जादू-टोना का सिक्का तो जमा ही रहे थे व्यभिचार पूर्ण भैरवी चक्र का प्रवर्त्तन भी कर रहे थे। उद्धारक ही भक्षक बन बै े थे।

इन विपन्न परिस्थितियों के होते हुए भी हिन्दू-जाति के पास हजारों वर्षों की जीवन्त परम्परा थी। यद्यपि उसकी पाचन शक्ति समाप्त हो चुकी थी तो भी वह मृत नहीं हुई थी। अभी तक इस्लाम के प्रसार को विश्व के अन्य देशों में इतने बड़े हिमालय सदृश्य अलंघ्य हिन्दू धर्म को मर्दित करने का अवसर नहीं मिला था। उनका इस्लाम शष्क रेगिस्तानी वातावरण में पल्लवित हुआ, फूला और फला था। उनके इस्लाम के वालुका कण में भारत की रससिक्त धरती को सोख जाने की सामर्थ्य कहाँ? सांस्कृतिक दृष्टि से इतना बड़ा संघर्ष विश्व के इतिहास में कभी हुआ ही नहीं। दो विरोधी संस्कृतियों का भारतवर्ष में यह युद्धात्मक संयोग एक नये चेतना सम्पन्न वातावरण के सर्जन में सफल हुआ। दोनों ने एक दूसरे की शक्ति पहचानी। विजेता जीतकर भी विजयी न बन सके। विजित युद्ध भूमि में गिरकर भी नयी प्रेरणा से अनुप्राणित हो जाग उठे। एक दूसरे के गुण की पहचान दोनों ने की। इस सांस्कृतिक, सामाजिक परिस्थिति का वर्णन करते हुए सर जान मार्शल ने लिखा है कि '**मानव जाति के इतिहास में ऐसा दृश्य कभी नहीं दिखायी पड़ा जब इतनी महान, इतनी सुविकसित और इतनी मौलिक संस्कृतियों का सम्मिलन और समिश्रण हुआ हो।**"

वास्तव में जो महान आन्तरिक संमिश्रण, सामीप्य, एवं समन्वय की मंगल भावना इस युग में इन दो विरोधी संस्कृतियों में दिखायी पड़ी वह अत्यन्त लोक-कल्याणी प्रमाणित हुई। इस समन्वयवादी दृष्टिकोण का भारतीय जन-जीवन पर निम्नलिखित प्रभाव दीख पड़ा।

१. औद्योगिक एवं वैज्ञानिक प्रभाव
२. धार्मिक प्रभाव
३. वस्तु-चित्र और संगीत कला पर प्रभाव
४. राजनैतिक प्रभाव
५. सामान्य-जीवन पर प्रभाव
६. साहित्य पर प्रभाव

भारतवर्ष ने मुसलमानों से नयी सामरिक कला सीखी। मुगलों ने तुर्कों और इरानियों से यूरोपीय रण-कला सीखी थी। भारत ने न केवल तोपों, बन्दूकों एवं बारूद का प्रयोग इनसे सीखा अपितु नयी सैनिक-व्यवस्था एवं किलेबन्दी की शिक्षा भी इनसे ग्रहण की। सामान्य जनता को उस युग में प्रायः सेना में ही अधिकांश नौकरी मिलती थी जिससे इस क्षेत्र में जीवन-यापन करनेवालों को एक नये ढंग के जीवन का अभ्यासी बनना पड़ा।

कागज बनाने की कला भी भारतवर्ष में मुसलमानों द्वारा ही आयी जो शिक्षा एवं साहित्य के प्रसार में सहायक प्रमाणित हुई। बागवानी के क्षेत्र में भी एक नवीन उद्यान-कला का दर्शन देश को हुआ जो नवीन सौन्दर्य की अभियक्ति कर एक नये स्वरूप में भारतीयों को सौन्दर्य बोध कराने में सहायक प्रमाणित हुई। ईरान और तुर्किस्तान में यह कला विकसित हुई थी और भारत में इसके इस ढाचे को **कला-विद् हैवल ने** कला के क्षेत्र में मुगलों की सबसे बड़ी देन बताया है। कृत्रिम प्रपातों, फव्वारों एवं नहरों तथा उसके चतुर्दिक घिरे पुष्प-उद्यानों ने मानव-मन को एक नये सौन्दर्य का बोध कराया।

समस्त उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत का कुछ अंश एक राजनीतिक सूत्र में आबद्ध हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे शांतिमूलक राजनीतिक एकता के कारण सामाजिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ना आरंभ हुआ। वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान तथा सामाजिक प्रथा पर भी इस समन्वय का प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं के यहाँ सेहरा और जामा का प्रयोग आरंभ हुआ। जो नये मुसलमान हुए थे उनके यहाँ अनेक हिन्दू प्रथाएँ चल रही थीं। मोदक (लड्डू) और अपूय (मालपूआ) के स्थान पर बालूशाही, शकरपारा, बरफी, हलवा आदि का प्रयोग भी हिन्दू घरों में आरम्भ हुआ।

समन्वय का यह दृश्य केवल सामाजिक जीवन में ही नहीं दीख पड़ा बल्कि मानस के भीतर भी प्रविष्ट हुआ। आवेश की पहली लहर में मुसलमानों ने मंदिर तोड़े किन्तु बाद में जब उनका शासन स्थापित हो गया तो उनके युद्धकालीन मनोभावों में स्पष्ट परिवर्तन दिखायी पड़ने लगा। अलाउद्दीन खिलजी आदि ने जो मस्जिदें बनवायीं उनमें भारतीय कला स्पष्ट है। बाद में फारस की कला को व्यापक रूप से स्थापित करने का प्रयत्न किया जाने लगा। १२८९ में बनी कुतुब मीनार पर भी भारतीय अलंकारों के दर्शन हुए। **शेरशाह** द्वारा बनवाये गये मकबरे में भी भारतीय भव्यता आजतक विराजती है। शेरशाह के समय तक यह पद्धति चली आती थी कि भवन अलंकार से भर दिये जाते थे। किंतु शेरशाह के मकबरे सौम्यता और सादगी के प्रतीक हैं। **अकबर** के बाद इस क्षेत्र में हिन्दू और मुस्लिम शैली का अत्यंत सुन्दर समन्वय हुआ तथा अलंकरण के क्षेत्र में संतुलित दृष्टिकोण दीख पड़ा। **जहांगीर** के समय भी अकबर द्वारा प्रवर्तित समन्वय उस समय की बन इमारतों में दिखायी पड़ता है। **अहमदाबाद, राजपूताना, जौनपुर** सर्वत्र ही यह समन्वय स्पष्ट रूप में दिखायी पड़ी है।

चित्रकला के क्षेत्र में भी उस युग की प्राप्त प्रथम कृति **बसंत विलास** (१५०८ सं०) में भी मानव का चित्र अलंकृत रूप से उपस्थित किया गया। चित्रों के क्षेत्र में भी व्यापक रूप से समन्वय का दृष्टिकोण दिखायी पड़ता है। **इंडिया आफिस, ब्रिटिश म्यूजियम** आदि में रखे तत्कालीन चित्र इसके प्रमाण हैं।

संगीत के क्षेत्र में भी उन्नति हुई। **बैजू बावरा** ध्रुपद प्रणाली के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका संस्कार भारतीय था। ध्रुपद के संस्कृत छंद अपने ढंग के अकेले गेय काव्य पद हैं। कला के क्षेत्र में कलावंत इसे आज भी सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। न केवल इस युग में इन पक्के गानों के सौरभ से संगीत झंकृत हुआ अपितु लोकप्रिय भजनों के भी

गाने का प्रचार राग-रागिनियों में हुआ। कौव्वाली आदि भी मस्ती के साथ गायी जाती थी। संत वाणियां भी गाते थे। **तानसेन** भी इसी युग की देन हैं। इस प्रकार संगीत की दृष्टि से भी यह युग चरम उत्कर्ष पर था। यहाँ तक कि नक्कारा बजाने में अकबर अत्यन्त माहिर था। अकबर के समय में संगीत की बड़ी उन्नति हुई। उस समय प्रायः जितने भी कवि हुए उनमें प्रायः सभी ने गेय पदों में रचना की। साधु और संत भी अपनी वाणियाँ गा गा कर सुनाया करते थे इस दृष्टि से संगीत जन जीवन में समा गया। उस समय हाथ से लिख कर साहित्य या विचारों का प्रसार सम्भव भी न था। संगीत के कारण पदों का व्यापक प्रभाव जनता पर पड़ता था।

इस तरह सामाजिक और अन्य कलाओं के विकास की दृष्टि से मध्य युग में कला अत्यन्त उन्नति पर थी और इसीलिए इतिहासरका इसे स्वर्णयुग के नाम से पुकारते हैं। सभी क्षेत्र में व्यापक समन्वय इस बात का प्रतीक है कि मानव ऐसी अभिव्यक्ति चाहता था जिसमें संतुलन हो। कुछ लोग इस संतुलन को पराभव का प्रतीक समझते हैं। किंतु साहित्य इस बात का साक्षी है कि उसने न केवल समन्वय किया अपितु राष्ट्र-निर्माण में अभूतपूर्व क्षमता के साथ जुटा भी। हिन्दी साहित्य के वैभव की दृष्टि से जितनी महान विभूतियाँ इस युग में हुई उतनी हिन्दी साहित्य के किसी भी युग में नहीं। साहित्यकार और दार्शनिक संत मानव जीवन को उन्नत बनाने में दत्त चित्त हो लगे थे। सब का रास्ता तो अलग-अलग दिखायी पड़ता है पर लक्ष्य सबका एक ही था। मानव को उस विराट सत्ता का उद्‌बोध कराना, जो जन-जीवन का नियामक है।

उस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि चारण कवियों की भाँति इस युग के साहित्यकार राजाश्रित नहीं थे। वे खुली वायु में सांस लेने वाले स्वतंत्र चिन्तक थे। उन्होंने जीवन देखा था, जगत देखा था, वे जानते थे कि किस प्रकार जीवन से संघर्ष कर मार्ग का निर्माण किया जाता है। किस प्रकार लोगों के भीतर व्यापक चेतना जाग्रत् की जाती है। वे विचारों के द्रष्टा और भविष्य के श्रष्टा थे। जिस समाज में वे पले थ उसको उन्नत बनाने का सुख स्वप्न उनकी आंखों में था जिसको अलग अलग ढंग से मूर्त्त रूप देने का व्यापक रूप से उन्होंने प्रयत्न किया।

भारत न केवल गांवों का समूह मात्र है अपितु सदैव से ही चिन्तन की और जीवन के दार्शनिक अभिव्यक्ति की परम्परा यहां रही है। अलौकिक सत्ता, जो जीवन दर्शन से आप्लावित है, उसे वह कभी भूला नहीं। यह उस मिट्टी पानी का असर है जहां के महर्षियों ने सभ्यता के प्रथम विहान में ही विचारों का साक्षात्कार किया था। दाशनिकों के इस देश में भी समय-समय पर एक ही विचार धारा को अपना भाग्य नियन्ता न बना कर युग और परिस्थितियों के अनुरूप विचारों में निरंतर परिवर्तन करने का क्रम जारी रहा। दार्शनिक चिन्तन की इस धारा में नवीन चेतना अंगड़ाई लेती रही। बौद्ध और जैन धर्म जब जनता से दूर हट गये उनके मुकुर पर जब धुन्ध छा गया तथा जनता अपना चित्र उसमें न देख पायी तब **शंकराचार्य** भारत को नये दार्शनिक किंतु चिरपुरातन विचार से अविभूत किया। उनका मार्ग मायावाद के नाम से जाना जाता है। **सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या** वाला सिद्धांत भी युग के अनुरूप न रहा। उसमें परिवर्तन की अपेक्षा का अनुभव भारत के सभी कोनों में किया जाने लगा। संसार को मिथ्या समझना उस युग के मानव के मस्तिष्क के लिए एक भ्रामक बात थी। नये रूप में नयी चेतना देश के कोनों-कोने

में जागी। भगवान जन-जीवन में पुनः अवतरित हुआ। कुछ लोग उस परम्परा को आगे बढ़ाते रहे जो सिद्धो और संतों द्वारा प्रवर्तित की गयी। किंतु नये रूप में, नय रंग में। कबीर आदि इस परम्परा के हिन्दी काव्य में सन्देश-वाहक हुए। रामानुजाचार्य ने मूर्त्त भगवान की कल्पना की। उन्होंने अवतार वाद के तत्वों का जन-जीवन में पुनः प्रवेश कराया। राम और कृष्ण लोक नायक भगवान के रूप में प्रतिष्ठित किये गये जो न केवल करुणासागर थे अपितु अपने भक्तों के त्राता और विधाता भी थे। वल्लभाचार्य और चैतन्य प्रभु न नया जीवन फूंका। लोक में कृष्ण की उन्होंने प्रतिष्ठा की। रामानन्द ने लोक में राम की प्राण प्रतिष्ठा की।

साधु-संत तो इस कार्य में दत्त चित्त हो लगे ही थे। सूफी फकीर भी मानव को भगवान का ही रूप वताकर जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न कर रहे थे। इस क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान सभी व्यापक रूपसे आये। साधु-संतोंकी चेतमा धारा विभिन्न रूपोंमें फूटी। साहित्य पर भी उसका उसी रूप में प्रभाव पड़ा। उस युग का काव्य दार्शनिक विचारों से अत्यंत प्रभावित हुआ। राजनैतिक चेतना का स्फुरण सामन्तवादी युग में अंगड़ाई ले नहीं सकता था। जोवन की महत्ता इन दार्शनिक विचारों में प्रतिष्ठित दीख पड़ती है, जिसमें आशा और नवजीवन का संदेश है। कवि इस युग का संदेशवाहक वना। अपने दार्शनिक लोक-कल्याणकारी विचारों को प्रसारित करने का सर्वाधिक सुन्दर साधन उसने साहित्य को समझा और उसी के द्वारा अपने विचारों का प्रसार भी उसने किया। इस युग के प्रायः सभी कवि, जिनकी गणना उच्च श्रेणी के साहित्यकारों में की जा सकती है, किसी न किसी सम्प्रदाय के प्रवर्तक रूप में या उसके अनुगामी के रूप में प्रकट हुए। अतएव बंधन की सीमा तो थी हो किंतु तुलसीदास, मीराँ, अपवाद हैं। यद्यपि सम्प्रदाय का यह व्यापक बंधन प्रायः सभी कवियों पर था तो भी अनेक की भाव-धारा हृदय की भाव-धारा के अत्यंत समीप पड़ती है यथा सगुण उपासना पद्धति या सूफी प्रेम पद्धति के अनुगामियों की, यद्यपि कहीं कहीं खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति का भी दर्शन होता है। एक सम्प्रदाय का कवि दूसरे सम्प्रदाय के कवियों की भाव-धारा को समाज के अनुपयुक्त ठहराता है किंतु कबीर आदि को छोड़कर प्रायः सभी कवि इसको साहित्य की सरस रसमय पद्धति पर कहते हैं। इसका सुन्दर साहित्यिक उदाहरण इस युग में निर्मित भ्रमर गीत हैं। सूफी और तुलसीदास तो महान समन्वयवादी दृष्टिकोण लेकर आये थे। उन्हें जो कहना था, जिसको उन्होंने युग के अनुरूप समझा, अपने ढंग से कहा। कबीर न केवल एक खण्डन-मण्डन करने वाले दार्शनिक के रूप में उपस्थित हुए अपितु उनके भीतर एक समाज चेता विद्रोही की सक्रिय भावना का भी दर्शन होता है। समाज की कट्टरता के शिकार तो सभी थे पर कबीर घौंस का जवाब लट्ठ से देने के पक्षपाती थे। प्रायः अन्य कवियों में अपने बात के कहने की रागात्मक प्रवृत्ति पायी जाती है जो अच्छे साहित्य का मूर्त्त प्रमाण है। सबसे बड़ी विशेषता इस युग की जो दिखायी पड़ती है वह यह है कि पूर्ववर्ती हिन्दी की काव्य धारा व्यक्ति पूजा की ऊबड़ खाबड़ संकुचित भूमि पर वहती थी, किन्तु इस युग के समर्थ कवियों ने व्यक्ति को त्याग काव्य को समाज गंगा के रूप में प्रवाहित किया। उस प्रवाह से अनेक धाराएँ फूटीं, जो गौरव की गाथा छिपाये हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि अमुक काव्यधारा अच्छी है, अमुक बुरी है, अमुक उपादेय है, अमुक अनुपयोगी, किन्तु यह कहने वाले प्रायः इस बात को भूल जाते हैं कि उस युग

के सभी कवि जिनकी गणना वास्तव में उच्चकोटि के कवियों में हो सकती है, तथा जो हिंदी की शोभा ह, उन्होंने अपने-अपने ढंग से समाज के कल्याण के लिये काव्य का निर्माण किया। जब मौलिक प्रतिभायें अनेक एक साथ उद्भूत होती हैं तो उनका सोचने का ढंग विलग-विलग होता है। अलग-अलग ढंग से उन कवियों ने समाज के मानस में जीवन की प्राण प्रतिष्ठा की। वे पूर्व परम्परा से अवगत थे और प्राय: उनमें से सभी (संतों को छोड़कर) पढ़े-लिखे पंडित थे। प्रतिभा के साथ ज्ञान का यह संयोग उस युग के साहित्य को उत्कृष्ट बनाने में अत्यन्त सहायक हुआ। उस युग में लोग यह जानते थे कि काव्य के व्यापक प्रसार के लिए सुन्दर संगीत तत्व की भी अपेक्षा है। **तुलसी, मीरां, सूर, कबीर** आदि सभी के पद गेय हैं। उन्होंने स्वर-साधना की थी। काव्य में स्थल-स्थल पर चित्रमयता के दर्शन भी होते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो इतना बड़ा समन्वयवादी युग काव्य की दृष्टि से हिन्दी की परम्परा को कभी भी प्राप्त नहीं हुआ।

जितनी जीवनीशक्ति इस युग के साहित्य में है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। यदि इस युग का समस्त हिन्दी काव्य भी विश्व की किसी भी भाषा के काव्य के समकक्ष रखा जाय तो हिन्दी की गरिमा बढ़ानेवाला ही होगा। अभी तक जितना भी हमारा भक्ति-काल का साहित्य उपलब्ध है, वह राजस्थान और मध्यदेश ही नहीं समस्त भारत के कृत-कारों की देन है। इस युग के प्राय: सभी उत्कृष्ट साहित्यकारों ने इस लोक की चिन्ता तो अपने साहित्य में की ही है, पारलौकिक विषयों पर तथा परमात्मा के सम्बन्ध में काफी चिन्तन अलग-अलग ढंग से किया है। साहित्य में धार्मिक भावना इस युग में चरम उत्कर्ष तक पहुँच गयी तथा रचनात्मक साहित्य का प्रणयन भी अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया! प्राय: कुछ लोगों को इस युग में राष्ट्रीय चेतना का अभाव दिखायी पड़ता है, किन्तु सामा-जिक नवनिर्माण की चेतना व्यापक रूप से युग के समस्त साहित्य में दिखायी पड़ती है। राष्ट्रीयता का क्या मूल्य उस युग में था इसे समाजशास्त्री जानते ही हैं? भाषा के सम्बन्ध में इस युग को ऐसा युग माना जा सकता है जब से हिन्दी के स्वतंत्र और प्रौढ़ रूप का दर्शन होता है। अवधी और ब्रज भाषा की रचना न केवल कलात्मक दृष्टिकोण से, न केवल भाव की दृष्टि से अपितु भाषा-सौन्दर्य की दृष्टि से भी अपनी उसी मर्यादा के अनुरूप ही हैं। अवधी के विकास के दृष्टि से इतना सुन्दर काल भारत के इतिहास में दिखायी नहीं पड़ता। **सूफी कवियों** तथा **सन्त तुलसीदास** ने उसमें प्राणवान सुन्दर साहित्य की रचना की और हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ **रामायण** अवधी में ही लिखा गया। परम्परा से प्राप्त भावधारा भी इस युग में लुप्त नहीं हुई। उसका रूप किसी न किसी प्रकार चलता रहा। इस युग में भी वीर-श्रृंगार की रचनायें होती रहीं। जहां तक राजाश्रित कवियों का प्रश्न है वे इस युग में भी भारत के तत्कालीन सम्राट तथा अन्य सामन्तों के यहाँ थ। कलावन्तों की पूछ बढ़ती गयी। वीर-गाथा काल की अपेक्षा इस युग में उनका सम्मान बढ़ा। **केशव, गंग** आदि राजाश्रित कवि अत्यन्त प्रतिष्ठा के साथ सम्मानित किय जाते थ। इस युग में रीतिशास्त्र के प्रणयन का कार्य भी आरम्भ हुआ। **रहीम, तुलसीदास** आदि कवियों ने इसका बीजारोपण किया और **केशव** ने उसका प्रवर्तन किया। रीतिकालीन भावनाओं का उद्रेक भी इसी युग में हुआ। कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं में साख्य भाव की जो परम्परा चली वह बराबर नया रूप लती गयी और उसका विकास रीति-

काल की कविता को मान सकते हैं । इस युग में अनेक धार्मिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति के लिये काव्य का निर्माण आरम्भ हुआ । अतएव यदि इस युग की भक्ति सम्बन्धी रचनाओं को सम्प्रदायों के आधार पर बाटा जाय तो अनेक सम्प्रदाय और विचार के कवि दिखायी पड़ग । आचा ' रामचन्द्र शुक्ल ने व्यापक रूप से उन्हें निर्गुण उपासक और सगुण उपासक के अन्तर्गत विभाजित किया है । निर्गुणों में ज्ञान मार्ग पर चलन वाले कावयों को, जिन्हें सन्त-काव्य के अन्तर्गत अन्तर्निहित किया जा सकता है, तथा सूफी कवि माने गये । सगुण उपासना में राम भक्ति और कृष्ण भक्ति नामक उपविभाग किये जाते हैं । राम और कृष्ण की भक्ति को लेकर इस युग में इन कवियों ने रचना की । इन समस्त कवियों का उपविभाजन इस्लामी प्रभाव और भारतीय प्रभाव वाले दो विभागों में भी किया जाता है । भारतीय प्रभाव के अन्तर्गत सगुण उपासना वाले और इस्लामी प्रभाव के अन्तर्गत निर्गुण उपासनावाले अर्थात् सन्त और सूफी कवि रखे जाते हैं । नीचे अलग-अलग साहित्यों की अनुक्रमणिका दी जा रही है ।

सिद्ध साहित्य और नाथ सम्प्रदाय की चर्चा पहले ही की जा चुकी है, और यह भी संकेत दिया जा चुका है कि इनका व्यापक प्रभाव संत मत पर पड़ा । निर्गुण सम्प्रदाय के महान् साधक **नामदेव कबीर** के पहले हुए । इनका नाम संत साहित्य में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है । इनका जन्म सतारा से थोड़ी दूरी पर **नर्सी बेनी** नामक गांव में सं० १३२४ में हुआ था । उन्होंने हिन्दी में भजन रचे । जिसका संग्रह गु ग्रंथ साहब में है । रामानन्द के १२ शिष्यों में से कबीर ने संत-मत का प्रवर्तन हिन्दी में किया । संत साहित्य के अध्याय में विशेष रूप से उसपर विचार किया जायेगा । किसी न किसी रूप मे संत साहित्य १८वीं शताब्दी तक निरंतर लिखा जाता रहा किन्तु उसके भीतर आपस की ही कलह विग्रह और विभिन्न उपसंप्रदायों में बटे लोगों द्वारा अपने सम्प्रदाय को उन्नत ठहराने की भावना ने उन्हें लोक जीवन से अलग कर दिया । इनके भीतर बुरे आचरण तथा पैसा कमाने का चस्का भी व्याप्त हो गया । **कबीर** आदि संतों की वाणियों के विरुद्ध ये चलने में नहीं हिचके । यद्यपि उन संतों के नाम पर ही इनका अस्तित्व था तो भी निरंतर ये उसकी उपेक्षा करते रहे । **कबीर** के मूर्तियों की पूजा आरंभ हुई जो इनके मत और सिद्धान्त के विरुद्ध था । इसका परिणाम यह हुआ कि समाज के भीतर इनकी मर्यादा समाप्त हो गयी और धीरे-धीरे ये लुप्तप्राय हो गये ।

संतों के मत का प्रसार उन लोगों में होता था जो पढ़े-लिखे नहीं थे, जो समाज से पीड़ित थे, जाति-पांति के बन्धन से जिनका सामाजिक बहिष्कार या अपमान हुआ था । **सुन्दरदास** को छोड़कर कोई भी संत न तो बहुत बड़ा पंडित न तो आचार्य ही हुआ जो पढ़े-लिखे लोगों में संत-साहित्य की प्रतिष्ठा कर पाता । काव्य-तत्त्व की दृष्टि से भी नके काव्यों म साहित्य की मर्यादा का या तो अतिक्रमण किया गया है या प्रचारात्मक रचनायें अधिकतर लिखी गयी हैं । अतएव अधिक समय तक इनकी रचनायें साहित्यिक दृष्टि से जीवित न रह सकीं भले ही उनमें सहज सुन्दर अभिव्यक्ति ही क्यों न कुछ लोगों को दीखे ।

संत काव्य की रूप रेखा

क—सिद्धान्त एकेश्वरवाद तथा निर्गुण निराकार ईश की उपासना । हठयोग द्वारा साधना की सिद्धि ।

ख-- ु की सर्वोपरि महत्ता ।

ग—मूर्ति पूजा आदि की व्यर्थता ।

घ--सामाजिक-जातिपाँति के भेद का उच्छेदन, मानव की समता का उद् घोष धार्मिक बाह्याडम्बर तथा पाखण्डों का उन्मूलन, अहिंसा- हण ।

प्रभावित करनेवाले तत्व—सिद्धों और नाथपन्थियों का प्रभाव, विशेषकर हठयोग के सम्बन्ध में इस्लामी प्रभाव, अन्य भारतीय प्रभाव । डा० रामकुमार वर्मा ने बड़ी ही विद्वतापूर्ण ढंग से सभी अध्यात्मिक भावनाओं का संकलन करने का प्रयत्न अपने आलोचनात्मक इतिहास में किया है। वह अत्यन्त समीचीन तथा सुन्दर है। उसे अविकल यहाँ दिया जा रहा है ।

१--क्रियात्मक

सत्पुरुष (निराकार, ईश्वर) नाम, स्मरण, अनहद शब्द, भक्ति सुरत, विरह, पतिव्रता-प्रम, विश्वास, 'निजकर्ता को निर्णय', सत्संग, सहज,' सारगहनी', मौन, परिचय, उपदेश, 'सांच', उदारता, शील, क्षमा, सन्तोष, धीरता, दीनता, दया, विचार, विवेक, गुरुदेव, आरती ।

२--ध्वंसात्मक

चेतवानी, भेष, कुसंडा, काम, क्रोध, लोभ, 'मोह, मान और हठता' कपट, आशा, तृष्णा, मन, माया, कनक और कामिनी, निद्रा, निंदा, स्वादिष्ट आहार, माँसाहार, नशा, 'आनदेवकी पूजा', तीर्थव्रत, दुर्जन । आदि

सामाजिक भावना के अंग निम्नलिखित हैं:—

१--क्रियात्मक

चेतावनी, समदृष्टि ।

२--ध्वंसात्मक

भेदभाव, चेतावनी ।

साहित्यिकता--

एक ही बातों का सभी कवियों द्वारा बार-बार उसी ढंग से तथा दृष्टि से पिष्टपेषण, सम्प्रादायिक मनोवृत्ति के प्रसार के रूप में साहित्य का उपयोग तथा साहित्यिकता का अत्यन्त अभाव ।

प्रयोजन--

अपढ़ जनता के भीतर अपने मत का प्रसार ।

भाषा--

पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी तथा विभिन्न बोलियों का मिश्रण ।

रस--शृंगार, शान्त, वीभत्स और अद्भुत रस ।

विशेषता--

काव्य में रहस्यवाद की उद्भावना ।

छन्द--

साखी, (दोहा) शब्दी (राग के अनुसार गेय छन्दों का निर्माण) झूलना, कवित्त, सवैय्या, हँसपद और सार ।

सूफी-काव्य की रूप-रेखा

सरल साधारण जीवन के भीतर आध्यात्मिक चेतना का उद्‌बोध कराने वालों में सूफी संतों का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। बारहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक सूफियों का प्रभाव था। उनका मार्ग हृदय के अधिक निकट था। व्यक्ति के प्रेम के विकसित रूप के द्वारा सूफी मत में प्रियतम मिलन की साधना विशेष रूप से आकर्षित करने वाली वस्तु है। साथ ही अपने मनोभावों को प्रकट करने के लिए इन्होंने प्रबन्ध काव्यों की रचना की। इन प्रबंध काव्यों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने लौकिक पक्ष के उन कथानकों को लिया जो कि समाज में प्रेम कथानक के रूप में बहुत समय से प्रचलित थे। प्रचलित कथाओं के द्वारा लोगों के ऊपर अधिक व्यापक प्रभाव डाला जा सकता है।

सूफी एक ईश्वरवादी होता है तथा आत्मा और हक (ईश्वर) में कोई भेद नहीं मानता। उसके भीतर अद्वैत भावना प्रधान है। आत्मा और हक के मिलन का एक मात्र उपाय प्रेम है। अंतिम अवस्था में आत्मा या परमात्मा म मिलन हो जाता है, और निःस्वार्थ, निष्काम प्रेम के द्वारा ही व्यक्ति परमात्मा से मिल सकता है। किंतु मार्ग में अनेक कठिनाइयां और बाधाएँ आती हैं जिनके लिये गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु न केवल मार्ग प्रदर्शन करता है अपितु ज्ञान के ज्योति से मार्ग को प्रकाशित भी करता है। इनके यहां आत्मा के लिये वंदा, प्रेम के लिये इश्क, परमात्मा के लिये हक, साधना की अंतिम अवस्था के लिये मारिफत, शब्दों का प्रयोग होता है और गुरु के लिये पीर शब्द का। सम्मिलन के बाद आत्मा फनां होकर बका के लिये तैयार होता है। स्थूल रूप से इनके ये सिद्धान्त हैं।

सूफी काव्य परंपरा के प्राणवान कवियों में मुसलमान ही अधिक हुए। कुछ हिन्दू कवि यथा **पाकर, काशी राम, प्रेम चंद, मृगेन्द्र** आदि ने भी रचनायें कीं किन्तु उनका कोई विशेष साहित्यिक महत्त्व नहीं है। इन्होंने दोहा चौपाई के मनसवी पद्धति पर प्रेम कथायें लिखी और हिन्दू मुसलिम संस्कृति के सम्मिलन का अच्छा प्रयास किया। इनका प्रभाव जनता पर संत कवियों से कम न था। संक्षेप में इनके साहित्य की रूप-रेखा इस प्रकार होगी।

१——प्रेम-कथा

इनके प्रेम कथाओं में सूफी-सिद्धांत का निरूपण होता है।

२——विषय

हिन्दू कथानकों के आधार पर हिन्दू आदर्शों की रक्षा करते हुए सूफी सिद्धान्तों की व्याख्या। इनकी प्रेम कथाएँ, एक प्रेमी की प्रमिका से अगाध प्रेम, विरह प्रेम की कठिनाइयों, गुरु द्वारा उपदेश, गुरु द्वारा मार्ग प्रदर्शन अंत में महामिलन और सूफी सिद्धान्तों के अनुसार आध्यात्मिक रूपक में, समाप्त होती हैं।

३——भाषा——अवधी

४——छंद——

दोहा, चौपाई की मसनवी शैली।

५--रस--

श्रृंगार--वियोग और संयोग दोनों पक्ष, और रस गौण रूप से ।

६--विशेषता--

सूफी रहस्यवाद का प्रवर्तन । साहित्य में आख्यानों की ठोस परम्परा । अवधी की संवृद्धि ।

रामभक्ति के साहित्य की रूप-रेखा

राम की भक्ति के अंतर्गत **रामानुजाचार्य** का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है इन्होंने विशिष्ट **अद्वैत मत** का प्रचार किया । उन्होंने समस्त प्राणियों को ब्रह्म के अंश के रूप में माना है तथा उनके दो भाग किये हैं । चित्त और अचित्त । जीव ब्रह्म से उद्भूत होता है और उसी में लीन हो जाता है । पर ब्रह्म या परमातमा से जीव का अस्तित्व अलग है । दोनों का निर्माण एक ही तत्त्व से होता है । दोनों का अस्तित्व अलग रहते हुए भी जीव ब्रह्म से नैकट्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है, और जीव और ब्रह्म का यह सम्मिलन प्रलय के बाद पुन: अलग हो जाता है । इसे दार्शनिक **रामा ज** के विशिष्टाद्वैत नाम से पुकारते हैं । **रामानन्द** नारायण और विष्णु की उपासना पद्धति के प्रवर्तक थे । **रामानुज** ने अपने मत का प्रचार भी किया किंतु उनके १४ गद्दी बाद **रामानन्द** ने विष्णु के अवतार के रूप में राम का रूप प्रतिष्ठित किया जो कि अत्यंत व्यापक रूप में तुलसी द्वारा युग में प्रतिष्ठित किया गया । संत संप्रदाय में भी **राम नाम रामानन्द** के शिष्य होने के कारण **कबीर** ने ग्रहण किया । किंतु राम के कथा की परंपरा नयी नहीं, साहित्य में बड़ी पुरानी है । जैन कवियों के अन्तर्गत कवि **स्वयंभू** की चर्चा की जा चुकी है और **भूपति** ने भी राम कथाओं की रचना तेरहवीं शताब्दी के अन्त में और चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में की । **भगवत, चंद, मुनिलाल** आदि कवि भी राम के सम्बन्ध में रचना पहले ही कर चुके थे । हिन्दुओं को राम के उस रूप में अत्यधिक प्रभावित किया जिसने **तुलसीदास** की शील शक्ति सौन्दर्यमयी राम की गरिमा का लोगों को उद्बोध कराया । बाद में रीतिकालीन राम को रसिया राम बना लिया गया और राम भक्ति का भाव यद्यपि जन मन में रहा और तुलसीदास की मान्यताओं के अनुरूप रहा फिर भी साहित्य में यह धारा क्षीण होती गयी और अन्त में आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त ने राम का मर्यादित रूप प्रस्तुत किया तथा राम की शक्ति पूजा पर **निराला** ने इतनी सुन्दर रचना की जितनी सुन्दर रचना खड़ी बोली में स्फुट रूप से नहीं की गयी । राम भक्ति के साहित्य में **तुलसीदास** जैसा महान कवि हुआ जिसकी कविता हिन्दी की सबसे बड़ी संपत्ति है । राम साहित्य की संक्षिप्त रूप रेखा यहां दी जा रही है ।

१—**विषय** : व्यापक दृष्टिकोण द्वारा लोक जीवन में कथाओं को आधार बना शील, शक्ति सौन्दर्यपूर्ण रामभक्ति का प्रसार ।

२—**मत** : विशिष्टाद्वैत के अनुसार साख्य भक्ति का प्रतिपादन ।

३—**शैली** : प्रबन्ध और मुक्तक ।

४—**भाषा** : अवधी और ब्रज तथा कहीं-कहीं बुन्देलखंडी, भोजपुरी, अरबी तथा फारसी शब्दों का उपयोग ।

५—रस : समान्यतः सभी । विशेष रूप से शान्त और शृंगार ।

६—छंद : दोहा, चौपाई, कुण्डलियां, छप्पय, सवैया, सोरठा, घनाक्षरी, तोमर, त्रिभंगी आदि ।

कृष्णभक्ति के साहित्य की रूप-रेखा

लगभग चौथी शताब्दी से ही कृष्ण का साक्षात्कार संस्कृत के वाङ्मय में होता है । कृष्ण का मधुर रूप युग के साहित्य में उपस्थित हुआ और बाद में बराबर वह चलता रहा । रीतिकाल में रसिया कृष्ण थे और आधुनिक काल में **हरिऔध** और **द्वारकाप्रसाद मिश्र** ने नये स्वस्थ रूप को क्रमशः प्रिय-प्रवास और कृष्णायन में उपस्थित किया । कृष्ण-चरित्र को लेकर हिन्दी में सर्वाधिक काव्य का प्रणयन किया गया जिसमें मुक्तकों की प्रधानता है । कृष्ण-काव्य के मुक्तक अपने चरम उत्कर्ष पर हिन्दी में मिलते हैं । प्रमुख रूप से इसके प्रवर्द्धक **वल्लभाचार्य** थे तथा साख्य भाव की मधुर उपासना पद्धति द्वारा कृष्ण भक्ति के साहित्य का प्रणयन किया गया । **सूरदास** इस धारा के सर्व-प्रमुख कवि हैं । इस साहित्य के सम्बन्ध में कृष्ण भक्ति के साहित्य के अध्याय में विचार किया गया है । यहाँ इसकी संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत की जा रही है ।

विषय—भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर कृष्ण के विभिन्न चरित्रों का वर्णन । रास-लीला, भ्रमर-गीत, नख-शिख-सौन्दर्य, गोप और गोपिकाओं का कृष्ण के प्रति प्रेम, ऋतु-वर्णन, नायिका-भेद ।

रस—शृंगार (संयोग और वियोग) शांत और अ ्भुत रस ।

भाषा—परिष्कृत व्रज भाषा ।

अब अलग-अलग उन कवियों पर तथा साहित्य पर विचार किया जायेगा । यह युग सभी दंष्टि से हिन्दी कविता के लिए स्वर्ण-युग था ।

—:०:—

संत-कवि

कबीर का मार्ग

कबीर निर्गुण उपासना पद्धति में विश्वास रखनेवाले संत-कवि थे। यद्यपि उनका ह्म निर्गुण और सगुण से परे था तो भी उन्होंने '**राम**' शब्द का ग्रहण अपने ब्रह्म के लिए प्रायः किया है। यह 'राम' शब्द उन्हें **रामानन्द** से प्राप्त हुआ था पर **कबीर** ने इसे उस रूप में ग्रहण नहीं किया जिस रूप में **रामानन्दी सम्प्रदाय** में राम ग्रहण किये जाते हैं। **कबीर** पंडित और विद्वान नहीं थे, उन्होंने अपना मार्ग लोक-जीवन में प्राप्त अनुभूतियों के आधार पर प्रशस्त किया था। वे क्रांतदर्शी तो थे ही उनके भीतर सारग्राही बुद्धि भी थी। इसलिए उन्होंने समाज में जो कुछ भी अपने दृष्टि से कल्याणकारी देखा उन सबका समन्वय करने का प्रयत्न किया। उन्होंने इन सब तत्वों से खिचड़ी नहीं बनायी अपितु उस भांति का प्रयत्न किया जिस भांति का प्रयत्न एक कुशल रंग-वेदता विभिन्न रंगों को मिला एक नये रंग की सृष्टि कर करता है।

उनके मत में जो तत्व मूलतः दिखायी पड़ते हैं वे इस प्रकार हैं:—

ईश्वर एक है। रूप, आकार तथा निर्गुण और सगुण से परे उसकी सत्ता है। वह संसार की सृष्टि करता है। वह घट-घट में रमने वाला है। उससे महा-मिलन जीवन का चरम साध्य है। उसकी प्राप्ति हठयोग की भक्तिमयी उपासना पद्धति से संभव है।

गुरु की महत्ता गोबिन्द से बढ़ कर है क्योंकि ब्रह्म से मिलन का पथ विना गुरु के ज्ञात हो ही नहीं सकता। इसलिए कबीर के शब्दों में:—

गुरू गोविन्द दोऊ खड़े, काकर लागूँ पांय।
बलिहारी वा गु की, गोविन्द दियो बताय॥

हठयोग द्वारा शारीरिक ए मानसिक क्रियाचों पर विजय प्राप्त करना ब्रह्म से मिलने का मार्ग है। साथ ही प्रेम की महती साधना भी इसमें समाहित है।

यह ो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहि।
सीस उतारे भुई धरै, तब पैठे घर माहि॥

कबीर ने माया के सत् रूप को ग्रहण किया। उनके अनुसार माया का जनक स पुरुष है। माया दो प्रकार की है। सत्य और मिथ्या। सत्य-माया ब्रह्म की साधन में सहायक होती है और मिथ्या माया सांसारिक जंजाल में जकड़ने का मायाजाल प्रस्तुत करती है।

डा. दिल्ली रमण रेड्डी
कल्याणी ... पुस्तकालय
58828

इसके साथ ही उन्होंने समस्त मानव के भीतर किसी भी प्रकार के भेद-भाव के विधान को तो अस्वीकार किया ही, सब में एक ही सांई को रमते तो देखा ही, अहिंसा के महान तत्व को भी अपने मत का एक आवश्यक अंग उन्होंने बनाया। एक दूसरे के प्रति प्रेम की व्यापक मंगलकारिणी भावना का विधान भी कबीर के मत में स्पष्ट दिखायी पड़ता है। नैतिकता को अत्यन्त व्यापक प्रश्रय भी दिया गया। इन तत्वों में से अनेक तो भारतीय हैं और अनेक मुस्लिम सभ्यता के सम्पर्क का परिणाम हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह मत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

"कबीर में ज्ञानमार्ग की जहां तक बातें हैं वे सब हिन्दू शास्त्रों की हैं जिनका संचय उन्होंने रामानन्द जी के उपदेशों से किया।" वेदान्तियों के कनक-कुण्डल आदि का व्यवहार भी इनके वचनों में मिलता है। इसी प्रकार हठ-योगियों के साधनात्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों (चन्द, सूर, नाद, बिन्दु, अमृत, औंधा, कुआं।) को लेकर ये अद्भुत रूपक बांधते हैं। वैष्णव सम्प्रदाय से इन्होंने अहिंसा का तत्व ग्रहण किया। ज्ञान मार्ग की बातें कबीर ने हिन्दू साधू-सन्यासियों से ग्रहण की, जिसमें सूफियों के सत्संग से न्होंने प्रेम तत्व का मिश्रण किया और अपना एक अलग ंथ चलाया।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास)

कबीर

निर्गुण साधकों में कबीर का स्थान अप्रतिम है। कहा जाता है कि ये जाति के जुलाहे थे और ऐसे जुलाहे जो प्रारम्भ में तो हिन्दू थे किन्तु बाद में इनका परिवार मुसलमान हो गया। जनश्रुति के अनुसार कुछ लोगों का कहना है कि यह हिन्दू परिवार में उत्पन्न हुए और मुसलमान परिवार में पाले पोसे गये। डाक्टर बड़थ्वाल की मान्यता है कि "कबीर मुसलमान कुल में केवल पाले ही पोसे नहीं गये थे, पैदा भी हुए थे।" इस बात को भी कुछ लोग मानते हैं कि ये विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे और लोक मर्यादा के भय से अपनी मां द्वारा लहरतारा (काशी) पर फेंक दिये गये तथा नीरू और नीमा ने इन्हें पाला पोसा था। संभव है कबीर के प्रबल विरोध के कारण उन्हें नीचा दिखाने के लिये यह प्रचार उनके प्रबल विरोधियों द्वारा किया गया हो। जो कुछ भी हो यह निर्विवाद रूप से सत्य भी लगता है कि किसी मुसलमान परिवार में उनका पालन-पोषण हुआ था। उनका पालन-पोषण हिन्दू भावों से प्लावित काशी के उस वातावरण में हुआ था जहाँ के जन-मन में भारतीय संस्कृति का अजस्र निवास है। कबीर के आचार-विचारों में भी जिस हिन्दुत्व का उद्रेक दिखायी पड़ता है वह भी इस बात का प्रमाण है कि कबीर हिन्दू संस्कृति के मनोभावों से अत्यन्त अनुप्राणित थे। उन्हें इस बात का गर्व था कि वे काशी के थे, भले ही जुलाहा थे। काशी का कण-कण पाण्डित्य की गरिमा से सदैव ही मंडित रहा है। वहां का जुलाहा भी अन्यत्र के ज्ञान गर्वित पंडितों से ज्ञान के क्षेत्र में कम नहीं। इसका उन्हें गर्व भी था। उनके पदों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि काशी के सांस्कृतिक वातावरण से उन्हें एक अन्यतम व्यामोह था और उन्होंने स्वयं कहा है कि "सकल जन्म शिवपुरी गँवाया"। कुछ लोग मगहर में उनका जन्मस्थान बताते हैं किन्तु ऐसा लगता है कि उनके किसी भक्त ने मगहर के होने के कारण मगहर की महत्ता बढ़ने की दृष्टि से यह कथा गढ़ी हो। यद्यपि उनका पर्यवसान मगहर में ही हुआ तो भी

जीवन के अन्तिम दिनों में काशी आने के लिये उनका जी मचल उठता था और मगहर का निवास वह उसी प्रकार मान उठते थे जिस प्रकार जल के बाहर मीन।

जीव-जल छाँड़ि बाहिर भइ मीना।
तजिले बनारस मति भई थोरी॥

इसके अनुसार काशी के प्रति मगहर में भी उनका प्रेम देखा जा सकता है।

कबीर के जन्मादि के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। कबीर का जन्म संवत् १४५५ के जेठ की पूर्णिमा को माना गया है।

१४५५ साल गये, चन्द्रवार एक ठाठ ठये।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरन वासी तिथि प्रगट भये।

: कबीर चरित्र-बोध :

पर डा० श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे १५४६ मानते हैं। क्योंकि गणना के हिसाब से ५५ में नहीं ५६ की पूर्णिमा को सोमवार पड़ता है। डा० रामकुमार वर्मा ने १४५५ ही माना है पर डा० बड़थ्वाल की राय में यह जन्म संवत् १४२७ के आसपास है।

गुरु

गुरु के सम्बन्ध में भी दो विचार हैं। कुछ लोग रामानन्द को कबीर का गुरु और कुछ लोग शेखतकी को उनका गुरु बताते हैं। शेख तकी दो हुए, मानकपुर वाले और झूंसी वाले। झूंसी वाले का सम्बन्ध तो इनसे हो सकता है किन्तु मानिकपुर वाले शेख तकी चिश्तिया का इनका कोई भी सम्पर्क नहीं था। झूसी वाले भी कदापि उनके गुरु नहीं हो सकते। भले ही तकी का उनके साहित्य में उल्लेख होने तथा झूसी में कबीर नाला होने के कारण उनके मुसलमान भक्त कुरुचिपूर्ण हिन्दू विरोधी भावना के कारण इसके द्वारा आत्मसंतुष्टि कर लें और उसके प्रमाण में अप्रामाणिक बाद के ग्रन्थों को प्रमाण-स्वरूप भी उपस्थित कर दें, पर वे वास्तव में रामानन्द के ही शिष्य थे। उनकी रचनाओं में जगह जगह राम का उल्लेख इसका प्रमाण है। उनके शिष्य धर्मदास, गरीबदास भी उन्हें रामानन्द का शिष्य मानते हैं। भक्तमाल (संवत १६४२) हित-हरि-वंशव्यास (संवत १५५९) भी यही मानते हैं। मोहे-सिन-फनी, कश्मीरवाले, जिनका उल्लेख डा० बड़थ्वाल ने कबीर एण दि कबीर पन्थ के आधार पर किया है, भी रामानन्द को इनका गुरु बताते हैं। यह इतिहासकार कबीर के सौ-डेढ़ सौ वर्ष बाद हुआ था। स संबंध में कबीर का निम्नलिखित पद उद्धृत किया जा सकता है।

आपन अये बहुतेरा : काहु न मरस पाव हरि केरा॥
इन्द्री कहां करै बिसरामा। (सो) कहां गये जो कहत हुते रामा॥
सो कहां गये जो होत सयाना। होय मृतक वहि पदहि समाना॥
रामानंद राम रस माते। कहहि कबीर हम कहि कहि थाके॥

रामानन्द की इतनी विशाल महिमा गाना कबीर जैसे अक्खड़ व्यक्ति के लिये तभी संभव था जब उन्हें वह पूर्ण रूप से अपना गुरु समझें। शेख तकी का उल्लेख करने वाले

समूहों का कोई भी प्रमाण संवत् १८६८ से पूर्व का नहीं है । **व्यस्कट** ने भी बड़े जोरदार शब्दों में **कबीर एण्ड दि कबीर पन्थ** में बड़े जोश-खरोश से **तकी** के गुरु होने का समर्थन कियाहै । संभवतः वह इसलिये कि कुछ नयी बातें कहने से लेखक का महत्त्व तो हो जाता है भले ही वे उल-जलूल क्यों न हो । इस संबंध में यह बात प्रसिद्ध है कि प्रारम्भ में **कबीर** की जाति के कारण **रामानन्द** शिष्य बनाने को तैयार नहीं हुए । परन्तु बाद में एक दिन सदैव की भांति वे पचगंगा घाट पर स्नान करने जा रहे थे । भोर में **कबीर** सीढ़ी पर लेट गये और जब उनके पैर से **कबीर** का स्पर्श हुआ तो एकाएक वह **'रामराम'** कह उठे । कबीर ने इस **रामराम** शब्द को यह कहकर ग्रहण किया कि आपने मुझे गुरु-मंत्र दे कृतकृत्य किया । गुरु पर शिष्य की यह विजय कहानी भारतीय संस्कृति की वह निधि अपने भीतर समेटे है जिससे एक नवीन चेतना-सम्पन्न नवजीवन का उदेक होता है । शिष्य ने गुरु की आंखें खोल दीं और उनके मानस् की परिधि आकाश सी विशाल हो उठी ।

कहा जाता है कि **कबीर** की शादी **लोई** नाम की महिला से हुई थी । पर डा० बड़थ्वाल **धनिया** नामक किसी स्त्री से बताते हैं जिसका नाम बदलकर **कबीर** ने **रामजनिया** कर दिया था । कबीर को एक पुत्र और एक पुत्री भी थी जिसका नाम **कमाल** और **कमाली** था । ऐसा ज्ञात होता है कि **कबीर** उससे संतुष्ट नहीं रहते थे और ऐसा लगता है कि कबीर के घर फक्कड़ मस्ती के कारण बाध्य होकर कबीर के पथ पर न चलकर परिवार को आर्थिक संकट से मुक्त करने के लिये **कमाल** को धनार्जन का मार्ग अपनाना पड़ा, जिससे **कबीर** जैसे व्यक्ति को, जो खाला का नहीं प्रेम का घर बनाने के पक्षपाती थे, विक्षोभ होना स्वाभाविक ही था । इसलिये कबीर को कहना पड़ा ।

डूबा वंश कबीर का, उपजा पुता कमाल ।
हरि का सुमरिन छांड़ के, ले आया घर माल ।।

इस युक्ति को बहुत से लोग इस प्रमाण में प्रयुक्त करते हैं कि **कबीर** के मृत्यु के बाद **कमाल** के कबीर-सम्प्रदाय के प्रवर्द्धन के मार्ग से विरक्त होने पर **कबीर** के शिष्यों ने **कमाल** के सम्बन्ध में ऐसी बात कही । लेकिन जो कुछ भी हो यह **कबीर** का धर्म के सम्बन्ध में साथ न देने के कारण **कबीर** द्वारा या उनके किसी भक्त द्वारा प्रचारित किया गया मानना असंगत न होगा । **क्षिति बाबू** के **'दादू'** के सहारे **पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी** इस बात को प्रमाणित करना चाहते हैं कि कबीर ने किसी सम्प्रदाय का संगठन नहीं किया बल्कि उनके शिष्यों ने कबीर-सम्प्रदाय की स्थापना की । किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है । **कबीर** ने दूर दूर तक अपने सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार किया । हिन्दू और मुसलमान दोनों को शिष्य बनाया । बड़े बड़े राजा और नवाबों को भी उन्होंने अपनी शिष्य मण्डली में सम्मिलित किया । **बघेल राजा वीर सिंह** और **बिजली खां** उनके शिष्यों में से थे, उनके साथ चेलों की जमात चलती थी । अपने मत के प्रचार के लिये जिस संगठित विरोध का सामना उन्हें जीवन में करना पड़ा उसके लिये एक संगठित शक्ति की नितान्त आवश्यकता थी और उन्होंने निश्चय ही इसका संगठन किया होगा क्योंकि जिस अक्खड़ स्वभाव की अभिव्यक्ति **कबीर** के पदों में मिलती है, उस अक्खड़ स्वभाववाला व्यक्ति संगठन के अभाव के कारण अपने मत के प्रसार पर किसी प्रकार का रोक लगने देना पसन्द नहीं कर सकता । यह उनके पौरुष का परिचायक है । इसीलिये उन्होंने सम्प्रदाय चलाया, चेले बनाये जिसमें सभी जाति के लोग थ । उनके प्रसिद्ध

चेलों में **धर्मदास, सूरतगोपाल, जागूदास और भगवान दास आदि हुए।** इन शिष्यों द्वारा छत्तीस गढ़, मध्यप्रान्त, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, पहाड़ के डोम तक इनके मत का प्रचार और प्रसार हुआ। जीवन में उन्हें काफी ख्याति भी मिली। उन्हें अपने अक्खड़पन के कारण किसी शासक के कोप का भाजन भी होना पड़ा था। कुछ लोग समझते हैं कि वह क्रूर शासक सिकन्दर था, किन्तु वास्तव में वह कोई दूसरा नवाब मालूम पड़ता है।

जीवन के अन्तिम दिनों में कहा जाता है कि कबीर का काशी में उग्र विरोध आरम्भ हुआ और इस विरोध के कारण उन्हें मगहर की शरण लेनी पड़ी। लेकिन अपने अक्खड़पन के कारण काशी से सतत व्यामोह होने पर भी उन्हें कहना पड़ा कि **"जो कबिरा काशी मरै तो रामहि कौन निहोर"** और **मगहर** में ही उनका देहावसान हुआ।

कुछ लोग उनकी मृत्यु संवत् १५०५ में मानते हैं और कुछ उसे १५७५ मानते हैं। दोनों अपने प्रमाण में निम्नलिखित दोहे उपस्थित करते हैं।

संवत पंद्रह सौ औ पांच मौ, मगहर कोकिये गवन।
अगहन सुदी एकादशी, मिले पवन में पवन॥ १॥
संवत पंद्रह सौ पछहत्तरा, कियो मगहर को गवन।
माघ सुदी एकादशी, रलौ पवन में पवन॥ २॥

डा० बड़थ्वाल इसे १५०५ मानते हैं।

कबीर की रचनाएँ

कबीर न तो पढ़े-लिखे थे, न जीवन में उन्होंने कागज और स्याही का स्पर्श ही किया था। उनका उद्देश्य भी काव्य का सर्जन नहीं था। वे तो अपने विचारों और मत के प्रचार के लिए पद रचना करते थे। यह बात उन्हें नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा से प्राप्त हुई थी, क्योंकि इसके द्वारा मत प्रचार में सुविधा होती थी। कहा जाता है कि जब **कबीर** की अवस्था ६४ वर्ष की थी तब उनके शिष्य **धर्मदास** ने उसका संग्रह किया था। पर वह प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। ऐसे तो कबीर की रचनाओं के कम से कम स्फुट संग्रहों की संख्या ६९ है पर वे एक दूसरे से लिये गये अप्रामाणिक और साम्प्रदायिक हैं। **क्षिति बाबू** द्वारा सम्पादित चार भागों में बोलपुर वाला संग्रह भी अध्ययन की पर्याप्त सामग्री देता है। इसके सौ पदों का **स्वर्गीय कवि रवीन्द्र बाबू** ने अंग्रेजी में भी अनुवाद किया था पर इसमें दूसरों की रचनाएँ भी **कबीर** के नाम पर आ गयी हैं। गुरु-ग्रंथ साहब में संग्रहीत पदों में से अनेक अप्रामाणिक ठहराये जाते हैं इसलिये कि इनमें से एक ही पद कई व्यक्तियों के नाम से संग्रहीत हैं और कुछ पद ऐसे हैं जिनमें **कबीर के चमत्कारों** का वर्णन भी है, वे सर्वथा अप्रामाणिक जँचते हैं। **बीजक** यद्यपि प्रामाणिक रचना मानी जाती है तो भी **डा० बड़थ्वाल** उसको भी पूर्ण प्रामाणिक नहीं मानते क्योंकि **स्वामी सुखानन्द** आदि की समझी जाने वाली रचनाएँ भी इसमें संग्रहीत हैं। **पूरन दास वाला बीजक** प्रकाशित बीजकों में सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है।

डा० श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित तथा **सभा** द्वारा प्रकाशित कबीर ग्रंथावली की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। इस सम्बन्ध में **डा० बड़थ्वाल** द्वारा उल्लिखित **प्रो०**

जुलेल्लाश का कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी मत को हीं पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपनाया है। जुलेल्लाश का कहना है कि "सम्पादक ने जो फोटो और प्रतिचित्र दिया है उससे इस बात का पता लगा लेना सरल है कि लिपि की मिती किसी दूसरे हाथ की लिखी है। संभव है हस्तलेख के दोनों लेखक समसामयिक ही रहे हों पर बाबू श्यामसुन्दर दास इस समस्या को हल नहीं करते और जैसा मैंने पहले ही कहा है इसे हल करने के लिए मेरे पास भी कोई साधन नहीं है। (बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरियंटल स्टडीज, लण्डन इंस्टिट्यूशन भा० ५ व भा० ६ पृ० ७४६--सम प्रावलमस आफ इडियन फाइलालोजी) इस सम्बन्ध में पर्याप्त सावधानी से परीक्षा कर स्व० डा० बड़थ्वाल इस निष्कर्ष पर पहुँचे। "पहले यह प्रथा थी और आज भी देखी जाती है कि लिपिकार पुस्तकों की विशेष भाग वाली प्रतिलिपियां कभी-कभी पहले से प्रस्तुत किये रहते थे और उन्हें किसी के हाथ देते समय उनके अन्त में तिथि जोड़ देते थे। इस प्रकार डाक्टर साहब अत्यन्त गंभीर विवेचना के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "ग्रंथावली को पूर्णतः प्रामाणिक मान लेने पर भी शंका उपस्थित हो ही जाती है।" यह ग्रंथावली जिन दो ग्रंथों पर आधृत है, डा० श्यामसुन्दरदास ने उनका लिपिकाल क्रमशः सं० १२५१ और १८८१ बताया है। इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। इन तीन पुस्तकों में जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है उनमें से भाषा को तथा साम्प्रदायिक हीनत्ता वाले पदों को विद्वानों ने कबीर के अध्ययन का आधार बनाया है। इसके अतिरिक्त कोई चारा भी तो नहीं ? क्योंकि उनके भक्तों ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार उनके विभिन्न लीला वाले अनेक पदों तक का भी संकलन उनके नाम से किया है। क्योंकि कबीर के नाम से उसी प्रकार मत-प्रसार में बाद के संतों को सहायता मिली होगी जैसी आज राजनतिक नेताओं को गांधी-नाम से मिलती है। इसलिए घपलेबाजी लगती है। कबीर के विरोधियों द्वारा उनके नाम से भी अनेक पद बना कर प्रसारित कर दिये गये हों तो भी कोई आश्चर्य नहीं।

कबीर का साहित्य

कबीर ने जिस समय पदों में अपने मत का प्रचार आरम्भ किया उस समय तक यद्यपि पुरानी हिन्दी 'अपभ्रंश' की रचनाएँ, विद्यापति की रचनाएँ तथा खुसरो की मुकरियां हिन्दी की सम्पत्ति बन चुकी थीं, तो भी साहित्यिक दृष्टि से युगान्तकारी महान रचना की परम्परा बहुत अधिक पल्लवित नहीं हुई थी। कबीर ने साहित्य को आधार बनाया। उन्होंने पदों की रचना अप े मत के प्रचार के लिए की। यह पद रचना की भावना उन्हें तत्कालीन समाज में व्याप्त अन्य सम्प्रदायों के प्रचार शैली की देखा-देखी ग्रहण करनी पड़ी। विशष कर नाथ सम्प्रदाय के हठयोगियों से। समाज में मत प्रचार के लि े पदों की रचना की उपादेयता आज भी संस्थित है क्योंकि उससे लोगों को सरल ही आकर्षित करने में सहायता प्राप्त होती है। पर उस रचना की ओर लोग विशेष रूप से आकृष्ट होते हैं, जिनमें संगीत का तत्व निहित है। ऐसा लगता है कि कबीर यद्यपि अनपढ़ थे तो भी पदों में संगीत की महत्ता से अनभिज्ञ नहीं थे। यह संगीत तत्व उन्हें सम्भवतः सतसंग और नाथ-सम्प्रदाय द्वारा प्राप्त हुआ रहा होगा क्योंकि उनके अनेक पदों में संगीत-सौन्दर्य का बोध होता है।

यद्यपि हिन्दी के अनेक विद्वानों का यह अनुरोध है कि कबीर इसलिये एक महान कवि हैं कि उन्होंने जीवन के विराट सत्य की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में की है। पर केवल सत्य के उद्घाटन मात्र से कोई भी रचना कविता नहीं हो सकती क्योंकि समाचार पत्रों में प्रकाशित समाचार, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, राजनीति के दांवपेचों के उद्घाटन करने वाले ग्रंथ, पद्यबद्ध होनेमात्र से साहित्यिक रचना नहीं समझे जाते। साहित्य में न केवल सत्य का उद्घाटन होता है अपितु शिव और सुन्दर का संयोग भी होता है। यह संयोग जितना ही रसमय पद्धति पर किया जाता है काव्य उतना ही अनूठा बन पड़ता है। पर कबीर की रचनाएँ, एक विश्वास और ऐसा विश्वास, जिसका सम्बन्ध पूर्णतया साहित्य से नहीं है: के प्रचार एवं प्रसार के लिए लिखी गयी हैं। कहीं-कहीं पर इन रचनाओं के भीतर काव्य के तत्वों का दर्शन भी हो जाता है अतएव कवि के प में भी कबीर की एकदम उपेक्षा नहीं की जा सकती। पर मत-प्रचारक के रूप में उनका अपना विशिष्ट स्थान है।

इन रचनाओं के विषय हैं, समाज और आत्मसाधना। समाज के निर्माण सम्बन्धी उनकी रचनाओं में वर्ण और वर्गभेद के ऊपर गहरा आक्रमण दिखायी पड़ता है। जाति-पांति के प्रति जो संकीर्ण भावना समाज में व्याप्त हो गयी थी उसके प्रति भी विद्रोह की जागरूक भावना के दर्शन कबीर की रचनाओं में होते हैं और वे एक वृहत्तर मानव की कल्पना करते हैं जो एक है, जो केवल पांच तत्व का पुतला मात्र है।

हिन्दू कहूं तो हौं नहीं, मुसलमान भी नाहि।
पांच तत्त्व का पूतला, गैबी सैले माँहि॥

ऐसी रचनाओं के द्वारा साम्य की भावना का प्रचार और प्रसार हुआ जो सामाजिक ृष्टि से अत्यन्त महत्वपूणथीं। साम्य-बुद्धि के प्रसार के लिए कबीर की रचनाओं में क व्यापक उत्कण्ठा का दर्शन होता है। यथा

समदृष्टी सतगुरु किया, मेटा भरम विकार।
जह देखो तंह एक ही, साहिब का दीदार॥
समदृष्टि तब जानिये, सीतल ममता होय।
सब जीवन की आत्मा, लखै एक सी सोय॥

समाज में सत्य-ग्रहण के आग्रह के साथ कुटिल लोगों को भी कबीर ने कोसा है, तथा उनकी भर्त्सना की है।

करनी बिन कथनी कथे, अज्ञानी दिन रात।
कुकुर ज्यों भूकत फिरे, सुनी सुनाई बात॥

पाखण्ड और आडम्बर का तीव्र विरोध तथा सत्य के ग्रहण का आकर्षण भी कबीर की रचनाओं में मिलता है। आडम्बर की पराकाष्ठा, नाहक का भेदभाव, नश्वर मानव की लिप्सा, इन सब के सम्बन्ध में कबीर ने व्यापक ृष्टि से विचार किया है। वे सभी सदवृत्तियाँ, जी तत्कालीन समाज के उत्थान के लिये कबीर की दृष्टि में परम आवश्यक थीं, प्रायः उनकी सभी रचनाओं में एक मस्त व्यक्ति की भांति मिलती हैं। अजब की

बेपरवाही, फक्कड़पन की शाहनशाही, आत्म संतोष का अनुभव उनकी रचनाओं के अध्ययन से होता है। उन्होंने स्वयं लिखा—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनवां बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सोई साहनसाह ॥

कबीर का रहस्यवाद

दूसरी बात जो हम उनकी रचनाओं में पाते हैं वह कवि की साधना से सम्बन्धित है। कबीर ने जगह-जगह अपनी जीवन की अनुभूतियों को भी समाज के उत्थान के लिए नीति के दोहों में व्यक्त किया है। उनकी कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जो मत की साधन से सम्बन्ध रखती हैं। इंगला, पिंगला, सुषुमा आदि हठयोग से सम्बन्धित पद निःसंकोच किसी दूसरे शास्त्र की सम्पत्ति हैं, इन्हें लेकर साहित्य के क्षेत्र में भी कबीर की गौरवगाथा गाना कोई साहित्यिक कार्य नहीं है। प्रायः लोग इन पदों को लेकर कबीर के सम्बन्ध में उनकी साहित्यिक महत्ता का गुणगान किया करते हैं। अगर यही स्थिति है तो तमाम उस साहित्य को भी जो हिन्दी में पद्यबद्ध रूप से वाणिज्य आदि के ऊपर मिलता है, साहित्य के अन्तर्गत लेना ही होगा। इधर कबीर के रहस्यवाद की भी काफी चर्चा उठायी गयी। कबीर के उन पदों को, जिनमें उन्होंने ब्रह्म से या सत्पुरुष से अपने हृदय का निवेदन पत्नी के रूप में किया है, रहस्यवाद के अन्तर्गत लिया जाता है। उदाहरण के रूप नीचे इनकी एक रचना दी जा रही है।

ए अखियां अलसानी, पिया हो सेज चलो।
खंभा पकरि पतंग असि डोले, बोले मधुरी बानी ॥
फूलन सेज बिछाय जो राखी, पिया बिना कुम्हिलानी।
धीरे पांव धरो पलंगा पर, जागत ननद जेठानी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोक लाज बिछलानी ॥

दूसरी प्रकार की रचनाएँ वे हैं जिनमें अनहद नाद और ज्योतिबिन्दु की बात रहस्यमय ंग से की गयी हैं। इसके भीतर ऐसी रचनायें आती हैं:—

गगन गरज बरसै अमीं, बादर गहिर गभीर।
चहु दिसि दमके दामिनी, भीजै दास कबीर ॥

तीसरी प्रकार की रहस्य भावनायें उनके उन पदों में मिलती हैं जिनमें कबीर ने परमात्मा के सान्निध्य के विलक्षण अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है। इसे वे गूंगे का गुड़ मानते थे। अतएव प्रतीकमयी भाषा में उसे कहते हैं। कुछ विशेष शब्द, विशेष अर्थों के प्रतीक के रूप में सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं। यह रहस्य-भावना—कहीं-कहीं पर आत्मा के भीतर परमात्मा के खोज सम्वन्धी पदों में भी पायी जाती है। कबीर ने रूपक बांध कर अपनी रहस्यमय वाणियों में अलौकिकक-आनन्द आबद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनकी उलटवासियों को भी रहस्यवाद के ही पद लोग बताते हैं। इस सम्बन्ध में **चन्द्रबली पांडय** का यह मत अत्यंत समीचीन एवं महत्त्वपूर्ण है। "**कबीर का रहस्यवाद प्रायः शुष्क और**

नीरस है, पर जायसी आदि का ऐसा नहीं। रहस्यवाद के साथ ही साथ अलंकार का विचार भी करना उचित जान पड़ता है। कबीर को अलंकार का ज्ञान नहीं था। साहित्यशास्त्र से ये परिचित नहीं थे। कला का इनमें सर्वथा अभाव है। कबीर के बहुत से पद्य रहस्यवाद के अंतर्गत नहीं आ सकते, उनमें दर्शन का निदर्शन है। 'वक्रोक्ति' की प्रधानता कबीर में भी ह। 'वक्रोक्ति' का अर्थ भाव-विधान के चमत्कारिक ढंग से है। उनका रहस्यवाद प्रायः अध्यवसाय पर ही अवलम्बित है। कुछ मुख्य-मुख्य बातों का कल्पित नाम रखकर कविता करना रहस्यवाद नहीं है। रहस्यवाद का सम्बन्ध भाव से ही है, भावविधान से नहीं। कबीर ने पति-पत्नी का रूपक देकर स जगत को नैहर मान, जीवात्मा को ब्रह्म की पत्नी कहा है। कबीर को कवि न कहना कविता के क्षेत्र को बहुत संकीर्ण करना अवश्य है, परन्तु उनको बहुत महत्व देना उलटी धारा को बहाना ै। उनके भावों की अपेक्षा उनका वाग्वैदग्ध्य ही अधिकतर लोगों को विस्मय में डाल देता है। भाषा तो मनमानी है।" --माधुरी, वर्ष १०, खंड १, संख्या ५

यद्यपि कबीर की रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की व्यापक अभिव्यंजना है तो भी उनकी शैली नाथ सम्प्रदाय के हठयोगियों की है। उन्होंने साखी और शब्दों में अपने भाव अभिव्यक्त किये हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि गुरु के उपदेशों को ही साक्षी या साखी माना जाता है। दोहे और साखी का ढांचा एक ही है किन्तु भावनाओं की दृष्टि से साखी दोहे से अलग है। नीति सम्बन्धी तथा साखी से विलग दोहे, दोहरा कहे जाते हैं। पदों को शब्द कहा जाता है। **कबीर** ने गीतों का भी प्रयोग किया है तथा देहातों में प्रयोग होने वाले कुछ छन्द कहरवाँ आदि भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। यद्यपि उनको साहित्यशास्त्र का ज्ञान नहीं था तो भी **कबीर** में अन्योक्ति आदि अलंकारों और अनुप्रासों का दर्शन इतस्तत् हो जाता है। उन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिये प्रभाववादी तार्किक शैली अपनायी। उनकी यह तर्क शैली उनके अक्खड़पन का प्रतीक तो है ही कहीं-कहीं उसमें चुटीला व्यंग भी है। उन्होंने उलटबासियों की भी सृष्टि की है। उलटबासियाँ **कबीर** के पहले भी लिखी गयी हैं। कहीं-कहीं इनकी उलटबासियों में रहस्य-भावना का भी स्पर्श है।

इनकी भाषा '**सधुक्कड़ी**' है। पढ़े-लिखे तो ये थे नहीं, छंद का तो इन्हें ज्ञान था नहीं, अलंकार की सौन्दर्य-गरिमा का इन्हें परिचय तो था नहीं, पर थे बहुश्रुत और बड़े घुमक्कड़। इसलिये जहां-जहां भी इन्होंने पर्यटन किया सब जगह की भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग इन्होंने किया। यद्यपि ये अपनी भाषा को ठेठ पूर्वी बताते हैं तो भी वह एक विचित्र प्रकार की खिचड़ी है जिसमें सभी भाषाओं के शब्द बेमेल से मिले दीखते हैं। **अवधी, ब्रज, खड़ी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी, संस्कृत और फारसी, सभी भाषाओं के शब्द इनकी रचनाओंमें मिलते हैं।** इस प्रकार भाषा की दृष्टि से इनकी रचनायें महत्त्वपूर्ण नहीं। इनकी महत्ता तो भावों के अक्खड़पन में है।

कबीर अपने समय के अक्खड़, फक्कड़, मौलिक क्रान्तिदर्शी तथा समाजसुधारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके द्वारा जनजीवन का कल्याण हुआ है। मध्यकाल में एक क्रान्ति का सर्जन हुआ है, जिसके लिये भारत उनका ऋणी है। संभव है काव्य की दृष्टि से उनकी महत्ता न हो लेकिन कवि के रूप में अपने भावों के कारण कबीर का एक अच्छा खासा स्थान है।

रैदास

रामानन्द के शिष्यों में **रैदास** का नाम भी लिया जाता है। कहा जाता है कि ये जाति के चमार थे। **मीराँ** के पदों में बड़ी श्रद्धा के साथ किसी **रैदासका** नाम स्मरण किया गया है। **मीरा** के ये गुरु भी कुछ लोगों द्वारा कहे जाते हैं। इनके फुटकर पद प्राप्त हैं। यद्यपि सगुण उपासना का विरोध इन्होंने नहीं किया तो भी यह सर्वत्र निर्गुणवादी अपने पदों में हैं। इनके आत्म-निवेदन के पदों में हृदय की अनुभूति तो है ही तत्त्व के भाव भी इन्होंने व्यक्त किये हैं।

दादू

सुप्रसिद्ध सन्त **दादूदयाल** संवत् १६०१ में अहमदाबाद में उत्पन्न हुए थे इनकी जाति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें मोची, धुनिया और कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण बताते हैं। **पं० सुधाकर द्विवेदी** इन्हें मोंची मानते हैं साथ ही **कमाल** का शिष्य भी। दादू ने अपने जीवन का अधिकांश समय पर्यटन में बिताया इस पर्यटन का मुख्य क्षेत्र राजस्थान, पंजाब और गुजरात रहा। **दराना** नामक स्थान में ये बस गये और वहीं संवत् १६६० में उनकी मृत्यु हो गयी। उनके वस्त्र आदि वहीं, अब तक स्मारक रूप में रखे हुए हैं। दादू कई भाषाओं के—सिन्धी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती तथा फारसी—ज्ञाता थे और इन सभी भाषाओं में उनकी रचना मिलती है। उनकी अधिकांश रचनायें राजस्थान मिश्रित हिन्दी में है।

रज्जब की एक साखी से ज्ञात होता है कि **सम्राट अकबर** ने इन्हें अपने दरबार में बुलवाया था जहां उनके सिद्धान्तों की सत्यता का परीक्षण कर सबने उनकी महत्ता एक मत हो मानी।

अकबर साहि बुलाइया, गुरु दादू को आप ।
सांचि झूठ व्योरो हुओ, तब रह्यौ नाम परताप ।।

दादू ने अपने चेले भी बनाये, जिनकी संख्या १०८ बतायी जाती है जिनमें अधिकांश कवि थे, छोटे-बड़े। **सुन्दरदास, गरीबदास, रज्जबदास, हरदास** आदि। इनमें साहित्यिक दृष्टि से **सुन्दरदास** का स्थान बहुत ऊँचा है।

डा० बड़थ्वाल का कहना है—"**सबके प्रति उनका भाई ऐसा व्यवहार रहता था जिससे वे दादू कहलाये और इनके द्रवणशील स्वभाव ने उन्हें दयाल की उपाधि दिलायी।**" **डा० क्षितिमोहन** सेन बावलों के दादू-बन्दना के एक पद के आधार पर अनुमान करते हैं कि इनका नाम **दाऊद** था जो बाद में दादू हो गया। इन्होंने साभर में **ब्रह्म सम्प्रदाय** की स्थापना संवत् १६३१ में की।

दादू के साहित्य का अध्ययन करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे **कबीर** के मार्ग के अनुगामी थे। **तुलसीदास** के ये समसामयिक थे। इनकी वाणियों में **कबीर** सा अक्खड़पन तथा असामाजिक वृत्तियों पर प्रबल प्रहार नहीं मिलता। वे कोमल और मीठी हैं। उनके साहित्य में कहीं भी उग्रता का दर्शन नहीं होता जो इनके पूर्व के संतों की रचना में पाया जाता है। स्थान-स्थान पर इनकी रचनाओं में कवित्व के उत्तम उदाहरण मिलते हैं। ये प्रम के अनन्य उपासक थे और प्रेम ही इनके जीवन का मल

ध्येय जान पड़ता है। भगवान के प्रति इनके विरह-निवेदन के पद अत्यन्त सरस बन गये हैं।

इनके सम्प्रदाय में मुख्य रूप से दो शाखायें बाद में हो गयीं। **भेषधारी विरक्त और नागा। भेषधारी** भगवा वस्त्र धारण कर साधु सन्यासियों की भाँति जीवन व्यतीत करते हैं और नागा श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ होते हैं। इनके यहां विवाह वर्जित है। शिष्यों द्वारा इनकी परम्परा चलती है। नराना-स्थित इनके शिष्य **खालसा** कहलाते हैं। **बनवारी** नामक एक शिष्य ने **उत्तराधी** नाम से **दादू पंथ** की एक नयी शाखा चलायी।

उनके दो शिष्य **संत दास और जग्गन दास** ने स र्वप्रथम **डरडे वाणी** के नाम से इनकी वाणियों का संग्रह किया। **रज्जब** ने **अंग बन्ध** नाम से पुनः उनका सम्पादन किया। **पं० सुधाकर द्विवेदी, श्री चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, रायदलगंज सिंह और श्री क्षितिमोहन सेन** तथा हाल में श्री **स्वामी मंगलदास**ने भी इनकी वाणियों का सम्पादित-संस्करण छपवाया। इनकी दूसरी रचना **'कामवेली'** है। सभी पदों में निर्गुण उपासकों सी सतगु की महिमा, ईश्वर का यशोगान, हिन्दू मुसलमानों का अभेद सम्बन्ध, जातिपात का निराकरण, संसार की अनित्यता तथा आत्मबोध, रहस्य की प्रधानता के साथ प्रेम तत्व का प्राधान्य है जो सरस, गम्भीर और मृदु है। इनकी रचनाओं का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है।

सबद दूध घृत रामरस, मथि करि काढ़ै कोई ।
दादू गुरु गोविन्द बिन घटि घटि समझि न होई ।।
घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सबही ठौर ।
दादू बकता बहुत हैं मथि काढ़े ते और ।।
तिल में तेल दूध म घृत हैं दार मांहि पावक पहचानि ।
पुहप मांहि ज्यों प्रगट वासना रक्षे मांहि रस कहतब जानि ।।

सुन्दरदास

सन्त काव्य की परम्परा में सुन्दरदास सर्वाधिक शास्त्रीय विद्वान्, कवि हृदय संत हुए। ये खण्डेलवाल वैश्य थे और जयपुर के देवसा नामक स्थान में चैत्र शुक्ल ९ संवत् १६५३ में उत्पन्न हुए तथा इनकी मृत्यु कार्तिक शुक्ल ८, संवत् १७८६ में हुई। ६ वर्ष की आयु में ही यह दादू के शिष्य हो गये। तब से प्रायः इनके साथ रहे। इन्होंने काशी में ३० वर्ष की आयु तक शिक्षा ग्रहण की थी। व्याकरण, वेदान्त, पुराण इनके ि य विषय थे तथा फारसी का भी इन्हें ान था। **सेखावाटी के नवाब अलिफ खां** इनका बहुत सम्मान करते थे। लम्बे-चौड़े व्यक्तित्व के अत्यन्त सुन्दर व्यक्ति तो ये थे ही, स्वभाव के भी अत्यन्त सरल एवं मृदु थे। बाल-ब्रह्मचारी तथा स्त्री-समाज से दूर रहनेवाले इस संत के भावुक हृदययुक्त काव्य-कला में ज्ञान के संयोग से संत-काव्य की जो साहित्यिक झांकी मिली वह हिन्दी के सन्त काव्यधारा में अपने स्थान पर अनूठा है। देश-देश में घूमने के कारण इनकी अनुभूति की परिधि व्यापक रही। इन्होंने मजी हुई, सरस प्रौढ़ ब्रज-भाषा में रचना की। इन्होंने संत कवियों की भांति न केवल पदों की रचना की है, अपितु कवित्त और सवैये भी लिखे हैं। इनके कवित्त और सवैये सरस तो हैं ही, उनमें यमक, अ ुप्रास और अर्थालंकारों की सुन्दर योजना भी की गयी है। काव्य का विषय, भक्ति ज्ञानचर्चा-नीति तथा देशाचार है। विभिन्न स्थानों के आचार-व्यवहार

पर इन्होंने अनेक विनोदपूर्ण उक्तियां भी कहीं हैं। दार्शनिक विषय यथा तत्ववाद आदि को भी इन्होंने काव्य का विषय बनाया। यद्यपि इनके पदों में स्वभाव सिद्ध मौलिकता नहीं है तो भी अपनी व्यापकता के कारण संत-साहित्य में उनका मौलिक स्थान है। उनकी कविता का नमूना दिया जा रहा है।

पति हूँ सूँ प्रेम होय पति हूँ सूँ नेम होय,
पति हूँ सूँ छेम होय पति ही सूँ रत है।
पति ही है जज्ञ-जोग, पति ही है रस-भोग,
पति हूँ सूँ मिटै सोग, पति ही को जत है।
पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुन्य दान,
पति ही है तीर्थ न्हान, पति ही को हम है।
पति बिनु पति नाहि पति बिन गति नाहि,
सुन्दर कसल बिधि एक पतिव्रत है।।

संभव है कि बहुत से निर्गुणियों की भांति ये चेला मूड़ने में अधिक सफल न हुए हों किन्तु काव्य की दृष्टि से इनकी रचनायें हिन्दी की निधि हैं।

दादू के शिष्यों में **रज्जब जी** और **जगन्नाथ जी** हुए, जिनका साहित्यिक दृष्टि से थोड़ा महत्व अवश्य है। यद्यपि **पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी** को **रज्जब** में आश्चर्यजनक विचार प्रौढ़ता, वेगवत्ता और स्वाभाविकता दृष्टिगत होती है, साथ ही उन्हें उनमें यह गुण भी दिखायी पड़ता है कि और लोग जिसको कई पदों में कहते हैं, रज्जब उस तत्व को छोटे दोहे में ही कह जाते हैं; पर वास्तव में इन्होंने केवल **दादू** के सिद्धान्तों का सरल काव्य भाषा में वर्णन भर किया है। इनका **छप्पय** नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। दादू के अन्य शिष्यों की कवितायें न तो कविता हैं, और न तो वे साहित्य है, अपितु पद्य में रचित विशुद्ध साम्प्रदायिक न्थ हैं। दादू के एक शिष्य **जगजीवन** ने सत्नामी सम्प्रदाय चलाया। **जगजीवन की वाणियां** निम्न कोटि की हैं।

सिख गुरु तथा अन्य संत कवि

हिन्दी साहित्य के अध्ययन की ृष्टि से **सिख संप्रदाय** के प्रवर्तकों का साहित्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रायः सभी सिख गुरुओं ने सुन्दर गेय पदों की रचना की। और सबसे बड़ी बात यह है कि न केवल इन्होंने अपनी वाणी का सम्मान किया अपितु अपने पूर्ववर्ती सन्तों का भी सादर सम्मान किया। सिख-संप्रदाय के प्रवर्तक **नानक सं० १५२६—१५९५** से लेकर दसवें गुरु तक बरावर भक्ति के भजन प्रसारित करते रहे किंतु सबसे बड़ी बात इनके अंतिम **गुरु गोविन्दसिंह** द्वारा यह हुई कि इन्होंने अपने **ग्रंथ गुरु-ग्रंथ साहब** का संपादन करा उसे **गुरू गद्दी** पर प्रतिष्ठित किया। समें प्रायः सभी पूर्ववर्ती संतों के साहित्य को एक जगह एकत्र करने का सुन्दर प्रयत्न किया गया है। इस **गुरु ग्रंथ साहब** में सभी संतों की वाणियां मिल जाती हैं, यह उनका बहुत बड़ा कार्य था। **गुरु** गोविन्द सिंह कृत, गोविन्द रामायण साहित्यिक महत्त्व की आदर्शप्रधान रचना है। ये लोग भी दोहा, साखी, श्लोक तथा गेय पदों में रचना करते थे। सिख गुरुओं में गुरु **अंगद : १५६१ : गुरु नानक** के शिष्य थे। ये तथा **अमर दास, रामदास, अर्जुन देव, गुरु तेग बहादुर** आदि सभी रचनायें करते थे। अन्य संत कवियों में **शेख फरीद आनंद घन,**

मलूक दास, अक्षर-अनन्य, गुलाल साहब, गरीब दास, चरण दास आदि का नाम लिया जा सकता है। **मीराँ** की भी गणना कुछ लोग संत साहित्यिकों में करते हैं किन्तु वास्तव में इन्हे कृष्ण भक्त कवियित्री मानना अधिक उचित होगा। **निरंजनी संप्रदाय के संत तुलसीदास** तथा **यारी साहब** का भी नाम संत कवियों में आदर के साथ लिया जाता है।

निर्गुण सम्प्रदाय में महिलाएँ भी थीं उनमें से अनेक कवियित्रियाँ भी हुईं। उनकी रचनाएँ सामान्य ढंग की हैं तथा उनमें उन्हीं भावों का प्रतिपादन किया गया है जिन भावों का प्रतिपादन संतों ने किया। उनमें काव्य की सरसता नहीं। उनके साहित्य की संक्षिप्त अनुक्रमणिका दी जा रही है !

उमा—सभा की खोज रिपोर्ट में इनके एक ग्रंथ का उल्लेख मिलता है। रचना सामान्य ढंग की, संतों की भाँति है।

पार्वती—इनकी वाणियाँ भौतिक जीवन के प्रति उदासीनता का प्रतिफल हैं।

सेवादास की वाणी में इनके कुछ पद प्राप्त हुए हैं। योगियों की ये प्रशंसक तथा शुष्कतम योग पद्धति में विश्वास करने वाली सामान्य कवियित्री हैं।

सहजोबाई

आपका जन्म दिल्ली के प्रतिष्ठित वणिक परिवार में सं० १७४३ में हुआ। उनका परिचय उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है:—

हरिप्रसाद की सुता, नाम है सहजो बाई।
ढसस कुल में जन्म सदा गुरु चरण सहाई॥
चरणदास गुरु देव, सेव मोहि अगम बसायो।
जोग जगत सो दुर्लभ, सुलभ करि दृष्टि दिखायो॥

चरणदास द्वारा प्रर्वतित **चरणदासी** संप्रदाय की संत साधिका कवियित्री हैं। इनकी प्राप्त समस्त रचनाओं का संग्रह वेलवेडियर प्रेस से **'सहज-प्रकाश'** नाम से प्रकाशित हुआ। **डा० बड़थवाल** इन्हें **दयाबाई** की चचेरी बहन मानते हैं। संतों ने जिन विषयों को काव्य का विषय बनाया, वही विषय **सहजो** के भी हैं। इनके अनेक पद राग रागनियों से भी युक्त हैं जो इनके संगीत-ज्ञान के परिचायक हैं। इन पर सूफी प्रभाव भी इतस्ततः दीख पड़ता है। विनय, भक्ति, उपालंभ भी इनके पदों म मिलता है जो भागवत संप्रदाय से प्रभावित लगता है। इनके पदों में रागात्मकता का गुण है जिसका सहज प्रभाव हृदय पर पड़ता है। ये अपने चरणदासी सम्प्रदाय की प्रमुख प्रचारिका एवं साधिका तो थी हीं साथ ही संतमत की सर्वोत्तम प्रमुख कवियित्री भी हैं।

दयाबाई

ये भी **चरणदास** की शिष्या थीं। इनका जन्म संवत १७७५ में दिल्ली में हुआ माना जाता है साथ ही ये चरणदास की सेवा में उन्हीं के मंदिर में रहती थीं। इनकी दो रचनाएँ **दयाबोध** और **विनयमालिका** प्राप्त हैं। इनकी रचनाओं में रसमयता अन्य संत कवियित्रियों से अधिक है। वर्ण-विषय इनका भी प्रायः वही है जो सहजो का है।

इनकी रचना दयाबोध संतों की वानियों में विशिष्ट स्थान रखती है तथा ओज और माधुर्य की रमणीयता उनमें हैं।

इन्द्रामती

(संवत १७८६-१६८३ के मध्य)

धामी पन्थ के प्रवर्तक पन्ना निवासी **प्राणनाथ** की जीवन संगिनी इन्द्रामती उनकी प्रेरणा थीं तथा उनके साथ रचना भी करती थीं । इनका पति हिन्दू मुसलमान और ईसाई सब में प्रेम और सद्भावना का प्रचार किया करता था तथा अपने को मेहदी, मसीहा और कल्कि घोषित करता था । यह ओरछा नरेश का समसामयिक था । इनके सम्प्रदाय के विशालकाय धर्मग्रंथ में, जिनमें प्रारम्भ के कुछ पृष्ठ नहीं हैं, इनकी रचना मिली है । रचनायें साहित्यिक न होकर मत का प्रचार करने वाली हैं ।

सूफी-कवि परम्परा

प्रेमाख्यान काव्य

सामान्य-परिचय

देश में हिन्दू और मुसलमान जब एक साथ शान्तिपूर्वक रहने लग गये तब दोनों सम्प्रदायों में कुछ ऐसे लोग दिखायी पड़े जिनके हृदय में मानवता के प्रति प्रेम था। हिन्दी भाषियों में भी ऐसे ही विचार वाले अनेक संत कवि हुए जिन्होंने इस बात का अथक प्रयत्न किया कि मानव, मानव के प्रति अधिक उदार हो, धर्म सहिष्णु हों क्योंकि सबके भीतर एक ही खुदा और परमात्मा का वास है। बाह्याडम्बर के भीतर लोग वर्गवाद की सीमा में इस बुरी तरह घिर रहे थे कि मानव, मानव को भूल रहा था। उसका बोध कराने का प्रयत्न ऐसे संत कवियों ने किया। उनका प्रभाव भी लोगों पर पड़ा। पर उनकी वाणी अटपटी थी, वे अनपढ़ थे इसीलिये सामान्य जनता तो उनसे प्रभावित हुई पर महत्तम साहित्य के निर्माण में उनका विशेष हाथ न हो सका। दूसरी ओर प्रेम की पीर पहचानने वाले उन सूफी कवियों का प्रभाव व्यापक था, जो पढ़े-लिखे थे और जिनकी रचनाओं में व्यापक हृदय की रागात्मक वृत्ति का परिपाक था। यद्यपि ये जन-जीवन को उतना प्रभावित न कर सके तो भी काव्य कीदृष्टि से इनकी महत्ता अत्यंत अधिक है।

इन्होंने प्रेम कथानकों पर अवधी भाषा में अनेक प्रबंध काव्य लिखे। साहित्य का भंडार बढ़ाया। इन्होंने अपनी कहानियों का आधार लोक में प्रचलित उन काल्पनिक प्रेम-कथाओं को बनाया जो लोगों के बीच में बहुत दिनों से कही और सुनी जाती रही हैं। इन्होंने प्रचलित कथानकों में कल्पना और ऐतिहासिकता का भी पुट दिया। कहीं-कहीं कुछ ने कल्पना के आधार पर प्रबंध काव्य का प्रणयन किया। सभी सूफी कवियों ने प्रेम कथानकों की इस परम्परा को इस भांति अपनाया कि उसका बाह्य आकार ऐसा लगता है कि छन्दों के प्रयोग से लेकर कथा की सृष्टि और कथन की प्रणाली में एक सा है। इन्होंने प्रेम कथाएँ तो भारतीय रखीं किन्तु उसमें उड़नेवाली नारी यथा परी की कल्पना फारसी ढंग पर की। पशु पक्षियों द्वारा कथानक को गति प्रदान करने का कार्य भारतीय परम्परा से ग्रहण किया गया। प्रायः सभी सूफी रचनाकार अवध में उत्पन्न हुए थे, सभी मुसलमान थे और सभी ने दोहे और चौपाई की वह शैली अपनायी जिसमें, बाद में, हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य थ **रामचरित मानस** लिखा गया। पर इन्होंने प्रबंध काव्य की सर्गबद्ध भारतीय पद्धति न अपना कर फारस की मसनवी शैली अपनायी।

सूफी मत के फकीर अपने मत का समर्थन कुरान से करते हैं। इनका प्रादु वि मोहम्मद की मृत्यु के दो या तीन सौ वर्ष बाद हुआ। पहले सादे जीवन को ही सूफी सब कुछ समझते थे किन्तु बाद में चिंतन और मनन के बल उनकी यह आस्था हो चली

कि जगत और जीव भी ब्रह्म ही हैं। उन्होंने तत्वमसि के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। एकेश्वरवाद के समर्थक कट्टर मुसलमानों ने इसे कुफ्र ठहराया। इस कारण इन्हें उनका कोपभाजन भी बनना पड़ा और मंसूर को तो इस उद्भावना के लिए फांसी पर भी चढ़ना पड़ा। मुसलमानों का ईश्वर निराकार होता था किन्तु सूफियों ने उसे कण-कण में व्याप्त देखा। इससे निराकार खुदा की नीरस भावना के भीतर आनंद के एक मनहर भाव की प्रतिष्ठा हुई जिससे लोगों के भीतर प्रेम की भावना के पल्लवन को आधार मिला।

इस सूफी सम्प्रदाय में भारतीय अद्वैतवाद की एक गहरी और स्पष्ट छाप दिखती है। भारत में सर्वप्रथम सिन्ध और पंजाब की ओर सूफियों का प्रभाव बढ़ा, इनकी चर्चा भक्ति-युग के सामान्य परिचय में की जा चुकी है। जो सूफी फकीर प्रेम के प्रसार में व्यापक योग दे रहे थे उन पर भी वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा, यथा अहिंसा वृत्ति का ग्रहण उपनिषदों में वर्णित प्रतिबिम्ब वाद (ब्रह्म बिम्ब है, और जगत प्रतिबिम्ब) का प्रभाव भी इन पर पड़ा, जिसका स्पष्ट आभास **जायसी** में दिखायी पड़ता है। चार भूतों के स्थान पर भारतीय पंच भूतों के सिद्धान्त को भी इन्होंने अपनाया। कहीं-कहीं योग की बात भी इन्होंने की। इस प्रकार इनके भीतर एक उदार संग्रही सत् हृदय का दर्शन होता है। ये अच्छे तत्वों को कहीं से भी ग्रहण करने में हिचकते नहीं दिखायी पड़े, यद्यपि इनका मूल सिद्धान्त यह है कि ईश्वर हमारा प्रियतम है। वह कण-कण में व्याप्त है। कण-कण में उसकी लीला व्याप्त है। उसके पास तक पहुँचने का साधन लौकिक प्रेम है जो साधना के रूप में आगे बढ़कर अलौकिक हो उठता है।

रहस्यवाद की चर्चा जोर पर थी। कुछ दिन पूर्व तक हिन्दी में प्राचीन कवियों में भी रहस्य की भावनाएँ देखी जा रही थीं, किन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो सच्चे रहस्यवादी कवि ये सूफी ही हुए। मानवीय प्रेम के तत्त्वों से सूफी कवि ऊपर उठकर अन्तर के अज्ञात रहस्य तत्त्वों की अभिव्यक्त करने लगे।

सूफी कवियों में सर्वप्रथम **अलाउद्दीन** के समकालीन **मुल्लादाउद** नामक कवि का नाम लिया जाता है। **चन्द्रावत** नामक इसका लिखा प्रवन्ध काव्य बताया जाता है। पर उनकी कोई भी कृति अभी तक प्राप्त नहीं है।

कुतबन

सूफी सम्प्रदाय के कवि कुतबन की कृति उपलब्ध है। ये **शेरशाह** के पिता **हुसेन शाह** के आश्रित थे। इनके गुरु चिस्त वंश के **शेख बुराहम** थे। इनकी रचना **मृगावती** का उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलता है।

राजकुंवर कंचन पुर गयऊ, मिरगावति कह जोगी भयऊ ।।

अर्ध कथानक में भी मृगावती और मधुमालती की चर्चा जैन कवि बनारसीदास ने की है।

अब घर में बैठ रहे नाहिन हाट बजार ।
मधुमालती मृगावती, पोथी दोइ उचार ।।

इससे ऐसा आभास लगता है कि इस रचना का काफी प्रसार था। इसके भीतर चन्दर नगर के राजा और कंचनपुर की राजकुमारी **मृगावती** की प्रेम कथा वर्णित है। कथा सुन्दर कल्पना की भित्ति पर खड़ी है। राजकुमारी के रूप-माधुर्य पर आसक्त,

गणपति देव उसके दर्शन के पश्चात् उसे मानस की चिरसहचरी बनाना चाहते हैं। किन्तु अपनी उड़न विद्या के कारण राजकुमारी **गणपति देव** को धोखा दे चम्पत हो जाती है। इसी बीच **गणपति देव, रुक्मिणी** नामक एक सुन्दरी को एक राक्षस से त्राण दिलाकर अपनी परिणिता बनाते हैं। तब तक **मृगावती** अपने पिता **रूपमरारी** की मृत्यु के पश्चात् कंचनपुर की शासिका होती है और **मृगावती** से **गणपति देव** का मिलन होता है। अपने पिता के बुलावे पर बारह वर्ष पश्चात् वे अपनी दोनों पत्नियों के साथ घर लौटते हैं। शिकार के समय हाथी से गिर जाने पर राजा की मृत्यु होती है और दोनों रानियां सती हो जाती हैं। बीच बीच में प्रेम साधना की कठिनाइयों का मार्मिक चित्रण कवि ने किया है तथा कहीं-कहीं पर रहस्यात्मक स्थल भी आ गये हैं। इस ग्रंथ की भाषा अवधी है तथा मसनवी शैली का प्रयोग किया गया है। उनकी रचना का नमूना यहाँ दिया जा रहा है।

रुकमीन फुनि वैसेहि मर गई। कुलवंती सत सों सति भई।
बाहर वह भीतर वह सोई। घर बाहर को रहै न कोई।
विधि का चरित न जाने आनू। जो सिरजै सो नाहि विरानू।
गंगतीर लैके सर रचा। पूजी अवध कहीं जो बचा।
राजा संग जरी रानी चौरासी। ते सबके गए इंद्रकविलासी।
मृगावती औ रुकमिनी लैके जरी कुंवर के साथ।
भसम भई जर विलक में, चिह्न न रहा न गात ॥

मँझन

मँझन नाम के कवि की **मधुमालती** नामक रचना खंडित रूप में प्राप्त हुई है। पंडित **परशुराम चतुर्वेदी** और **पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी** इसे जायसी के बाद की रचना मानते है और **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** इसे जायसी की पूर्ववर्ती रचना ठहराते हैं। अपने समर्थन में कवि का लिखा हुआ यह दोहा **पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी** उपस्थित करते हैं।

सन नवसै बावन जब भये,
सबै बरस कुल परिहर गये,
तब हम जीं उपजी अभिलाषा
कथा एक बांधी बस भाषा।

द्विवेदी जी का कहना है कि सन् १५४५ ई० में यह लिखा गया था किन्तु डा० श्यामसुन्दर दास का मत है कि 'इसके रचना काल का ठीक पता नहीं, पर यह पदमावत के पूर्व लिखी ही नहीं जा चुकी थी वरन भलीभांति प्रसिद्ध भी हो चुकी थी और पद्मावत की रचना सं० १५९७ नें हुई अतः उसके कुछ वर्षों पूर्व ही इसका रचा जाना निश्चित है। जायसी ने जिस क्रम से इसका उल्लेख किया है उससे मधुमालती का मृगावती के पीछे लिखा जाना विदित होता है। इस प्रकार हमारे विचार से मधुमालती की रचना सं० १५७५-८५ के लगभग हुई।

आचार्य शुक्ल ने भी इन्हें जायसी का पूर्ववर्ती ठहराया है और प्रमाणस्वरूप **बनारसी दास** तथा जायसी की रचनाओं से सिद्ध किया है कि इनका रचना काल सं० १५५० और १५९५ के बीच में है। जायसी ने पद्मावत में लिखा है।

विक्रम धंसी प्रेम के वारा । सपनावति कहं गयउ पतारा ।
मधूपाद मगधावति लागी । गगनपूर होइगा बैरागी ।।
राजकुंवर कंचनपुर गयऊ । मिरगावति कहं जोगी भयऊ ।
साध कुंवर खंडावत जोगू । मधुमालती कर कीन्ह बियोगू ।।
प्रेमावती कह सुरबर साधा । उषा लागि अनिरुध बरवांधा ।।

जायसी की इस रचना से तो स्पष्ट आभास लगता है कि जायसी को पद्मावत की रचना से पूर्व ही इस ग्रन्थ का ज्ञान था, यह ग्रन्थ जनप्रिय था, अतएव यह पद्मावत के पूर्व की रचना ही मानी जा सकती है । **उस्मान** ने भी इसका उल्लेख किया है ।

मधुमालती ह्वयी रूप दिखावा
प्रेम मनोहर ह्वयी तहं आवा ।

दक्षिण के शायर **नसरती** ने भी संवत १७०० के लगभग **मधुमालती** के आधार पर **'गुलशने इश्क'** नामक प्रेमकथा लिखी । **मधुमालती मृगावती** की अपेक्षा रोचक तो है ही इसकी कथा का आधार व्यापक भी है । इसमें उपनायक और उपनायिका की भी कल्पना की गयी है । राजकुमार मनोहर और मधुमालती की प्रेम-कथा इसमें वर्णित है । अवधी में वर्णित यह प्रेम काव्य भी सूफी प्रेम काव्य परम्परा में अपना अत्यधिक महत्त्व रखता है ।

पांच पांच चौपाइयों के बाद एक एक दोहा है । उनकी कविता का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है ।

विरह-अवधि अवगाह अपारा । कोटि मांहि एक परै त पारा ।।
विहि कि जगत अंविरथा जाही । विरह रूप यह सृष्टि सवाही ।।
नैन विरह-अंजन जिन सारा । विरह रूप दरपन संसारा ।।
कोटि मांहि विरला जग कोई । जाहि सरीर बिरह-दुख होई ।।
रतन कि सागर सागरहि ? गजमोति गज कोइ ।
चंदन कि बन बन उपजै, विरह कि तन तन होइ ।।

जायसी

सूफियों द्वारा भारतवर्ष में जिस काव्य का सर्जन हुआ उनमें **मलिक मुहम्मद जायसी** की रचनायें सर्वोत्तम मानी जाती हैं । **मलिक मुहम्मद जायसी** अवध के जायस ग्राम के निवासी माने जाते हैं तथा **मलिक** इनकी पैत्रिक उपाधि मानी जाती है । **आखिरी कलाम** नामक इनकी एक पुस्तक मिली है जिसमें उनके जीवन वृत्त पर कुछ प्रकाश पड़ता है, अपने जन्म के सम्वन्ध में उन्होंने लिखा है—

भावतार मोर नौ सदी, तीस बरस ऊपर कवि बदी

इससे ऐसा आभास लगता है कि ये नौं सौ हिजरी में उत्पन्न हुए । यह अत्यन्त कुरूप थे । शीतला में इनकी एक आंख जाती रही । इन्होंने अपनी कुरुपता का स्वयं वर्णन किया है और **शुक्राचार्य** से अपनी तुलना की है । इनकी रचनाओं के पढ़ने से एसा ज्ञात होता है कि अपने धर्मग्रन्थ **कुरान** के प्रति दृढ़ आस्था होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति इनके भीतर घृणा न थी । यह योग, वेदान्त, रसायन, ज्योतिष, दशन तथा काव्यकला

की ओर विशेष अभिरूचि रखते थे। यद्यपि साधुसन्तों के पर्याप्त सम्पर्क में इनके रहने का भी आभास मिलता है तो भी सूफीमत में इनका दृढ़ विश्वास था। **जायसी** अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे। इन्हें लोग अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। कहा जाता है कि अन्तिम दिनों में ये अमेठी हीं में रहा करते थे। इनका राज-परिवार में अत्यधिक सम्मान था। अमेठी के राजा ने इनकी मृत्यु के बाद **मंगरा वन** में इनकी समाधि बनवायी जहां पर आज भी इनकी स्मृति में दीप जलाये जाते हैं। जनश्रुति क अनुसार इनकी मृत्यु तिथि, संवत १६०० मानी जाती है। **काजी नशुद्दीन हुसैन जायसी** ने इनकी मृत्यु तिथि, स्मृति के आधार पर ६४६ हिजरी मानी है। अपने दो गुरुओं का उल्लेख भी इन्होंने किया है, **सैयद अशरफ** और **शेख महीद्दीन औलिया**।

यद्यपि जायसी रचित ग्रन्थों की संख्या लगभग २१ बतायी जाती है किन्तु अभीतक केवल इनकी चार कृतियां ही प्राप्त हो सकी हैं। इन चारों कृतियों के नाम हैं—**पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम और कहारानामा।**

पद्मावत

पद्मावत की रचना ६२७ हिजरी में बतायी जाती है। इसे कुछ लोग ६४७ भी मानते हैं। **अलाउल** द्वारा जो अनुवाद पद्मावत का बंगला में किया गया, उसमें ६२७ ही माना गया है किन्तु उसमें शेरशाह का भी जिक्र है जिससे ६४७ तिथि मान लेने पर समय का ऐतिहासिक साम्य मिल जाता है। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने इसे प्रेमगाथा की परम्परा की पूर्ण प्रौढ़ रचना मानी है। यह प्रबन्ध काव्य फारसी की मसनवी शैली में लिखा गया है पर भारतीय पद्धति का प्रभाव भी प्रायः दीख पड़ता है। **पद्मावत** की कथा अलाउद्दीन एवं चित्तौड़ की **रानी पद्मिनी** को लेकर लिखी गयी है। इसमें ऐतिहासिकता के साथ साथ कल्पना और सूफी सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय है।

संक्षेप में **पद्मावत** की कथा इस प्रकार है। चित्तौड़ के राणा रत्नसिंह सिंहल की राजकुमारी पद्मावती की अलौकिक सौन्दर्य-कथा सुन, सन्यासी के भेष में सिंहल जाते हैं और उसके रूप-माधुर्य पर आसक्त हो उसे चित्तौड़ लाते हैं। तत्कालीन दिल्ली के शासक अलाउद्दीन भी पद्मावती की रूपमाधुरी पर कही गयी कथाओं के कारण उसे अपना बनाने के लिये चित्तौड़ पर आक्रमण करते हैं। चित्तौड़ का पतन होता है और रत्नसिंह बन्दी होते हैं। विश्रुत गोरा और बादल की कथा के ढंग पर पद्मावती राणा को मुक्त कराती है तथा राणा युद्ध में देवपाल को मार डालते हैं। देवपाल से, युद्ध में, राणा भी घायल होते हैं और उनकी मृत्यु हो जाती है। इसी समय अलाउद्दीन चित्तौड़ पर अधिकार कर लेता है किन्तु तबतक राणा की दोनों रानियां पद्मावती और नागमती सती हो जाती हैं।

अन्त में **जायसी** ने पूरी कथा को कल्पना बताया है तथा एक रूपक खड़ा किया है। इस रूपक के कारण कथा रहस्यमयी हो गयी है। इसमें कवि ने **नागमती को संसार, पद्मावती को बुद्धि, अलाउद्दीन को माया, मानव शरीर को चित्तौड़, आत्मा को रत्नसिंह** तथा जिस तोते द्वारा रत्नसिंह पर पद्मावती का रूप रहस्य प्रगट किया गया था उसे गुरु का रूप दिया है। ५७ खण्डों में सम्पूर्ण कथा कही गयी है।

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल, बुधि पदमिनी चीह्ना॥
गुरू सुआ जेहि पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥

नागमती यह दुनिया-धंधा । बाचा सोई न एति चितबंधा ।।
राघव दूत सौई सैतानू । माया अलाउदी सुलतान ।।
प्रेम कथा एहि भांति बिचारहु । बूझि लेहु जौ बूझै पारहु ।।

२. **अखरावट**—इसे लोग **पद्मावत** के बाद की रचना मानते हैं । जीवन सम्बन्धी अनेक तत्वों से यह काव्य भरा पड़ा है जिसमें जीव, ईश्वर, सृष्टि और ईश्वर प्रेम के संबंध में कवि के विचार संकलित हैं । इसके भीतर दो प्रकार के पद्य हैं । पहले तो वे जिनकी रचना अक्षरों के क्रम से हुई है दूसरे वे जिनका क्रम अक्षरों से नहीं है ।

३. **आखिरी कलाम**—**९३६ हिजरी** में इस ग्रन्थ का प्रणयन माना जाता है, जिसमें **ईश्वर स्तुति, गुरु स्तुति, मुहम्मद स्तुति तथा कवि के जीवन सम्बन्धी अनेक पद प्रौढ़ रचना शैली में लिखे गये हैं ।**

कहरानामा

आचार्य शुक्ल ने **जायसी ग्रंथावली** के तीसरे संस्करण में (सं० १९९२) अब तक वर्णित तीनों पुस्तकों का संकलन किया है । प्रत्येक नये संस्करण में एक एक नयी पुस्तकें उन्हें इस पुस्तक में वर्णित क्रम से फारसी लिपि में प्राप्त होती गयीं, उनका संकलन वे करते गये । सं० २००९ में **डा० माताप्रसाद गुप्त** ने अपने संपादित ग्रंथ में जायसी की पुस्तक **'महरी बाई सी'** का प्रकाशन किया । इसका यह नाम **डा० गुप्त** ने अपनी ओर से, स्पष्ट नामोल्लेख के अभाव में दे दिया था । **सभा की** खोज रिपोर्ट में (सन १९२६-२८) विसवा के आनन्द भवन से प्राप्त जायसी का **'कहारानामा'** प्राप्त हुआ है । इसके और महरी वाई सी के पद एक ही हैं । इस पुस्तक का नाम **'कहरानामा'** है, इसमें मतभेद के लिए स्थान नहीं यद्यपि तिथिकर्त्ता ने **'कहरानामा'** का प्रयोग कहीं कहीं किया है । डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की चिन्ता, कबीर-साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान श्री पुरुषोत्तम ने आंशिक रूप में दूर कर दी है । **कहरवा** के प्रचलित अवधी गीतों में **निर्गुण कहरवा** की वात सामान्य संगीत का ज्ञाता भी जानता है । यह कहरवा इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है अधिक उसके बारे में समय लगना ठीक नहीं । मर्मज्ञ **कबीर** ने भी इसका उपयोग किया है ।

जायसी का रचना-काल शेरशाह सूरी का समय माना जाता है । शेरशाह सूरी के समय में हिन्दू-मुसलमानों का सम्पर्क एक दूसरे से बढ़ा । दोनों ने सहयोग का मूल्य समझा तथा दोनों सम्प्रदाय में अनेक ऐसे व्यक्ति हुए जिन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के बीच परस्पर सहयोग की भावना बढ़ायी । प्रेम की पीर से प्रभावित सूफी कवियों ने भी इसमें महत्वपूर्ण योग दिया । उनकी भाव पद्धति प्रेम पर आधृत होने के कारण लोगों के हृदय के अत्यन्त निकट थी । ये तो प्रेम के दीवाने थे । इनके यहां किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था । **नाथ-सम्प्रदाय** के योगियों और साधकों से जनता का जी ऊब चुका था । लोग शान्ति और स्नेह का जीवन व्यतीत करना चाहते थे । भक्ति मार्ग वाले भी, जिनका जनता पर व्यापक प्रभाव था, प्रेम तत्त्व के कारण समाज में सामंजस्य की भावना प्रसारित करने में योग दे रहे थे । ऐसी ही परिस्थिति में प्रेम के सन्देशवाहक इन सूफी कवियों ने अपनी चिन्तन धारा द्वारा जनजीवन को रससिक्त करने का प्रयत्न किया । यद्यपि जायसी के पहले ही अनेक सूफी कवि हो चुके थे किन्तु जायसी ने साहित्य

के क्षेत्र में भी रस की एक स्नेह-पूर्ण मधुर धारा बहाई। जायसी मुसलमान होते हुए भी कट्टर नहीं थे उन्होंने साधु और सन्तों का समागम किया था। उन्होंने संसार देखा और समझा था। जीवन के मर्म का अनुभव किया था और थे भी वे सच्चे सूफी। वे शास्त्र सम्मत सूफी सिद्धान्तों को माननेवाले थे। अशास्त्रीय सूफी मत से उनका नाता नहीं था वे बाशरा थे वशरा नहीं। वह एकेश्वरवादी होते हुए भी अद्वैतवादियों की तरह आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं मानते थे। वह 'अनलहकवाली' इस विचार-धारा के साथ ही साथ अद्वैतवाद के 'अहम ब्रह्मास्मि' के सिद्धान्त में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति थे। उनके ऊपर वेदान्त का प्रभाव भी दिखायी पड़ता है। वह जगत को ब्रह्म से पृथक सत्ता को छाया मात्र मानते हैं। इनकी रचनाओं में वेदान्त के प्रतिविम्बवाद का भी आभास मिलता है। कहीं कही इनकी रचनाओं में भारतीय आर्य ग्रन्थों का भी प्रभाव दीखता है। हिन्दू और मुसलमान दोनों की भावनाओं का मेल कराते हुए ये दिखायी पड़ते हैं। नूर के साथ ही साथ सप्तदीप और नवखण्ड को भी यह नहीं भूलते।

जायसी के ऊपर लोकजीवन में व्याप्त चिन्तनों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। साहित्य के क्षेत्र में उनकी देन मौलिक है। वे तो फकीर थे। ऐसे जो अपने प्रेम की पीर मिटाने के लिए अपने माशूक ईश्वर को ढूंढ़ा करते थे। वह कबीर की भांति खण्डन-मण्डन करनेवाले व्यक्ति नहीं थे। वह तो केवल निर्माण करना जानते थे इसलिये वेद हो या पुराण हो या कुरान हो सबकी अच्छाइयों के वह पूजक थे। बुराई से उनका नाता नहीं था।

वह सूफी थे। सूफी मत में एकेश्वरवाद का निर्गुण रूप ग्रहित है। उनका यह निर्गुण ईश्वर, अलौकिक सौन्दर्य, अनन्त गुणों और महान शक्ति से पूर्ण है। सारा संसार ईश्वर की सत्ता का उद्‌बोध करता है और उसका सार है प्रेम। सृष्टि के पहले परमात्मा स्वयं से प्रेम करता था किन्तु अपने सौन्दर्य को देखने के लिए उसने एक छाया उत्पन्न की जो आदम है। आदम प्रेम का अवतार है। उनका ईश्वर अकथनीय होने पर भी उनका सच्चा प्रियतम है। उसका ही सौन्दर्य उसके द्वारा रचित संसार में व्याप्त है और लोक की प्रेम-साधना अपने पथ पर वढ़ अलौकिक हो जाती है। ईश्वर की सौन्दर्य-सत्ता के किसी अंश से प्रेम करने मात्र से उसकी अन्तिम सीमा पर ईश्वर की प्राप्ति, इनके मत के अनुसार होती है। इनका मार्ग लोक से परलोक की ओर जानेवाला है। सूफियों ने लौकिक प्रेम को अलौकिकता की ओर मोड़ने में महती सहायता लोगों की है और जायसी इसी समन्वित परम्परा के, जो भारतीय अभिमतों और लोक-जीवन से प्रभावित हैं, उदघाटक तथा अत्यन्त समर्थ, हिन्दी के फकीर साहित्यकार थे।

जायसी का रहस्यवाद

कवि की रचनाओं में रहस्यवाद का दर्शन होता है। यह रहस्य भावना उनकी रचना में अधिक रसमयहोकर उतरी है। प्रकृति प्रियतम ईश्वरके सौन्दर्य की छाया है। जब कवि के मानस का स्नेह-स्पन्दन, प्रकृति के सौन्दर्य्य में प्रियतम के रूप की अभिव्यक्ति पाता है और काव्य द्वारा उस आह्लाद को अभिव्यक्त करने चलता है तो हृदय की यह रहस्यभावना रहस्यवादी भावनाओं की अभिव्यक्ति करने लगता है। प्रकृति के भीतर प्रियतम का दर्शन जब कवि करता है और उस छिपे रहस्य के उद्‌घाटन में उसकी वाणी

मुखरित होती है तो ऐसे रहस्यवादी काव्य का उद्भव होता है जिसका सम्बन्ध हृदय की रागात्मक वृत्ति से है न कि **कबीर की भांति** हठयोगी पद्धति वाले नाद विन्दु से। उनको न केवल प्रियतम का प्रकृति में स्पन्दन दिखायी पड़ता है अपितु उनका रागात्मक सम्बन्ध भी प्रकृति से स्थापित हो जाता है। कवि अपने हृदय का स्पन्दन भी प्रकृति में देखता है। प्रकृति की इस व्यापक लीला का, मानस के मनोभावों पर पड़े प्रभाव का काव्य की रसमयी धारा के रूप में निर्माण करता है और **जायसी** इस रचना-क्रिया में अत्यन्त सफल रहे।

जायसी ने न केवल प्रकृति को आधार वनाया अपितु उनकी रचनाओं में व्यापक लोक-निरीक्षण भी मिलता है। सामान्य जीवन के भीतर उनकी इतनी अधिक पहुँच है जितनी सम्भवतः किसी भी प्रेममार्गी कवि की नहीं। उन्होंने जहां भी जिस किसी का वर्णन किया है उसमें व्यापक और सूक्ष्म निरीक्षण तो है ही साथ ही उसकी विशदता से कहीं-कहीं अध्येता का मन भी ऊबता नहीं; अपितु वह काव्य-रस में डूबता ही चला जाता है। साथ ही इस वात का वे सर्वत्र ध्यान रखते हैं कि सूफी साधना का जो रूपक उन्होंने कथा को आधार बनाकर किया उसके वर्णन में कहीं चूक न हो। रत्नसेन का जहां कहीं भी वर्णन हुआ है, एक महान साधक के रूप में। **पद्मावती का सौन्दर्य** सर्वत्र विश्व-सुषमा पर छाया रहता है। उसके केश के बादल से सारी धरती पर मेघ छा जाते हैं। उसकी छाया पड़ने पर समस्त संसार सौन्दर्य से दीप्त हो उठता है। इसका पूर्ण निर्वाह करने में कवि सर्वत्र सफल हुआ है यह उसकी अपनी विशेषता है। **नागमती** विरह खण्ड के विरह-वर्णन में कवि की सफलता चरम उत्कर्ष पर पहुँच गयी है। इतनी सुन्दर विरह व्यंजना, हिन्दी के किसी भी प्रबन्ध काव्य में नहीं दिखायी पड़ती है। हिन्दू पतिव्रता पत्नी का इतना पवित्र सम्मोहक वर्णन इस मुसलमान कवि ने जिस कौशल के साथ किया है उसके शान का दूसरा वर्णन हिन्दी में संभवतः दूसरा नहीं।

पिउ सो केहेउ संदेसड़ा, हे भौरा हे काग,
सो धनि बिरहें जरि मुई, तेहि क धुवां हम लाग।
यह तन जारों छार के, कहो कि पवन उड़ाव,
मकुतेहि मारग झुकि परै, कन्त धरे जहँ पांव।

प्रकृति का सजीव चित्रण, षट ऋतु का वर्णन, सूक्ष्म निरीक्षण, सामान्य जीवन में प्रवेश, कवि की अपनी विशेषता है।

जायसी ने भी काव्य की उसी मसनवी शैली को अपनाया है जिसे सूफी पूर्ववर्ती कवियों ने। दोहे, चौपाइयों में कवि ने पूरा काव्य रचा है। कवि की भाषा ठेठ अवधी है पर है मिठास से भरी हुई। अलंकार और अनुप्रास का भी अति उत्तम विधान करने में कवि सफल रहा है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा कवि को विशेष प्रिय है तथा उसमें वह अत्यन्त सफल भी रहा है। सूफी काव्य परम्परा का यह कवि हिन्दी साहित्य की वह निधि है जिस पर हिन्दी को सदैव गर्व रहेगा।

उस्मान

तुलसीदास के बाद सूफी काव्यधारा का प्रभाव दिनोत्तर क्षीण होने लगा। **जहांगीर** के समय इस परम्परा में गाजीपुर के **उस्मान** कवि हुए। ये **निजामुद्दीन चिस्ती** की शिष्य परम्परा में, **हाजी बाबा** के शिष्य थे तथा संवत १६७० में **चित्रावली** नामक काव्य

की रचना की । इन्होंने अपने काव्य का आदर्श जायसी को ही बनाया तथा उन्हीं की पद्धति का अनुकरण कर चले भी । कवि ने स्वयं अपने काव्य के प्रस्तावना के रूप में लिखा है—

कथा एक नय हिये उपायी, कहत नीत और सुनत उपायी ।
कहत बनाय जस मोहि सूझा, जेहि जस सूझ सो तैसे बूझा ।।

शेख नबी सं० १६७६—इन्होंने **ज्ञानदीप** नामक एक आख्यान काव्य लिखा जिसमें राजा **ज्ञानदीप** और **रानी देवयानी** की कथा लिखी गयी है । **शेख नबी** के पश्चात सूफी काव्य की परम्परा अत्यन्त क्षीण प्राय हो गई ।

कासिम शाह संवत १७८८ के लगभग वर्तमान थे इन्होंने **हंस जवाहिर** नाम की कहानी लिखी । कविता निम्न कोटि की है । इन्होंने अपना परिचय देते हुए स्वयं लिखा है ।

दरियावाद मांझ मा ठाउं, अमानुल्ला पिता कर नाऊं ।
तहवां मोहि जनम विधि दीन्हा, कासिम नावं जाति कर हीना ।
ते हूं बीच विधि कीन्ह कमीना, ऊंच सभा बैठे चित दीना ।
ऊंचे संग ऊंच मन भावा, तब भा ऊंच ज्ञान-बुधि पावा ।
ऊंचा पंथ प्रेम का होई, तेहि महं ऊंच भए सब कोई ।

नूर मुहम्मद—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी इन्हें बादशाह **मोहम्मद शास** का समकालीन बत ाते हैं पर वास्तव में र **महम्मद कासिम शाह** के समकालीन थे तथा जौनपुर के रहन वाले थे । उनकी वंश परम्परा में अब भी लोग वर्तमान हैं । इन्होंने संवत **१८०१** म **इन्द्रावती** नामक एक आख्यान काव्य लिखा । फारसी में भी इनकी **रौजतुलहकायक** तथा हिन्दी की इनकी एक और रचना का पता चला है जो **अनुराग बांसुरी** के नाम से मिली है । अन्य सूफियों की अपेक्षा इनकी रचनाओं में दो विशेषताएँ हैं पहली तो यह कि इनकी भाषा अधिक संस्कृत गर्भित है और इनमें उर्दू-आन्दोलन का एक संकेत मिलता है । **अनुराग बांसुरी** तत्वज्ञान सम्वन्धी पूर्ण अध्यवसित रूपक (एलिगरी) है । इनकी रचना का नमूना नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है ।

अन्तः करन सदन एक रानी । महामोहनी नाम सयानी ।।
बानि न पाओं सुन्दरताई । सकल सुन्दरी देखि लजाई ।।
सर्व मंगला देखि असीसै । चाहे लोचन मध्य बईसै ।।
कुंतल झारत फांदा डारै । चल चितवन सों चपला मारे ।।
अपने मंजु रूप वह दारा । रूप गर्विता जगत मंझारा ।।
प्रीतम-प्रेम पाइ वह नारी । प्रेम गर्विता भई पियारी ।।

यद्यपि यह काव्य धारा सूखती दीखती है और इसमें प्रायः सभी सूफी मुसलमान कवि हुए किन्तु सूरदास नामके एक हिन्दू सूफी ने नलदमयन्ती नाम की सामान्य साहित्यिक रचना की है ।

———

रामभक्ति का साहित्य

लोक-निर्माण का व्यापक आयोजन

तुलसी तथा अन्य साहित्यकार

इस्लाम-सभ्यता के प्रथम विकास में जिन भावनाओं की अभिव्यक्ति की गयी उन पर इस्लामी वातावरण का प्रभाव था। यह प्रभाव ढांचे पर सूफियों द्वारा भारतीय कथाओं द्वार पड़ा हो, चाहे संतों पर मत द्वारा पड़ा हो। सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ ही चुका था। पर ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होने लगा, भारतीय जन-मन को त्यों-त्यों इस्लाम की शुष्कता का बोध होने लगा। भारत में उत्पन्न हुई, पली, पनपी भाव-धारा की ओर समाज के कर्णधारों का ध्यान आकृष्ट हुआ। तत्कालीन मुसलमान शासकों की उदार नीति के कारण महात्माओं को नवीन मार्ग के प्रवर्द्धन में सहायता मिली। ये मार्ग सर्वथा भारतीय तो थे ही, आवश्यकता तात्कालिक समाज के अनुरूप उसे बनाने की थी। इस क्षेत्र में उत्तरी भारत में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य महात्मा **रामानन्द** ने किया। उन्होंने समय के अनुकूल प्राचीन धर्म में नवीन मनोभावों की प्रतिष्ठा कर मृतप्राय हिन्दू भावना को अमृत पान कराया। समाज को जीवन की नयी दिशा दी। चेतनामय नवीन युग का श्रीगणेश किया।

रामानन्द

इस युग में **रामानन्द** जैसा महान कोई भी गुरु नहीं दीखता। उत्तरी भारत के जन-जीवन में राम की प्रतिष्ठा करके उन्होंने भारतीय समाज की जो सेवा की है, इतिहास के पृष्ठों में उसकी तुलना नहीं। **रामानन्द** ने अपने सम्प्रदाय का प्रवर्तन विक्रम की १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किया था। इसके पूर्व ही **नामदेव, त्रिलोचन** आदि राम-भक्ति के प्रसारक महात्मा हो चुके थे। **रामानन्द** ने इस राम-भक्ति-परम्परा को नया आलोक दिया।

स्वामी रामानुजाचार्य ने सं० १०७३ में भक्ति के प्रसार के लिए **वैष्णव श्री सम्प्रदाय** की स्थापना की। **श्री शंकराचार्य** द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैतवाद में भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था। वे भक्ति को भी माया के अन्तर्गत ही मानते थे। ऐसी परिस्थिति में जन-जीवन में इस वृत्ति की प्रतिष्ठा, जिसका प्रवर्त्तन **रामानुजाचार्य** ने किया, अत्यन्त समीचीन थी। इनका मत **विशिष्टाद्वैत** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस मत के अनुसार ब्रह्म का अंश जीव माना जाता है। उसकी उत्पत्ति भी उसी से होती है और वह उसी में लीन भी होता है। मनुष्य को चाहिये कि प्रेम-भक्ति द्वारा उससे सानिध्य स्थापित



महाकवि सूरदास



गोस्वामी तुलसीदास



कबीर

डा. दिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय







करे। इस सम्प्रदाय का विकास अत्यन्त वेग के साथ भारतवर्ष में चारों ओर हुआ। इस सम्प्रदाय में १३ वीं पीढ़ी वाद के इस सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य **स्वामी श्री राघवानन्द** काशी में रहते थे। उन्हीं के परम समर्थ शिष्य थे **रामानन्द जी**।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्थूल रूप से उनका समय विक्रम की १५वीं शती के चतुर्थ और १६वीं शती के तृतीय चरण के भीतर माना है। **डा० बड़थ्वाल रामाक्त-संहिता** के अनुसार इनका जन्म सं० १३५६ और मृत्यु सं० १४६७ मानते हैं, जो अत्यन्त समीचीन लगता है। यद्यपि **रामानन्द जी रामाजानुचार्य** के मतावलंबी थे, तो भी इन्होंने युग के अनुरूप उसका सांसारिक रूप ग्रहण किया। इसके संस्कारकर्त्ता भी वे स्वयं थे। इन्होंने विष्णु के स्थान पर लोक-लीला विस्तारक राम को अपना इष्ट वनाया और राम नाम इनकी साधना का मूल मंत्र हुआ। यद्यपि राम का रूप इसके पूर्व ही साधना के क्षेत्र में इनके पूर्ववर्त्ती साधक स्मरण कर चुके थे पर लोक में परम ब्रह्म को राम के सगुण रूप में रामानन्द ने प्रतिष्ठित किया तथा राम के इस लोक-रूप की प्रतिष्ठा के लिये प्रबल आन्दोलन तथा एक विशाल संगठन किया। लोगों को ऐसे भगवान का पता बताया जिसे प्रत्येक जाति, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक देश के लोग साकार रूप में पा सकते हैं। जहां कोई अभाव नहीं, जहां साम्प्रदायिकता पंख तक नहीं फटकार सकती, जहां किसी प्रकार का कोई भी व्यभिधान किसी जीव के लिये नहीं, वह मार्ग है विशुद्ध भक्ति का, राम के प्रति हृदय के आत्मसमर्पण का। ऐसे राम जिनका रूप है, रंग है, आकार और प्रकार है और जिन्होंने अवतार लिया था दशरथ सुत के रूप में, भक्तों के लिये जो निरन्तर अवतार लेते रहते हैं। उनकी यह भावना सिद्ध नाथों या मुसलमानों की देन नहीं, विशुद्ध पौराणिक थी। जिसका उद्गम स्थान महाभारत और पुराण था तथा यह वर्णाश्रम व्यवस्था का पूर्ण समर्थक था। यह सुधारवादी प्रवृत्ति का वह निदान था जो रोग की दवा में विश्वास करता है,न कि अंग गलित होने पर उसे काट डालने में। यह उस सर्जनात्मक वृत्ति का परिचायक था जिसके मूल में खण्डहर को भी प्रासाद वनाने की मंगल भावना होती है। यह भी वर्णाश्रम के खण्डहर पर समय के आवश्यकतानुसार लोक-कल्याणकारी प्रासाद बनाने का सफल प्रयत्न था, जिसमें युग की आवश्यकता पूर्ति की अदम्य क्षमता थी। निर्माण की महान भावनाओं से अनुप्राणित रामानन्द जी का यह युग के अनुरूप नवीन जीवन-दर्शन था।

सभी प्रकार का भेद-भाव तोड़ कर इन्होंने हिन्दू-मुसलमान, नीच-ऊंच यहां तक कि महिलाओं को भी अपना शिष्य बनाया, जिनने युग-विधायक कार्य संपन्न किये। इनके प्रसिद्ध शिष्यों का नाम **भक्तमाल** के अनुसार यों है—**अनंतानन्द, सरवानंद, सुरसरानन्द, नरहर्यानन्द, भावानन्द, दीपा, कबीर, सेन, धन्ना, रैदास, पदमावती और सुरसुरा। रामानुज** समुदाय में दीक्षा पाने की अधिकारिणी द्विजाति मात्र थीं पर उपर्युक्त सूची इस बात का प्रमाण है कि सभी वर्गों के लिये सम्प्रदाय में दीक्षा का द्वार **श्री रामानन्द** ने खोल दिया।

रामानन्द जी संस्कृत में ग्रंथ रचना करते थे और अभी तक केवल उनके दो ग्रंथ मात्र **वैष्णवमताभास्कर** और **रामार्चन-पद्धति** मिले हैं, जो प्रामाणिक हैं। लोकभाषा में समय-समय पर आपने विनय के पदों की भी रचना की है। अभी तक आपके कुछ पद मिले ह, जिनमें राम भक्त हनुमान की यह स्तुति भी है, जो आज तक हनुमान भक्तों का कण्ठहार है।

आरती कीजै हनुमान लला की। दुष्ट दलन रघुनाथ कलाकी।
जाके बल भरते महिकांपे। रोग शोग जाकी सिमा न चांपै।

अंजनी पूत महा बलदायक । साधु संत पर सदा सहायक ।
बांएं भुजा सब असुर संहारी । दहिन भुजा सब संत उबारी ।

बाद में इनके नाम पर अनक जाली ग्रंथों का प्रणयन किया गया । वह इसलिये कि इनसे सम्बन्धित विभिन्न साम्प्रदायिक संस्थान बाद में इन्हें अपना मात्र ही घोषित कर, अपने वर्ग के अन्य सम्प्रदायों से अपने सम्प्रदाय को श्रेष्ठ प्रमाणित करना चाहते थे । इनका ऋणी हिन्दी का संत साहित्य भी है । **कबीर** जैसा संतमार्ग का प्रवर्त्तक उनका शिष्य था । राम शब्द का ब्रह्म रूप में संत साहित्य में ग्रहण किया गया । राम भक्ति मार्गी-साखा जिसने उस युग में लोक सेवा की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य क्रिया इन्हीं के प्रयत्नों का फल था ।

महाकवि तुलसीदास

यद्यपि **रामानन्दी सम्प्रदाय** के भक्तगण लोक में पुरुषोत्तम राम की प्रतिष्ठा में दत्त-चित्त हो लगे थे, तो भी **तुलसीदास** के पूर्व तक इतनी बड़ी किसी प्रतिभा का दर्शन इस सम्प्रदाय में नहीं हुआ, जो रामानन्द द्वारा प्रशस्त मार्ग को जन-मन के हृदय पर अंकित कर सके । यह महत्तम कार्य **तुलसीदास ने** किया और इस भांति किया कि इनकी सामर्थ्य का दूसरा व्यक्तित्व इनके बाद आज तक हुआ ही नहीं । **तुलसी ने** दशरथ के राम को अमर बनाया । जव तक हिन्दी साहित्य रहेगा, तव तक **तुलसी के राम** रहेंगे । इनकी महत्ता का परिचय इसी बात से जाना जा सकता है कि विश्व में **तुलसीदास** के नाम से जितने लोग परिचित हैं, सम्भवतः अन्य किसी साहित्यकार के नाम से नहीं । अपढ़ लोग जहां रामायण की चौपाइयों को ब्रह्म-वाक्य समझते हैं, वहीं महान साहित्य मर्मज्ञ उनके काव्य-कौशल की प्रशस्ति में शब्द नहीं पाते । विश्व की अन्य-भाषाओं में **तुलसीदास** के रामायण का जिस स्तर पर अनुवाद सम्मानित हुआ, हिन्दी की किसी भी अन्य कृति का नहीं । विदेशी विद्वान भी इन्हें अप्रतिम मानते हैं । **ग्रियसन** इन्हें भारत में **बुद्ध** के पश्चात सबसे वड़ा लोक नायक तथा **स्मिथ ने** मुगल-काल का महानतम व्यक्ति बताया है । **ग्रीब्स** नामक एक अधकचरे हिंदी के ज्ञाता ने अपनी पुस्तक **'ए स्केच आव हिन्दीलिटरेचर'** में कवि के रूप में **शेक्सपीयर** को तुलसीदास से महान ठहराने का प्रयत्न किया है । पर सत्य यह है कि इंगलैण्ड में शेक्सपीयर और बाइबिल दोनों का जो मूल्य है, वही हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में **तुलसी-साहित्य** का है ।

तुलसीदास अत्यन्त विनय-सम्पन्न सदाचारी भक्त थे । उन्होंने अपने विषय में स्वयं जो कुछ कहीं-कहीं कहा है, उससे उनके जीवन-वृत्त की स्पष्ट रूप रेखा ज्ञात करना संभव नहीं । साम्प्रदायिकता, झूठी लिप्सा तथा नवीन अनुसंधानों द्वारा स्वयं को आभूषित कर कुछ नवीन बातें ढूंढ़ निकालने की प्रवृत्ति ने **तुलसीदास** के जीवन-वृत्त को इस भांति आच्छन्न कर लिया है, जिस भांति किसी गुप्त स्थान में छिपी हुई सम्पत्ति के सम्बन्ध म अनक जन-श्रुतियाँ । थोड़े थोड़े समय के बाद नवीन-नवीन ग्रंथों का पता चल रहा है, नयी-नयी बातें कही जा रही हैं, पर जिन आधारों को लेकर ऐसा किया जा रहा है उन आधारों की प्रामाणिकता के परीक्षण की ओर, दुर्भाग्य है, लोग ध्यान नहीं दे रहे हैं । संभव है, उनके जीवन के सम्बन्ध में जो नया साहित्य प्राप्त हुआ है, उसमें किसी कृष्णमुखी व्यापारी की भांति उसी प्रकार पुराने कागज का उपयोग किया गया हो जिस प्रकार

पुरानी वहियों में किया जाता है, पर लिखावट और स्याही का पुरानापन तो जाना ही जा सकता है । जाल जाल ही है ।

विगत कुछ वर्षों में **तुलसीदास** के जीवन-वृत्त पर जो नयी खोज हुई है, वह पुरानी खोजों के सर्वथा विपरीत है, पर सर्वमान्य कोई भी नहीं । सभी ओर से अपनी बात के लिये अकाट्य प्रमाण उपस्थित किये गये हैं, ऐसी परिस्थिति में सत्य का पता लगाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि हठवादिता के भी स्पष्ट दर्शन इन विचारों में हो रहे हैं ।

शिवसिंह तुलसीदास का जन्म सं० १५८३ मानते हैं । उन्होंने **वेणीमाधव कृत मूल गोसाई चरित** देखने की बात भी लिखी है । किन्तु प्रकाशित **मूल गोसाई चरित** में, जिसकी प्रामाणिकता अत्यन्त संदिग्ध है, जन्मतिथि सं० १५५४ है । महात्मा **रघुबरदास रचित तुलसी-चरित** में, जिसकी सूचना हिन्दी जगत को इन्द्रदेव नारायण ने 'मर्यादा' द्वारा दी थी, उनका जन्म १५५४ माना गया है । **डा० ग्रियर्सन तुलसीदास** का जन्म सं० १५८९ मानते हैं । डा० **माताप्रसाद गुप्त** भी **ग्रियर्सन** के मत के समर्थक हैं । **पं० रामगुलाम दूबे** भी यही सम्वत प्रामाणिक मानते हैं । बहुत समय तक यह बात सर्वमान्य ी कि परासर गोत्र के ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे, तथा बांदा जिलान्तर्गत राजापुर के पं० **आत्मा दूबे** के पुत्र थे । इनकी माता का नाम **हुलसी** था ।

राजापुर के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । कुछ लोग इसे **सोरों** मानते हैं और उन्होंने उसके लिये पर्याप्त प्रमाण भी एकत्र किया है, यथा **रत्नावली-रचित दोहावली, नन्ददास का भाई होना, नन्ददास का गुरु भाई होना, नन्ददास के पुत्र कृष्णदास की रचनाएँ** आदि, **चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता** आदि का भी उल्लेख इस प्रसंग में किया जाता है ।

कहा जाता है कि मूल-नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण माता-पिता न इन्हें त्याग दिया था और वचपन में इन्हें दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं । वाल्यावस्था इनकी ऐसी भयंकर परिस्थिति में होकर गुजरी कि इन्हें दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं, पेट भरने के लिये लोगों से भिक्षा मांगनी पड़ी । ये वातें तो निर्विवाद रूप से सत्य हैं क्योंकि स्वयं, तुलसीदास ने इन तथ्यों का उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है ।

"मातु-पिता जग जाय तज्यो विधिहूँ न लिखी कछु भाल भलाई ।"

कवितावली

यहाँ तक कि पेट भरने के लिये उन्हें जाति-कुजाति, सभी लोगों के सम्मुख हाथ फैलाना पड़ा ।

"जाति के सुजाति के, कुजात के पेटाग्नि बस,
खाए सबके, विदित बात दुनी सो ।

अन्न के दाने-दाने को तरसना पड़ा, उसे ब्रह्म, अर्थ, काम सभी कुछ मानना पड़ा । इसके पश्चात इन्हें **बाबा नरहरि** का संरक्षण प्राप्त हुआ । लोगों का कहना है **'कृपा सिन्धु नररूप हरि'** रचना इन्हींके सम्बन्ध में लिखी गयी है । **नरहरि-नरहर्यानन्द** ही थे एसा लोग मानते हैं । **नरहर्यानन्द रामानन्द** की परम्परा में माने जाते हैं और अयोध्या के सम्प्रदायों की परम्परा में **तुलसीदास** आते हैं । **श्री प्रेमलता जी का वृहद जीवनचरित्र** इस प्रकार की गुरुपरम्परा का उल्लेख करता है । **रामानन्द, सुरसरानन्द, माधवानन्द, गरीवानन्द, लक्ष्मीदास, गोपालदास, नरहरिदास, तुलसी** । यह भी अनुमान लगाया जाता है कि इन्हीं **नरहरि दास** से **शूकर क्षेत्र** में तुलसीदास ने राम-कथा सुनी थी और इनके

द्वारा ही इनमें रामभक्ति के प्रति आस्था का भाव जाग्रत हुआ था । **विनय-पत्रिका** के पद के आधार पर ऐसा आभास होता है कि यौवनोचित रूप-लिप्सा की भावना इनके भीतर जगी थी और इन्होंने उसमें रस भी लिया था ।

लरिकाई बीती अचेत चित, चंचलता चौगनी चाय ।
जोबन जर जवती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि भदन बाय ॥

स्थान-स्थान पर इन्होंने जो वर्णन किया है, उससे ऐसा विदित होता है कि स्त्री सम्पर्क में ये रहे हे और शादी आदि के सम्बन्ध में इनका सूक्ष्म निरीक्षण इनके साहित्य में व्याप्त है। जनश्रुति के अनुसार इनकी शादी रत्नावली से हुई थी। उनके प्रेम-पाश में वह इस तरह आबद्ध थे कि क्षण भर के लिए भी अपने आंखों से उन्हें ओझल होने देना नहीं चाहते थ । कहा जाता है कि एक बार वह नैहर चली गयीं । भयंकर कष्टों का सामना करते हुए तत्काल वह वहां पहुंचे । उनकी स्त्री ने उनकी इस कामुकतापूर्ण भावना की तीव्र भर्त्सना की और यह दोहा सुनाया ।

लाज न लागत आपको, दौरे आयहु साथ ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ ॥
अस्थि चर्म मय देह यह, तामे जैसी प्रीति ।
तैसी जौ श्री राम मँह, होति न तौ भव-भीति ॥

यह बात तुलसीदास के जीवन के लिए नयी चेतना का सन्देशवाहक वन बैठी । प्रिया द्वारा मिलो फटकार विराग में परिवर्तित हो गयी । माया-जन्य चंचलता की क्षमता उन्हे ज्ञात हुई और उसके वाद अविलम्ब काशी चले आये । इस लोक-वार्ता की पुष्टि **भक्तमाल, तुलसी-चरित और गोसांईं-चरित** से भी होती है। इधर **रत्नावली दोहा संग्रह** नाम की एक पुस्तिका मिली है, जिसके आधार पर तुलसीदास के जीवन पर प्रकाश पड़ता है यद्यपि इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता अभी वास्तविक कसौटी पर नहीं कसी गयी है । अभीतक यह **पं० गोविन्दवल्लभ पंत** के पास सुरक्षित है । इसका लिपिकाल सं० १८७५ है । इसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि **रत्नावली** का **विवाह** १२ वर्ष की अवस्था में हुआ था । १६ वर्ष में गौना और संवत १६२७ में **रत्नावली-त्याग** की घटना घटती है । रत्नावली के दोहे इस प्रकार हैं ।

जासु दलहि लहि हरषि, हरि हरत भगत भव-रोग ।
तासु दास पद दासि है, 'रतन लहत कत सोग ॥
बसे बारही कर गह्यो, सोरहि गौन कराय ।
सताइस लागत करी, नाथ 'रतन' असहाय ॥
सागर कर रस ससि 'रतन', संवत मो दुखदाय ।
प्रिय-बियोग जननी मरन, करन न भल्यो जाय ॥
मोइ दीनों संदेश पिय अनुज नंद के हाथ ।
'रतन' समझि जनि पृथक मोइ सुमिरत श्री रघुनाथ ॥

यह सामग्री सोरों के प्रसंग को लेकर हिन्दी जगत के सामने आयी । इसका ध्येय **तुलसीदास** को **नन्ददास** का **अग्रज** प्रमाणित करना भी था । यह पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि तथोक्त सामग्री की प्रामाणिकता संदिग्ध है ।

नारी द्वारा लगी ठेस ने जिस भक्ति का प्लावन तुलसी के मानस में किया वह भक्ति भावना दिनोत्तर विकास के असीम पथ पर बढ़ती गयी। इसके पश्चात नाना तीर्थों का परिभ्रमण इन्होंने किया। **काशी, चित्रकूट, और अयोध्या** से इनकी ममता हो गयी। ये स्थान इन्हें अत्यन्त प्रिय भी थे। इनके जीवन का अधिकांश काशी म व्यतीत हुआ। काशी की प्रशस्ति में इन्होंने लिखा है :—

मुक्ति जनम महि जानि, ज्ञान खानि अगहानि कर ।
जहं बस शंभु भवानि, सो कासी सेइय कस न ।

और चित्रकूट तो उनकी दृष्टि में राम से सच्चा स्नेह प्रदाता ही है।

तुलसी जो राम सौं सनेह साचौं चाहिये ।
तौ सेई ए सनेह सौं विचित्र चित्रकूट सों ।।

अयोध्या में तो इन्होंने हिन्दी साहित्य के अमर रत्न 'रामचरित-मानस' की रचना ही की।

जिसका बचपन लललाते, बिललाते दर-दर भिक्षा मांगकर बीता, जिसके यौवन पर वैराग्य की विभूति लेपित हो गई, जिसको लोगों के सामने दांत चियारना पड़ा उस तुलसीदास का अन्तिम समय भी सुखकर न व्यतीत हुआ। सम्भवतः विधाता का यह उन्हें सबसे बड़ा वरदान था। काशी में, ऐसा आभास लगता है, इनका पर्याप्त विरोध हुआ। कहा जाता है कि पहले ये प्रह्लाद घाट पर रहते थे। विनय-पत्रिका की रचना इन्होंने गोपाल मंदिर के पिछवाड़े एक छोटे कमरे में की। वहां एक पट लगा हुआ है। लेकिन बाद में इन्हें इन स्थानों को छोड़ना पड़ा और अस्सी पर रहना पड़ा।

जिस व्यक्ति ने जीवन भर अभाव से संघर्ष कर विश्व की फूटी आंखों में ज्योतिदान करने का सफल प्रयत्न किया, उसकी परीक्षा लेने अन्तिम दिनों में रोग आदि आए। तुलसी ने उनसे भी संघर्ष किया, अपनी भक्ति के सहारे। उन्होंने किसी वैद्य की नहीं, राम, शंकर और हनुमान की आराधना की, उसकी निवृत्ति के लिए। उदर, बाहु-शूल आदि से तो वे जर्जर हो ही गए थे। प्लेग का भी उन्हें शिकार होना पड़ा। इस जर्जर परिस्थिति में अधिक दिनों जीवित रहना सम्भव न था और सं० १६८०में उनका देहावसान काशी में हो गया। इस सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है :—

संवत सोलह सौ असी, असीं गंग के तीर,
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर।

इस दोहे में दी गयी तिथि अत्यन्त प्रामाणिक लगती है, क्योंकि तुलसी के मित्र टोडर के परिवार वाले इसी तिथि को उनके नाम पर सिद्धा देते हैं।

विशाल भारत में छपा यह अंश तुलसी पर प्रकाश डालता है।

"कवि अविनासराय कृत इस तुलसीप्रकाश में लिखित उक्त तिथियों के आधार पर गोस्वामी तुलसीदास का जन्म संवत १५६८ वि० को श्रावण शक्ला ७ सप्तमी शुक्रवार को हुआ। दस मास की अवस्था होने के पश्चात उनकी माता हुलसी का और हुलसी से लगभग एक मास पश्चात उनके पिता का परलोकवास हुआ। ७ वर्ष ११ मास २२ दिन की आयु में श्री तुलसीदास अपने गुरु श्री नृसिंह (नरहरि) की पाठशाला में प्रविष्ट हुए। २१ वर्ष ३ मास ४ दिन की आयु होने पर उनका विवाह एवं ३६ वर्ष दस दिन

की आयु म वैराग्य हुआ । ५२ वर्ष की आयु पर्यन्त तीर्थाटन करने के पश्चात काशी में निवास करने लगे। ६३ वीं वर्ष में श्रीरामचरित मानस का लेखन प्रारम्भ किया। ७६ वर्ष की आय से लकर ८६ वर्ष की आयु पर्यन्त यमुना और संवत १६५७ वि० के कार्तिक मास में काशी निवास करने चले। पयस्विनी नदी के संगम के समीप राजा नामक साधु की कुटी पर गये। निवास करते हुए उस कुटीको 'राजापुर' रूप में परिणत किया आशा है इतिहास एवं साहित्य प्रमी विद्वान पाठक इन तिथियों पर ध्यान देंगे।"

विशाल भारत मई, १६५४ के अंक में यह निष्कर्ष श्री भद्रदत्त शर्मा ने 'तुलसी-प्रकाश' के आधार पर निकाला है। जब तक मूल न देखा जाय इसे प्रामाणिक मानना ठीक न होगा।

तुलसी-साहित्य

यद्यपि नागरी प्रचारिणी के खोज विभाग की रिपोर्ट के द्वारा उनकी ३७ रचनाएँ प्राप्त हुई हैं पर नागरी प्रचारिणी सभा ने केवल १२ ही ग्रंथ उनमें से उनके प्रमाणिक माने। शष, दूसरे तुलसी नाम धारियों का है। हिन्दी के प्रायः सभी समर्थ आलोचक इन्हें मात्र ही प्रमाणिक मानते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने "कलिधर्माधर्म निरूपण" को भी प्रामाणिक ठहराया है। उनके मात्र प्रामाणिक ग्रंथों के नाम निम्नलिखित हैं:—

१. रामचरित मानस, २. वैराग्य-संदीपिनी, ३. रामलला-नहछू, ४. वरवै रामायण, ५. पार्वती-मंगल, ६. जानकी-मंगल, ७. रामाज्ञा प्रश्न, ८. दोहावली, ९. कवितावली, १०. गीतावली, ११. कृष्ण गीतावली, १२. विनय-पत्रिका।

रामचरित मानस

हिन्दी के सभी दृष्टियों से सर्वोत्तम इस, प्रबन्ध काव्य का प्रणयन सं० १६३१ में अयोध्या में आरम्भ हुआ। कवि ने स्वयं लिखा है :—

संवत सोरह सै इकतीसा, करौ कथा हरि पद धर सीसा।

इस ग्रंथ में सात काण्डों में राम की कथा विस्तारपूर्वक कवि ने ९९०० छन्दों में गायी है। जिनमें चौपाइयों की संख्या ५१०० और शेष दोहा, सोरठा आदि हैं। वर्णिक और मात्रिक दोनों छन्दों का प्रयोग इस ग्रंथ में किया गया है। वर्णिक छन्दों में—अनुष्टुप, रथोद्धता, स्त्रग्धरा, मालिनी, तोटक, वंशस्थ, भुजंग-प्रयात, नग-स्वरूपिणी, वसंत लतिका, इन्द्रवज्रा, और शार्दूल विक्रीड़ित तथा मात्रिक छन्दों में:—सोरठा, तोमर, हरिगीतिका, चौपाई, त्रिभंगी आदि १८ छन्दों का प्रयोग हुआ है।

वैराग्य संदीपिनी—दोहा, चौपाई तथा सोरठा छन्दों में रचित ६८ छन्दों का यह संग्रह है। इसके विषय हैं:—ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, शान्ति तथा सन्तों के लक्षण आदि।

रामलला नहछू—विवाह और यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर औरतों के लिए गाये जाने के हेतु लिखे गये २० सोहर छन्दों में पदों का संग्रह है।

वरवै-रामायण—अलंकार योजना प्रधान सात काण्डों तथा ६९ वरवै छन्दों में लिखे गये इस ग्रंथ में स्फुट रूप में राम की कथा वर्णित है।

पार्वती-मंगल—१६८ छन्दों म लिखित इस पुस्तक का विषय राम और सीता का विवाह-वणन है।

रामाज्ञा प्रश्न—शकुन-विचार के लिए लिखी सात अध्यायों में यह पुस्तक है, प्रत्यक अध्याय में ४९ दोहे हैं तथा इन दोहों में भी राम कथा वर्णित है।

दोहावली--भक्ति और नीति के ५७३ दोहों का यह संग्रह है, जिनमें से अनेक दोहे तुलसीदास की अन्य रचनाओं से संग्रहीत किये गये हैं ।

कवितावली--६३७ कवित्त, सवैया, घनाक्षरी और षटपदी छन्दों में इस ग्रंथ में राम-कथा वर्णित है । इस ग्रंथ से तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं कवि के जीवन की हल्की झलक इतस्ततः मिलती है । राम का शौर्य वर्णन इस ग्रंथ में अद्वितीय है । भाषा ब्रज है ।

गीतावली--राग-रागिनियों से समाविष्ट सात खण्डों में तथा ३३० छन्दों में सूर सागर की शैली पर इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है । राम के सौन्दर्य-सुषमा का वर्णन तुलसीदास ने इस ग्रंथ में किया है ।

कृष्ण गीतावली--ब्रज-भाषा में रचित कृष्ण सम्वन्धी ६१ स्फुट पदों का शृंगार-रस प्रधान संकलन यह रचना है ।

विनय-पत्रिका—यह रागरागिनियों से युक्त विनय के अप्रतिम पदों का संग्रह है । देवी-देवता, भगवान और शंकर की सेवक-भाव से की गयी वन्दनाएँ इसमें संकलित हैं । ज्ञान-वैराग्य, संसार की नश्वरता आदि के सम्बन्ध में रससिक्त कवि हृदय का आत्म-निवेदन इस ग्रंथ में संकलित है ।

युग और तुलसी का व्यक्तित्व

तुलसीदास के प्रादुर्भाव के समय का समाज सभी दृष्टियों से संक्रमणकालीन था । सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से सामान्य लोगों का जीवन विपन्न था । ऐसे लोग तत्कालीन समाज में सामाजिक दृष्टि से उन्नत समझे जाते थे जो विलासिता के गर्त में गोते लगा रहे थे । उन्हें अवकाश नहीं था कि आँख खोलकर उस समाज के प्रति कोई सर्जनात्मक कार्य करें जो महामारी, दारिद्रय और रोग से तो आक्रान्त था और जिसके जर्जर कंधों पर बड़ों की वैभवशालिनी विलासिता नृत्य कर रही थी । उन्हें तो अपनी रंगीन दुनियां चाहिये थी, संसार उनके विलास की केवल सामग्री मात्र था ।

मध्यकालीन मानव अत्यन्त धर्म-भीरु होता था । उसे धर्म पर इतनी आस्था होती थी कि वह उसे जीवन की सबसे बड़ी सम्पत्ति समझता था । यह लोक तो उसका मृयमाण ही था, वह परलोक की चिन्ता में निराशा की आशा को स्वास वघाता था । जिन लोगों के हाथों में इस क्षेत्र में वागडोर थी, उनमें या तो अनेक गद्दीदार पंडित थे, जिनका धर्म इतना कमजोर था कि स्पर्श मात्र से टूट जाता । वे उसकी उसी प्रकार रक्षा कर रहे थे जिस प्रकार घूंघट के भीतर कोई रमणी अपने रूप की । उन्हें जन-जीवन से कुछ नहीं लेना था । उनके यहाँ अहं की भावना इतनी अधिक व्याप्त हो गयी थी, जितनी मादकता के अधिक सेवन से । वे खर्राटे ले रहे थे पर दूसरों को कोसकर म्लेच्छ कहकर अपने को समेटकर आँख बन्दकर कुछ विद्यार्थियों पर अपनी शास्त्रीय विद्वता की धाक जमाने में भी तल्लीन थे । वे जाति-पाँति, छुआ-छूत के बन्धन को कठोर बना रहे थे । दूसरे ऐसे लोग समाज के ठेकेदार थे, जो कहीं ठिकाना न लगने पर सर मुड़ा-मुड़ा कर सन्यासी हो जाते थे । भारतीय परम्परा रही है कि वह ब्राह्मण को जगतगुरु और सन्यासी को ब्राह्मण गुरु मानता आया है । विश्व का यह सर्वोत्तम पद संन्यास के द्वारा तो उन्हें प्राप्त हो ही जाता है । भेष की मायामें फंस, लोग उनका सम्मान तो करते ही थे, नीच

समझी जानेवाली जाति उन्हें महात्मा मान बैठी थी। टोटका, टोना, श्रौर छूमन्तर का जादू नीच समझी जानेवाली जातियों पर जमकर चलने लगा। कबीर का सारा प्रयत्न उनके जीवन के बाद समाप्त हो गया, यद्यपि उनकी परम्परा में बाद में अनेक अच्छे सन्त हुए। दूसरे कबीर के मत में पुनर्निर्माण की भावना नहीं थी। अवशिष्ट को ध्वस्त कर वह नया निर्माण करना चाहते थे। वह फोड़े की चिकित्सा नहीं, अपितु अंग को ही ध्वस्त करना चाहते थे, जो भारत में सम्भव नहीं, क्योंकि यहाँ विशाल समन्वयवादी दृष्टिकोण ही सफल हो सकता है। गद्दियाँ बँटने लगीं, चेले मूड़े जाने लगे, मूर्ति-पूजा के विरोधी कबीर की मूर्ति की पूजा भगवान समझकर की जाने लगी। औलियावादी भैरवी-चक्र चलने लगा। यद्यपि यह चक्र बहुत दिनों से चल रहा था, फिर भी अब नये रूप में यह चला। सूफियों की सरलता भी भारतीयों का मन मुग्ध न कर सकी। सम्राट अकबर ने कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा जोड़कर दीन-इलाही धर्म चलाया। उसमें जीवन नहीं, चेतना नहीं और न थी मृतप्राय जीवन को अमृत देकर जीवित करने की शक्ति। उधर ब्रज की ओर अत्यन्त सुन्दर मन मुग्धकारी कृष्णा के रूप पर वैष्णव भक्त संगीत की स्वर-लहरी में खो रहे थे, कमनीय कृष्ण की चारुता में समाज को वे डुबाना चाहते थे, उससे ही उन्हें संतोष लाभ देना चाहते थे। पर उनका यह सामाजिक उपचार उसी प्रकार का था जिस प्रकार पीड़ा से आकुल होने पर कोई चिकित्सक ऐसी वस्तु का सेवन कराये जिसके नशे में पीड़ित पीड़ा भूल जाय। वहाँ भी गद्दीदारी का झगड़ा था, विट्ठलनाथ की डचोढ़ी बन्द की जाती, कभी बंगाली पुजारी मार भगाये जाते, कभी वेश्याओं से नृत्य कराया जाता। राग-रंग तभी भाता है जब व्यक्ति का मन शांत हो। भूखे रहनेवाले भजन नहीं करते वह गोपाल हों या राम हों। यद्यपि रामानन्द स्वयं बहुत बड़े क्रान्तदर्शी और भविष्य-द्रष्टा थे, पर उनके मत को कोई ऐसा समर्थ प्रसारक नहीं मिला जैसा अन्य मतों को। इसलिये वह संकुचित रूप से जी रहा था क्योंकि उसमें जीवनी-शक्ति थी।

ऐसी ही परिस्थितियों में **तुलसीदास** का आविर्भाव हुआ। तुलसी ने जगत देखा था, जीवन देखा था। उनके पैरों में बेवाय फटी थी। लोक में व्याप्त पीड़ा का उन्हें अनुभव था, उसके प्रति उनमें सहानुभूति थी, उसका उन्हें कष्ट था। वे जहाँ एक ओर समस्त जग को सियाराममय जानकर पूजा करनेवाले व्यक्ति थे वहीं प्रेम में चातक की भांति निष्ठा भी उनमें थी, ऐसी निष्ठा जो सदैव सर हथेली पर रखकर चलती है। उन्होंने समाज को देखा और समझा था, बाहर से नहीं उसके भीतर रहकर। उनके भीतर निर्माण की मेधावी प्रतिभा थी। नाना शास्त्रों और पुराणों का तथा भाषा के प्राकृत ग्रंथों का उन्होंने अध्ययन, मनन एवं चिन्तन तो किया था ही, भुक्तभोगी होने के कारण वे समाज के लिए 'सुन्दर' का तत्व भी समझते थे। वह रूप की माया से भी परिचित थे। इन सबका प्रभाव, उनके मेधावी प्रतिभा सम्पन्न जीवन में एक नयी चेतना लेकर आया। ऐसी चेतना की लहर जागी जिससे समन्वयग्राही इतना बड़ा तत्व प्रस्फुटित हुआ जितना विश्व के इतिहास में ढूंढ़े भी नहीं मिलता। निर्गुण और सगुण में भेद न मानकर भी उन्होंने लोक की आवश्यकता का अनुभव कर ऐसे राम की प्रतिष्ठा जन-जीवन में की जो युग के राक्षसों को ही नहीं, दशानन **रावण** को भी पदलुंठित कर सकने की सामर्थ्य रखता है। जो सुन्दरता में अपना सानी न रखने पर भी आपदा आने पर पर-उपकार

के लिए अपना कुसुम-सा हृदय वज्र वना सकता है। वे **कबीर** और **सूर** के एकांगी मार्ग की पूर्णता वनकर आये। समाज के राक्षसों से वचाने के लिए उन्होंने वानरी वृत्ति तक के लोगों के भीतर उनकी सोयी शक्ति का उदबोध कराया। वे पंडित और विद्वान थे, इसलिए तथाकथित पंडितों को भी उन्होंने अपनी अप्रतिम समन्वयवादी प्रतिभा से चकित कर दिया। **तुलसीदास** में निर्माण की अभूतपूर्व क्षमता थी। तत्कालीन सामाजिक ढांचे को, जो जर्जरावस्था में था, उन्होंने संजीवनी बूटी पिलायी। वे निर्माण में विश्वास रखनेवाले अत्यन्त मर्यादावादी जीव थे। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म का पुनः उज्ज्वल रूप सामने रखा। वैसी वैज्ञानिक सामाजिक प्रणाली का आज तक उन्नयन विश्व में नहीं हुआ। जीवन को विनष्ट करनेवाली वृत्तियों से उन्होंने संघर्ष किया था। वे इन्द्रियजित भी थे। उन्होंने लोक में व्याप्त माया, काम, क्रोध के विनाशकारी प्रभाव की भर्त्सना की। रामराज्य की उनकी कल्पना आज के युग में भी सामाजिक चेतना का प्रतीक है। उन्होंने लोक में आदर्श नारी की प्रतिष्ठा भी की। उन्होंन रामानन्दी सम्प्रदाय का अनुगमन नहीं किया, उसको एक नया रूप दिया। उन्होंने नवीन-जीवन-दर्शन दिया, नया दृष्टिकोण दिया, नयी चेतना जगायी। पर सभी कुछ साहित्यकार की भाँति मतवादी प्रचारक की तरह नहीं।

लोक कल्याण करके भी व्यक्ति अगम कल्याण की महत्तम साधना कर सकता है, **तुलसी** इस बात के प्रतीक हैं। उन्होंते आत्म-कल्याण की साधना भी केवल अपने तक ही सीमित नहीं रखी, संसार को उन्होंने उस पथ का पता भी बताया, उस पर चलने की प्रेरणा भी दी। वे असज्जनों की वंदना भी करके कभी उनके सामने झुके नहीं। इतने विशाल व्यक्तित्ववाले जन कल्याणकारी, आत्म-द्रष्टा, क्रान्तदर्शी तथा समन्वयवादी कवि का उस युग में प्रादुर्भाव न केवल भारत के लिए गौरव की वात है अपितु समस्त मानव-समाज के लिए आदर्श प्रेरणादायिनी सम्पत्ति है।

साहित्य-सौंदर्य

तुलसीदास वर्णाश्रम-व्यवस्था की प्रतिष्ठा में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति थे। उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा में अपने साहित्य द्वारा अभूतपूर्व योग दिया। भारतीय जीवन की सर्वाधिक दृढ़ भित्ति पारिवारिक जीवन है। पारिवारिक जीवन की ऐसी आदर्श प्रतिष्ठा तुलसीदास ने की कि हिन्दी का अन्य कोई साहित्यकार नहीं कर सका। पारिवारिक जीवन की आदर्श प्रतिष्ठा ही रामराज्य के मूल में है। उन्होंने लोगों को दिखाया कि जरा भी पारिवारिक मर्यादा में विकृति आने पर सारा-का-सारा घर कलह, दुःख और अशान्ति का अखाड़ा बन सकता है। लोक में व्याप्त सारी मर्यादा विनष्ट हो सकती है। कैकेयी का कोप, विभीषण का रावण के प्रति विद्रोह और बालि तथा सुग्रीव इसके उदाहरण हैं। इस कार्य में उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली। उन्होंने जिन चरित्रों का निर्माण किया है वे अजर अमर तो हैं ही साथ ही, एक आदर्श की प्रतिष्ठा करते हैं जो लोकजीवन को मंगलमय बनाने में सहायक होता है।

जहां उन्होंने शील, शक्ति और सौंदर्य के आगार मर्यादा-पुरुषोत्तम लोक-रक्षक राम की कल्पना की है, वहीं भरत और लक्ष्मण जैसे आज्ञाकारी सच्चरित्र भाइयों की भी कल्पना की है, सीता जैसी सात्विक सहचरी की कल्पना भी उन्होंने नहीं छोड़ी है। राम की पूर्णता इन लोगों के अभाव में अपूर्ण रह जाती। रावण के साथ ही साथ उन्होंने

मंदोदरी जैसी भारतीय नारी का चित्र भी उपस्थित किया है। सूर्पणखा की कल्पना को भी वे नहीं छोड़ सके हैं। हनुमान जैसे लोकसेवक भक्त को भी वे भुला नहीं पाये हैं। इस भांति इतने विविध किन्तु पूर्ण अन्योन्याश्रित चरित्रों का चित्रण उन्होंने रामायण में किया है जितने चरित्र एक साथ हिन्दी के किसी भी ग्रंथ में दिखायी नहीं पड़ते। अन्यत्र भी यदि कहीं दिखायी पड़ेंगे तो इस अन्योन्याश्रित आदर्श-प्रतिष्ठा के साथ नहीं। यह लेखक की अप्रतिम विशेषता है।

राजनीति से लेकर वेदान्त-दर्शन तक उनकी रचनाओं में आता है और सब क्षेत्रों में उनकी नयी सूझ-बूझ अपना एक मौलिक छाप देती है पर सर्वत्र मर्यादित रूप में। उनके सभी पात्र मर्यादा और भारतीय मर्यादा से अनुप्राणित होकर चलते हैं। सीता का एक चित्र यहां दिया जा रहा है जो राम का परिचय सीता से पूछे जाने के उत्तर के रूप में है।

तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचत बर बरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन विध अंचल ढाँकी। प्रभु तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति तिन्हहिं कहेउ सिय सैननि॥

राम का रूप भी सीता कंगन के नग की परछाईं में ही निहारती हैं।

राम को रूप निहारत जानकी, कंगन के नग की परछाहीं॥
यातें सबै सुधि भूल गई, कर टेकि रही, पल डारति नाहीं॥

यद्यपि **सूर** की भांति बाल-सौन्दर्य का उतना सूक्ष्म निरीक्षण उनमें नहीं ,पर जो कुछ लिखा है वह अत्यन्त गौरवशाली है।

उनके साहित्य में सभी रस आये हैं। सबका परिपाक हुआ है। यद्यपि वे भक्ति के ही उपासक थे, पर वीर, शृंगार, हास्य, सभी कुछ उनकी रचनाओं में अत्यन्त उच्च कोटि का मिलता है।

उनके विनय के पद तो इतने सुन्दर बन पड़े हैं कि ऐसा आभास होता है कि पाठक के हृदय की बात उन रचनाओं में फूट पड़ी है। उनमें हृदय की व्यापक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है।

तब तक प्रचलित काव्य-पद्धतियों एवं रचना-विधानों में उन्होंने अपनी रचनाएँ की हैं और इतना व्यापक समन्वय इस क्षेत्र में भी किया है कि जितना व्यापक किसी भी रचनाकार के साहित्य में दिखायी नहीं पड़ता।

नीति उपदेश की सूक्ति पद्धति, सूफियों की दोहा-चौपाई, वीर-शृंगार की छप्पय पद्धति, **विद्यापति** और **सूरदास** की गीत पद्धति, **गंग** आदि चारण कवियों की कवित्त सवैया पद्धति, सभी का निखार उनकी रचनाओं में मिलता है। वे विद्वान और पंडित तो थे ही, संस्कृत के भी कवि थे। उन्होंने संस्कृत में भी इतस्ततः रचना की है। उन्होंने अवधी और व्रज दोनों में रचनाएँ की हैं और उनका संस्कृत साहित्यिक रूप ही इनकी रचनाओं में मिलता है। भाषा की निखार की दृष्टि से भी उनकी हिन्दी के लिए देन अत्यन्त मूल्यवान है। कहीं-कहीं फारसी के शब्द भी उनकी रचनाओं में आ गये हैं।

यद्यपि वे सभी विचारों के सारग्राही समन्वयवादी भक्त कवि हैं, पर उन्हें सियाराम मय भक्ति का रूप ही ग्राह्य था और उससे ही लोक-मंगल की सिद्धि उनके काव्य का सर्वत्र विषय है ।

सियाराम मय सब जग जानी ।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी ।।

अन्य राम-भक्त कवि

प्राणचन्द

प्राणचन्द ने संवत १६६७ में तथा **हृदयराम** ने संवत १६८० में क्रमशः **रामायण महानाटक** तथा **हिन्दी हनुमन्नाटक** की रचना की । ये दोनों कहने भर को ही नाटक हैं । इनमें कथनोपकथन की शैली मात्र है । संवत १६६६ में **रामल्ल पाण्डे** ने **हनुमत चरित नाम** के ग्रन्थ की रचना की । **तुलसीदास** ने भक्त हनुमान की वन्दना के लिय पहले से ही रास्ता खोल दिया था ।

तुलसी के साहित्य ने सगुण भक्ति मार्ग की काव्य साधना को चरम उत्कर्ष पर पहुँचा दिया । बाद में रामभक्ति का काव्य उतना प्राणवान न रह सका, अपितु दिनोत्तर हतप्रभ होता गया । बाद में तात्कालिक समाज में व्याप्त अन्य सम्प्रदायों का भी इस पर प्रभाव पड़ा । १८वीं शताब्दी में और बाद में तो **सखी सम्प्रदाय** के रूप में उसकी एक शाखा फूटी । यह सब कृष्णभक्तों के एकान्तिक प्रेम माधुर्य का प्रभाव था । केशव-दास ने भी रामचन्द्रिका लिखी । केशव के संबंध में भी शृंगार काल के अन्तर्गत विचार किया जायगा ।

अग्रदास

नाभादासजी के गुरु **स्वामी अग्रदास** भक्तमाल के रचयिता थे । ये **रामानन्द जी** के शिष्य **अनन्तानन्द** के शिष्य **कृष्णदास पैहारी** के शिष्य थे । **श्री कृष्णदास पैहारी** ने गल्ता के नागपंन्थियों के मठ पर अपनी विद्वत्ता के बल पर अधिकार पाया था । यह उन्हीं के साथ रहा करते थे और रामभक्ति की सुन्दर रचना किया करते थे । **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने इनके सम्बन्ध में लिखा है कि ये संवत १६३२ के लगभग वर्तमान थे और उन्होंने इनकी कविता को **नन्ददास** के ढंग की बतलाया है । इनकी बनायी चार पुस्तकों का उल्लेख भी उन्होंने किया है । **हितोपदेश, उपरवाणी बावनी, ध्यानमंजरी, रामध्यान मंजरी और कुंडलिया** ।

इनकी रचना मजी हुई भाषा में ललित वर्णन से युक्त है ।

नाभादास

नाभादासजी अग्रदासजी के शिष्य तथा **भक्तमाल** के रचयिता थे । कहा जाता है कि **तुलसीदास** से इनकी भेंट हुई थी ये उनके समसामयिक थे । **डा० श्यामसुन्दर दास** ने इनका जीवन-काल लगभग संवत १६०० से १६८० तक अनुमानतः माना है । कुछ

लोग इन्हें हरिजन और कुछ लोग जाति का क्षत्रिय बताते हैं । इन्होंने व्यापक दृष्टि से अपने समय के तथा पूर्ववर्ती २०० भक्तों के चमत्कारपूर्ण चरित्र ३१६ छप्पय में लिखे हैं । इस रचना का उद्देश्य भक्तों के जीवन-वृत्त का संग्रह तो लगता ही है, उनके प्रति लोक-आस्था की अभिवृद्धि भी है : **नाभादासजी** ने इस ग्रन्थ का प्रणयन अत्यन्त सूक्ष्म एवं संतुलित दृष्टि से किया है तथा इसमें संकीर्ण साम्प्रदायिक वृत्ति से बचने का भी प्रयत्न किया है । यह ग्रन्थ भक्तों एवं हिन्दी के आचार्यों के बीच बड़ी श्रद्धा के साथ देखा जाता है । इन्होंने ब्रजभाषा के पदों में राम की गुणगाथा गायी है । इनके पदों का संग्रह भी हाल ही में लोगों को प्राप्त हुआ है । इनके दो अन्य ग्रन्थों का उल्लेख भी **आचार्य शुक्ल** ने अपने **हिन्दी-साहित्य के इतिहास** में किया है । एक ब्रज-भाषाके गद्य में है,दूसरा **रामचरितमानस** की शैली पर है ।

नारियों नें भी रामभक्ति के साहित्य में योग दिया पर उनकी संख्या अत्यंत परिमित है तथा उनका साहित्य साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्व का नहीं । सखी सम्प्रदाय के अनेक कवियों ने तो नारी नाम से रचना की जो भ्रम में डालने का कारण बना हुआ है । नारियों में १६वीं शताब्दी तथा **प्रतापकुँवरबाई** और **हुतहृराम** का नाम सम्भवतः लिया जा सकता है ।

कृष्णभक्ति का साहित्य

प्रमुख साहित्यकार

सूर, मीरा, रसखानि तथा अन्य

हिन्दी कविता के आदिकाल में प्राकृत-जनों के गुण-गौरव की गाथा के रूप में काव्य का सर्जन तथा विकास हुआ। निर्गुणियों का ब्रह्म तो सगुण और निर्गुण से परे तो था ही तत्सम्बन्धी कवि उसके रूप की पहिचान साहित्य के माध्यम से न करा पाये। ब्रह्म का गुण तो इन्हें ऐसा ही लगा जैसे गूंग को गुड़। अतएव ऐसे अलौकिक चरित्र-नायक का अनुभव सत साहित्यकार करने लगे जिसकी काव्य-प्रतिष्ठा जन-मन के भीतर उस आदर्श की प्रतिष्ठा कर सके जिसकी सहज कल्पना तथाकथित प्राकृत जनों की गौरव-गाथा में समाहित ही नहीं हो सकती थी। सामान्य व्यक्तित्व के सामन्तवादी राजाओं के अत्याचार से त्रस्त जनता उनके भीतर पेटू कवियों द्वारा वर्णित गुणों का अभाव तो देखती ही थी, साथ ही उसकी व्यक्तिगत अनुभूति उसके विलोम में थी। अतएव मूर्त्त चरित्र की आवश्यकता का अनुभव समय की मांग थी। राम और कृष्ण दोनों चरित्र काव्य में इसीलिए आदर के साथ ग्रहीत भी हुए।

"यदायदाहि धर्मस्य" के सिद्धान्त के अनुसार अवतार की कल्पना **गीता** में ही की जा चुकी थी। राम को आदि कवि **बाल्मीकि** ने विष्णु का अंशावतार मान ही लिया था। कृष्ण की भी अवतारणा गीता के समय में हुई और **भागवत पुराण** ने उसे दृढ़ता प्रदान की। साहित्य के क्षेत्र में कृष्ण लीला का गान गेय पदों में होने का अनुमान इस आधार पर लगाया जा सकता है कि **क्षेमेन्द्र** तथा **जयदेव** ने गीत-गोविन्द की संगीतमय रचना संस्कृत में की। ११वीं शती की **क्षेमेन्द्र** की रचना से भी इसका आभास लगता है। कृष्णलीला के पदों की यह परम्परा हिन्दी में विद्यापति में सर्वप्रथम दिखायी पड़ी। बंगला में **चण्डीदास** ने उनकी लीला गायी। इस भांति समस्त उत्तरी भारत में कश्मीर से लेकर बंगाल तक कृष्ण काव्य के नायक के रूप में ग्रहीत होते दिखायी पड़ते हैं। अनेक ऐसे कवियों का अभी तक पता ही नहीं चल पाया है जिन्होंने कृष्ण-लीला विषयक पदों की रचना की होगी। उनका साहित्य या तो नष्ट हो गया होगा या कहीं कोनों में पड़ा होगा। **सूरदास** इस परम्परा के पहले कवि हिन्दी में ठहरते हैं।

जहां तक भावना का प्रश्न है **सूर** के पश्चात प्राय: कृष्णभक्ति के अनेक सम्प्रदायों से कृष्ण-काव्य के सर्जन की प्रेरणा कवियों को प्राप्त हुई।

बौद्ध-धर्म जब सत्वहीन होने की ओर अग्रसर हुआ उसी समय **शंकराचार्य** ने समस्त भारत को अद्वैतवाद से प्रभावित किया। कुछ समय बाद ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या वाला शांकर अद्वैतवाद भी लोगों के लिए आकर्षणहीन प्रतीत होने लगा; लोग लोकरंजनकारी सगुण भक्ति के प्रति आकृष्ट होने लगे। ऐसे ही अवसर पर **रामानजाचार्य** ने सगुण

ईश्वर का निर्गुण ईश्वर के स्थान पर और ज्ञान के स्थान पर भक्ति का प्रचार किया। दक्षिण और उत्तर दोनों इससे प्रभावित हुए। निम्बार्काचार्य ने रामानुज के विष्णु के स्थान पर कृष्ण का सगुण रूप भक्ति के लिए उपस्थित किया। **वल्लभाचार्य** तथा **महाप्रभु चैतन्य** द्वारा कृष्ण भक्ति का आन्दोलन अत्यन्त व्यापक रूप से उत्तरी भारत में प्रचारित तथा प्रसारित हुआ।

चैतन्यप्रभु का कार्य-क्षेत्र बंगाल में था और उनकी भक्ति में भक्ति का सौन्दर्य-मय मुदित प्रेम का रूप ग्रहण किया गया। **वल्लभाचार्य** का मत हिन्दी काव्य में कृष्ण-भक्ति साहित्य के सर्जन में पर्याप्त सहायक हुआ इनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय में इस धारा के प्रायः सभी प्रमुख कवि हुए।

वल्लभाचार्य सं० १५२९ या १५३५ में तैलंग ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थ। उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया था तथा उसमें लोकके अनुरूप मत का अन्वेषण किया था। कृष्ण की भूमि मथुरा और वृन्दावन में पर्याप्त समय तक रहने के पश्चात काशी में उन्होंने अनेक संस्कृत ग्रंथों का प्रणयन भी किया था। उन्होंने कृष्ण की माधुर्य भक्ति का प्रचार किया। वे शुद्धाद्वैतवादी थे। उनके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म, जीव और जड़ जगत में अन्तर नहीं। वे एक ही हैं। पवित्र प्रेम भाव से उपासना करने की पद्धति का उन्होंने प्रचार किया। इंनकी भक्ति परम्परा में कृष्ण की उपासना सखा रूप में की गयी। इस पद्धति में कृष्ण की भक्ति में उनका बाल और युवक प्रेमी रूप गृहीत किया गया।

धनी मानी लोग दूर देश तक इस मत के अवलम्बी थे। राग-भोग और रस-रंग का इस भक्ति पद्धति की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। इनके बाद **गोस्वामी बिट्ठलनाथ** ने इनके मत के प्रचार प्रसार में अत्यन्त सहायता पहुँचायी।

उन्होंने अपने जीवन काल में ही हिन्दी के आठ प्रमुख कवियों को जो कृष्ण भक्त थे, सम्मानित कर **अष्टछाप** की स्थापना सं० १६०२ में की। इन कवियों ने कृष्ण की बाल-लीला, यौवन-लीला, गोपियों का विरह तथा इस सम्प्रदाय के मत का प्रतिपादन अपने काव्य का विषय बनाया। ये सभी ब्रज-भाषा के गेय पदों द्वारा कृष्ण की मूर्ति के सामने कीर्तन भक्त-मण्डलियों के मध्य कर अपने मत का प्रचार करते थे।

बिट्ठलनाथ के जीवन में ही इस सम्प्रदाय में विकृति के दर्शन होने लगे थे, विलास का वेग बढ़ने लगा था। कट्टर साम्प्रदायिकता की भावना व्यापक प्रसार पाने लगी थी। माधुर्य-भाव की साधना अत्यन्त कठिन है। विकृति का द्वार वहां सदा उन्मुक्त रहता है। **वैष्णव गौड़ों** तथा **हितहरिवंश** के समुदायों ने राधा की पूजा प्रारंभ की। कृष्ण को राधा का गुलाम समझा जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि विलासिता में पली गद्दियाँ वासना का रंग-मंच बनने लगीं और शृंगारिक भावना की जड़ जमने लगी। भक्तों के भगवान कृष्ण केलि और वासना के कामदेव बन गये। इस विलासिता का विकृत परिणाम हिन्दी की शृंगारी रचनाएँ हैं जो कृष्ण के बहाने की गयीं।

यह सब होते हुए भी इनके प्रारम्भ का साहित्य अत्यन्त गौरवपूर्ण है। उस ने ब्रज-भाषा-काव्य को एक से एक सुन्दर रत्न दिये हैं। इन साम्प्रदायिक भक्तों की स्वर लहरियों में समय और काल की सीमा पार करनेवाली मिठास है।

अष्टछाप के कवियों द्वारा ब्रज-भाषा के इस पंथ का अत्यन्त सुन्दर साहित्य उपस्थित किया गया उनमें **सूरदास** का नाम सबसे पहले लिया जाता है ।

सूरदास

जन-प्रियता की ही नहीं साहित्यिक मर्यादा की दृष्टि से भी **सूरदास** ब्रज-भाषा के अप्रतिम कवि हैं । **अष्टछाप** के कवियों के वे सिरमौर तो हैं ही कृष्ण-भक्त कवियों में भी उनकी समता का दूसरा कोई कवि नहीं । यद्यपि हिन्दी में **सूर** और उनके साहित्य पर अनेक पुस्तक लिखी गयी पर उनके जीवन-वृत्त पर सर्वसम्मति विचार अभी तक नहीं दिखायी पड़ा । **'निज वार्ता'** के अनुसार **सूरदास श्री वल्लभाचार्य** के जन्म के दस दिन पश्चात उत्पन्न हुए । इस तरह उनकी जन्म तिथि वैशाख शुक्ल ६ सं० १५३५ है क्योंकि श्री वल्लभाचार्य की जन्म तिथि वैशाख कृष्ण ११ सं० १५३५ है । **ब्रज-साहित्य मंडल** ने भी इसी तिथि को ही मान्यता प्रदान की है । अब तक के अनुसन्धानों से **सूर** के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में जो ज्ञातव्य बातें हिन्दी जगत के सम्मुख आयी हैं, वे इस प्रकार हैं ।

दिल्ली के समीप सीही नामक ग्राम के एक ब्राह्मण परिवार में **सूरदास** का जन्म हुआ । बचपन में ही वैराग्य उत्पन्न होने पर निकटस्थ एक दूसरे ग्राम को चले गये और वहां अट्ठारह वर्ष की आयु तक रहे । वहां उनपर जनता की श्रद्धा थी । वहीं पर इन्होंने संगीत की शिक्षा ली । कंठ इनका ललित था जिसके कारण संगीत में चार चांद लग गये । यहां पर शकुन-विचारक होने के कारण इन्हें पर्याप्त ख्याति मिली । तथोक्त कारण से इनके शिष्य (सेवक) भी बने और लोग इन्हें **स्वामी जी** के नाम से संबोधित करने लगे । साथ ही इन्हें पर्याप्त मात्रा में धन भी शिष्यों द्वारा प्राप्त हुआ । इस **माया-जाल** की जकड़न का उन्हें एक दिन रात्रि में अनुभव हुआ और अपना सर्वस्व वहीं त्याग मथुरा और आगरा के मध्य प्रारंभ में **रुनकता** (रेणुका) और स्थायी रूप से **गऊघाट** पर रहने लगे । यहां ३१ वर्ष की अवस्था तक **सूरदास** रहे । संगीत का पुराना अभ्यास यहां भी न छोड़ सके । साथ ही वे शास्त्र पुराण आदि का गंभीर अध्ययन भी करते रहे सम्भवत: यह शास्त्र ज्ञान उन्हें सतसंग आदि से प्राप्त हुआ होगा । यहां पर वे विनय के पदों की रचना करते रहे और भक्तों के मध्य संगीत की स्वर लहरी में आत्म-विभोर हो अपने पदों से भक्ति का प्रसार करते रहे । वहां पर भी इन्हें सम्मान मिला । लोग शिष्य हुए तथा लोग इन्ह वहां भी स्वामी जी कहकर संबोधित करने लगे ।

लगभग सं० १५६७ में **पुष्टि मार्ग** के संस्थापक **श्री वल्लभाचार्य** गृहस्थ जीवन धारण करने के पश्चात जब तीसरी बार ब्रज-यात्रा के लिए अड़ैल से निकले तो, गऊघाट पर सूरदास से इनकी भेंट हुई । दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुए । **सूर** के भीतर उनके प्रति असीम श्रद्धा का भाव जागा और वे इनके शिष्य बन गये । वे उन्हीं के साथ **गोकुल** गये और वहां **श्री वल्लभाचार्य** के आदेशानुसार भक्तिभाव से पूर्ण पदों की रचना करते रहे । गोकुल से **वल्लभाचार्य जी** के साथ ही आप हो लिये और **श्रीनाथ जी** के सम्मुख अपने भक्ति पूर्ण गायन और कीर्तन कर भक्तों में **अजस्त्र रस** की वर्षा करते रहे । **गोवर्धन** आ जाने के पश्चात **परासोली** नामक स्थान को अपना स्थायी निवास स्थान बनाया और वहीं पर संवत १६४० के लगभग उनका देहावसान हुआ । उस समय वहां **बिट्ठलनाथ जी** उपस्थित थे और कहा जाता है कि निम्नलिखित पद गाते हुए उनका पर्यवसान हुआ ।

खंजन नैन रूप रस माते ।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते ।।
चलि चलि जात निकट श्रवनन के, उलटि तातंक फँदाते ।
"सूरदास" अंजन गन अटके नतरु अबहि उड़ि जाते ।।

जब गोस्वामी बिट्ठलनाथ ने **पुष्टि मार्ग** के आठ कवियों तथा गायकों की स्थापना **अष्टछाप** के नाम से की तो इन्हें उनमें अत्यन्त प्रमुख स्थान दिया गया । इस सम्प्रदाय के प्रवर्धन में **सूरदास** ने अत्यन्त सहायता पहुँचायी ।

कहा जाता है कि **सूरदास** से सम्राट अकबर की भेंट हुई थी और अकबर ने उनके प्रति सम्मान भी प्रदर्शित किया था ।

मूल चौरासी वार्ता" तथा '**अष्ट सखान**' की वार्ता में इस बात का वर्णन है । कहा जाता है कि **तानसेन** जब संवत १६२१ में अकबर के दरबार में आया, उसने **सूरदास** द्वारा रचित एक पद सुनाया और उसी ने **सूरदास** और **अकबर** के मिलन का प्रबन्ध भी किया । **तानसेन**की दृष्टि में **सूरदास** का क्या महत्व था यह उसके द्वारा रचित इस पद से ज्ञात हो जाता है ।

"किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर को पीर ।
किधौं सूर को पद सुन्यो तन मन धुनत सरीर ।।"

ऐसा समझा जाता है कि यह भेंट संवत १६३२ में मथुरा में हुई थी, जिसमें सूरदास ने अकबर को अपने दो भजन सुनाये थे ।

"मना रे तूं कर माधो से प्रीति" और "नाहीं न रह्यो मन में ठौर"

दूसरा पद **सूर** ने तब सुनाया जब **अकबर** ने अपने गुणगान के लिये कोई पद सुनाने का आग्रह **सूर** से किया ।

कुछ लोगों का ऐसा मत है कि **सूरदास जी** जन्मान्ध थे । इसकी पुष्टि में वे उनके पदों को प्रमाण रूप में रखते हैं । पर हिन्दी के प्रायः सभी सुलझे हुए विद्वानों का मत है कि जन्मान्ध व्यक्ति जीवन के विविध उपकरणों का उस सूक्ष्मतापूर्वक विवेचन अपने काव्य में नहीं कर सकता जिस प्रकार का वर्णन सूरदास ने किया है । इस सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियां भी प्रचलित हैं । ऐसा कहा जाता है कि अपनी युवावस्था में किसी स्त्री के प्रेम के कारण आँख स्वयं फोड़ लीं । यह वार्त्ता भी प्रचलित है कि **सूर** अपनी अन्धावस्था में किसी कुएँ में गिर गये थे, जिनमें छः दिन तक पड़े रहे सातवें दिन किसी ने उन्हें कुएँ से निकाला और उसे ही **सूर** ने कृष्ण भगवान समझ लिया पर जब वे हाथ छुड़ा कर जाने लगे तब उन्हें बड़ी ग्लानि हुई और कहा जाता है कि निम्नलिखित दोहा उन्होंने कहा—

बांह छुड़ाये जात हौ, निर्बल जानि के मोंहि ।
हिरदय से जब जाहुगे, सबल बखानों तोंहि ।।

सूरदास की रचनायें

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट के अनुसार **सूर** कृत ग्रन्थों की संख्या सोलह है । **श्री द्वारिकादास पारिख** ने इनकी संख्या उन्नीस बतायी है । इन ग्रंथों का विवेचन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इनमें अनेक रचनायें या तो सूरसागर से ली गयी हैं या

प्रक्षिप्त हैं, या किसी दूसरे इस नाम के कवि की लिखी हुई है। बहुत समय तक हिन्दी के विद्वान यह मानते रहे हैं कि **सूर-सागर, सूरसारावली और साहित्य लहरी ही सूर** की प्रामाणिक रचनायें हैं। **सूरदास** नामक ग्रन्थ में डा० **ब्रजेश्वर वर्मा** ने ऐसी सम्भावना प्रकट की है कि केवल **सूरसागर** ही **सूरदास** की प्रामाणिक रचना है। लेकिन हिन्दी के अनेक विद्वान **साहित्य लहरी** को **सूरदास** की ही रचना मानते हैं। जिनमें **मुंशी राम शर्मा** और **पारिख** आदि हैं। दोनों पक्षों के तर्क इतने अकाट्य हैं कि इस सम्वन्ध में निश्चित रूप से कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। **साहित्य लहरी** दृष्टकूट पदों का संग्रह है जिसमें रस, नायिका भेद, एवं अलंकार आदि का वर्णन है। इस रीति प्रधान रचना के ११८ वें पद में **कवि-वंशावली** दी गयी है। जिसके कारण हिन्दी समीक्षकों का ध्यान इधर आकृष्ट होता है। यह पद निश्चित रूप से बाद का जोड़ा हुआ है। **सूरसारावली होली** के वृहत गान के रूप में कही गयी रचना है जिसमें ११०७ छन्द हैं और प्रत्येक छन्द दो-दो पंक्ति के हैं। ये नीरस तो हैं ही, इनमें साहित्यिक गुणों का अभाव भी है। **डा० ब्रजेश्वर वर्मा** के अनुसार यह सूर की रचना नहीं। लेकिन हिन्दी के अधिकांश विद्वान इसे सूर की ही रचना मानते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह सूरसारावली की अनुक्रमणिका है। यह एक स्वच्छन्द रचना मालूम पड़ती है, जो सूरसागर में वर्णित विषयों की पृथक और संक्षिप्त रूप से दूसरी रचनाशैली में अभिव्यक्ति है।

यदि ये दो रचनायें **सूर** की नहीं भी हैं तो उनकी महत्ता में किसी भी प्रकार कमी नहीं पड़ती। **सूरसागर सूरदास** की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। कुछ लोगों का कहना है कि **सूरसागर** में **सवालाख** पद थे किन्तु आद्यावधि जितने पद प्राप्त हुए हैं, वह दस हजार तक भी नहीं पहुँचे हैं। सम्भव है उनके अनेक पद अभी वेष्टनों में बंधे पड़े हों। फिर भी उनकी संख्या दस हजार से अधिक पहुँचना सम्भव नहीं। न यही सम्भव जान पड़ता है कि **सूर** ने इतनी रचनायें रची भी होंगी। एक लाख पद के समर्थक न केवल अपने तर्क के प्रमाण स्वरूप जनश्रुति की बात कहते हैं अपितु **सूरसारावली** का निम्नलिखित पद भी प्रमाण स्वरूप रखते हैं—

ता दिन से हरि लीला गाई, एक लक्ष पद बन्द,
ताको सार सूरसारावलि, गावत अति आनंद।

"एक लक्ष पद बन्द" में कोई लक्ष का अर्थ लाख, कोई **उद्देश्य**, कोई **"पद बन्द"** का अर्थ एक पूर्ण पद से, कोई पंक्तियों से लगाकर नाहक अपना समय नष्ट करता है। जहां से यह पद लिया गया है उसकी भी प्रामाणिकता अभी संदिग्ध है।

चौरासी वार्ता में स्पष्ट लिखा है "सूरदास ने सहस्त्रावधि पद किये हैं, ताको सागर कहिये, सो सब जगत में प्रसिद्ध भये"। गोस्वामी बिट्ठलनाथ जी तथा श्री वल्लभाचार्य क्रमशः इन्हें पुष्टि मार्ग का जहाज और भक्ति का सागर बतलाया करते थे। बहुत कुछ सम्भावना है, कि **सूरसागर** इसीलिये इसका नाम पड़ा।

सूर का साहित्य

गीत काव्य की जिस परम्परा का प्रवर्त्तन **जयदेव** और **विद्यापति** ने किया वहीं **श्रीकृष्ण चरित** का गान ब्रज के भक्त कवियों ने भी गाया। **सूरदास को बल्लभाचार्य** जी के मत के निर्देशानुसार **श्रीमद्भागवत** की कथा को ही अपने काव्य का विषय बनाना

पड़ा। इन्होंने **भागवत के दशम स्कन्ध** की कथा का सविस्तार वर्णन किया है। शेष **स्कन्धों** की कथा अत्यन्त संक्षेप में कह दी गयी है। इन पदों के सम्बन्ध में सर्वाधिक आश्चर्य-चकित कर देनेवाली बात यह है कि ब्रज भाषा की प्रथम साहित्यिक रचना होने पर भी इसमें इतनी सरसता है, इतनी मार्मिकता है, श्रृंगार और वात्सल्य रस का इतना परिपाक है कि रीवाँ नरेश **महाराज रघुराज सिंह** समस्त कवियों की कविता को सूरदास जी का जूठन बतलाते हैं। सूरदास अपने जीवन में अपनी प्रतिभा के बल पर काफी ख्याति और यश प्राप्त कर चुके थे। यह पूर्व ही स्पष्ट किया जा चुका है।

"'रघुराज' और कविगन की अनूठी उक्ति,
मोहि लगै जूठी, जानि जूठी सूरदास की ॥"

सूरदास ने जो कुछ भी लिखा है उसमें इस प्रकार लीन हुए हैं कि उनके हृदय से रचना का जो स्रोत फूटा है उसमें सभी काव्य रसिक डूब कर रसास्वादन करते हैं। **सूरसागर वात्सल्य, श्रृंगार, भक्ति,** विनय की अपूर्व उक्तियों से परिपूर्ण हैं। **वात्सल्य** और **श्रृंगार** का उन्होंने जैसा वर्णन किया है वैसा अन्य कोई कवि नही कर सका। एक-एक चेष्टाओं, एक-एक मानसिक वृत्तियों, एक-एक बाल-लीलाओं का वर्णन इतनी सूक्ष्मता पूवक किया गया है कि साहित्य में मनोवैज्ञानिक सत्यमात्र के उपासक भी दातों तले अंगुली दवा लेते हैं। एक-एक वृत्तियों का कई बार वर्णन किया गया है किन्तु प्रत्येक में नूतन रस, नवीन भाव-भंगिमा और अप्रतिम मनमोहक क्षमता है। यशोदा, नन्द, वालकृष्ण जिस किसी भी चरित को उन्हने स्पर्श किया है वे अमर हो उठे हैं। बाल-चेष्टाओं का सामर्थ्यपूर्ण वर्णन करने में संसार में स्यात ही कोई कवि इतना सफल हो सका है।

जहांतक श्रृंगार का प्रश्न है, वहां भी संयोग और वियोग दोनों प्रकार के श्रृंगारों का वर्णन सफलता के साथ सूर ने किया है। यद्यपि श्रृंगार वर्णन में वासना भी बीच-बीच में आ धमकी है पर कहीं भी कुरुचिपूर्ण अश्लीलता पंख नहीं फटकार पायी है। उसका हृदय पर कोई विकृत प्रभाव नहीं पड़ता। वियोग श्रृंगार में कवि की सारी प्रतिभा एक स्थान पर केन्द्रित सी होती दीख पड़ती है और भ्रमरगीत के अन्तर्गत विरह की सभी दशाओं का वर्णन किया गया है, जिससे कठोर से कठोर हृदय भी करुणार्द्र हो उठता है।

प्राय लोग **सूर** और **तुलसी की** तुलना एक दूसरे से करते अघाते नहीं और कोई **तुलसी** और कोई **सूर** को बड़ा बताता है। वस्तुस्थिति यह है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, हिन्दी की दृष्टि से। एक **राम-भक्त** कवियों का सिरमौर है दूसरा **कृष्ण-भक्त** कवियों का, दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। **तुलसी** ने लोक जीवन का व्यापक क्षेत्र काव्य के लिये चुना और जनजीवन को इतना अधिक प्रभावित किया जितना **शंकराचार्य** के बाद कोई नहीं कर सका। **सूर** का वह क्षेत्र हो नहीं था। **सूर** का क्षेत्र तो वात्सल्य और श्रृंगार ही था। वहां पर उनका वही स्थान है, जो लोक कवि के रूप में **तुलसी** का है।

सूर दो रूप से हमारे सामने आते हैं। पहला रूप तो उनका वह है, जब वह पुष्टि सम्प्रदाय से प्रभावित नहीं हुए थे और दूसरा रूप वह है जब वह उसके प्रभाव में आ गये थे। प्रारम्भ में उनकी भक्ति का स्वरूप सेवक-भाव का था, वाद में वही सखा-भाव का हो गया। पुष्टि सम्प्रदाय में कृष्ण की बाललीला, राधा और कृष्ण का प्रेम प्रसंग तथा गोपियों का प्रसंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। यदि सूर के पदों का विषय के अनुसार वर्गीकरण किया जाय तो वह इस प्रकार होगा।

१–विनय के पद, २–अवतार की कथायें, ३–कृष्ण की लीलायें, ४–दार्शनिक पद। विनय के पदों में संत-महिमा, गुरु-महिमा, सत्संग-वर्णन तथा भगवान के प्रति भक्त का आत्मसमर्पण है। अवतार के अन्तर्गत सभी अवतारों का संक्षिप्त वर्णन है। कृष्ण-लीला के अन्तर्गत, बाल लीला, गोचारण, दान-लीला, मुरली-माधुर्य और मान है यह सम्पूर्ण सूर-साहित्य गीतात्मक है।

विनय के पदों में दैन्य और कारुण्य भाव से अपने इष्टदेव के प्रति सूर का आत्म-समर्पण अन्तर्निहित है। उसमें एक करुण हृदय की वेदना भरी पुकार है।

कृष्ण लीला के अन्तर्गत वात्सल्य रस की प्रधानता है। कवि का हृदय इतना सरल और विशाल दीखता है कि कभी तो वह बाल कृष्ण बन जाता है, कभी वह सखा बन जाता है, कभी मां यशोदा की वाणी में बोलता है, कभी नन्द की वाणी में बोलता है पर सबसे बड़ी उसकी विशेषता यह है कि वह न केवल रूप मात्र से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करता है अपितु अविच्छिन्न रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित कर लेता है। इन मनोहारी चित्रों का दर्शन **सूरसागर** में कहीं रूप-सौन्दर्य, कहीं चेष्टा-सौन्दर्य, कहीं क्रीड़ा, कहीं मानसिक और कहीं संस्कार-उत्सव आदि के रूप में उपस्थित किया गया है। कवि ने इन सौन्दर्य चित्रों के स्फुरण में लौकिक और अलौकिक दोनों पक्षों का ध्यान सर्वत्र रखा है।

कृष्ण के उस रूप का वर्णन भी बड़ी सजगता और निपुणता के साथ, जिसमें कृष्ण सामान्य लड़कों की भांति अपराध करके बातें बनाते पाये जाते हैं, अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है।

मैया ! मैं नहिं माखन खायो।

बैर परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायौ।
देखि तुहीं छींके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायौ।
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे कर पायौं॥
मुख दधि पोंछ बुद्धि इक कीनी, दोना पीठ दुरायो।
डारि सांटि मुसुकाई यशोदा, स्यामहि कंठ लगायौं॥
बाल-बिनोद मोद मन मोह्यो, भक्ति प्रताप देखायौ।
"सूरदास" यह जसुमति कौ सुख सिव-विरंचि नहि पायौ॥

बाललीला के उनके सभी पद प्रायः इसी टक्कर के हैं। कृष्ण की तरुणावस्था की प्रेम लीलाओं का वर्णन कवि ने किया है। राधा तो प्रेम की साकार प्रतिमा है ही, गोपियों का भी उनके प्रति अगाध प्रेम है। इस सम्बन्ध में उनके प्रेम का वर्णन अपना सानी नहीं रखता। वे कृष्ण के विरह में व्याकुल होकर उस प्रकार छटपटाती हैं जिस प्रकार जल के बाहर मीन। साथ ही गोपियों के विरह वर्णन में प्रेम की प्रतिमूर्ति गोपिकाओं द्वारा जो भर्त्सना निर्गुण सम्प्रदायवादियों की है, वह भी भारतीय-साहित्य में अपना सानी नहीं रखती। विरह के स्थलों में कवि की अभिव्यक्ति इतनी सरस और रसमय हो गयी है कि **सूर साहित्य** का अध्येता बिलकुल रस में डूब जाता है।

सूरदास गीत-काव्य के गायक हैं। उनकी सभी रचनायें गेय हैं। वे अच्छे संगीतज्ञ भी थे। उनके पदों में संगीत के स्वर लहरी की अमिट झंकार भी है, जो गीत-काव्य का एक आवश्यक गुण है। उनकी यह गीत-शैली न केवल **जयदेव, विद्यापति, चंडीदास** और कबीर से अनुप्राणित है अपितु उसमें लोक में गाये जानेवाले भाषा के पदों का प्रभाव

भी है । सूर की उन कृतियों पर जो **पुष्टिमार्ग** पर आने के पूर्व लिखी गयी उनपर **कबीर** आदि की संत भावधारा का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है । उनके बाद के पदों पर **जयदेव** और **विद्यापति** का प्रभाव है । इसे केवल प्रभाव मात्र ही समझना चाहिए । क्योंकि परम्परा से प्राप्त गीतों की शैली पर **सूर** ने अपने व्यक्तित्व की मुहर लगा दी है । उनकी शैली सजीव, स्वाभाविक, चित्रमय तो है ही, व्यंगपूर्ण एवं भावों की गम्भीरता में वह जयदेव और विद्यापति से बहुत आगे है । अलंकार, उत्प्रेक्षा, विषय की नवीनता, रस का परिपाक, सभी कुछ उनकी रचनाओं में इस स्वाभाविक ढंग से आया है कि कहीं भी कोई तत्व बोझिल नहीं बन पाया है । इस मिश्रण की बारीकी हिन्दी के अन्य किसी भी कवि में नहीं मिलती । उनकी ब्रजभाषा संयत, सुव्यवस्थित और गठी हुई है, उसका प्रवाह, सहज, स्वाभाविक और भावों के अनुरूप प्राणवान तो है ही, माधुर्य और प्रसाद गुण से परिपूर्ण है । उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का, ब्रजभाषा के ठेठ शब्दों का, फारसी, अवधी, पंजाबी, गुजराती तथा बुन्देलखंडी शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है । किन्तु भाषा का प्रवाह कहीं भी नहीं रुकता । कहीं कहीं व्याकरण की अशुद्धियां मिलती हैं, पर वे नगण्य सी हैं ।

उन्होंने कहीं कहीं शब्दों को तोड़ा मरोड़ा भी है पर बाध्य होकर । मुहावरे और लोकोक्तियों का व्यवहार भी उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर का भाषा पर भी अच्छा अधिकार था ।

यद्यपि सूरदास का काव्य का क्षेत्र **तुलसी** की भांति व्यापक नहीं था तो भी ब्रज भाषा के कवियों में उनका स्थान अप्रतिम है । हिन्दी को उनकी देन अप्रतिम है । उनकी रचनाएँ पुष्टि मार्ग के सम्प्रदायिक वातावरण में रची गयी हैं तो भी उन्मुक्त हिन्दी की वह अमर निधि है ।

कुंभनदास

हिन्दी के सभी विद्वान इनका जन्म सं० १५२५ के लगभग गोवर्धन के पास यमुनावती ग्राम म तथा मृत्यु काल लगभग सन १६४० में मानते हैं । न तो ये शू ', थे, न 'ब्राह्मण' ही, अपितु ठाकुर थे । लगभग सं० १५५० में ये पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित हुए । गृहस्थ होते हुए भी निर्लिप्त भक्त थे । भक्ति के अतिरिक्त इनका और किसी वस्तु से नाता नहीं था । एक बार **मानसिंह** इन पर प्रसन्न होकर इन्हें दान देना चाहते थे । इन्होंने उनसे स्पष्ट कहा कि आप चले जाइए यही आप की कृपा होगी । **अकबर** द्वारा फतहपुर सीकरी बुलाये जाने पर वहां अकबर को इन्होंने जो भजन सुनाया था, वह अक्खड़ भक्त हृदय का महत्तम उदगार है ।

भक्तन कौं कहा सीकरी सों काम ।
आवत जात पन्हैया टूटीं, बिसर गयो हरिनाम ।।
जाकौ मुख देखै दुख लागै, ताको करन परी परनाम ।
'कुंभनदास' लाल गिरधर बिन यह सब झूठौ धाम ।।

ये घटनायें इस बात की साक्षी हैं कि ये अत्यन्त निर्लोभी, निर्विकार, गृहस्थ, कृष्णभक्त । ये पदों की रचना कर कीर्त्तन किया करते थे । **'हिन्दी-साहित्य'** में **डा० श्याम-थन्दरदास जी** ने इनकी दो पुस्तकों **'दान-लीला'** और **'पदावली'** का उल्लेख किया है पसुर अभी तक इनके लगभग दो सौ पद मात्र मिल पाये ह । इन्होंने १५५० के पश्चात

पुष्टि सम्प्रदाय में आ जाने के उपरान्त काव्य-रचना आरंभ की। काव्य की कमनीयता की दृष्टि से इनकी रचनाओं का कोई विशेष महत्व नहीं पर उनकी रचनाएँ भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति की दष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

कृष्णदास

अष्टछाप के कवियों म **कृष्णदास** सर्वाधिक नीतज्ञ, प्रभावशाली एवं रसिक व्यक्ति थे। इनका जन्म गुजरात के चजोतर नामक ग्राम में हुआ था। ये जाति के कायस्थ थे। रात म इनके पिता ने एक बनजारे को लूटलिया जिसका विरोध करने के कारण, ही १२ वर्ष की की ही अवस्था में, घर से निकाल दिये गये। लगभग १५६८ में **श्री बल्लभाचार्य** के शिष्य हुए। **डा० श्यामसुन्दर दास** के अनुसार १५८२ में **मीराँबाई** के यहां भी **श्री नाथजी** के लिए भेंट प्राप्त करने गये थे। गंगावाई नामक स्त्री से भी इनका सम्बन्ध बताया जाता है तथा एक वेश्या द्वारा अपने पदों का गायन भी **श्रीनाथजी** के मंदिर में उनके द्वारा कराया गया, ऐसा कहा जाता है। **गोस्वामी विट्ठलनाथ जी** द्वारा विरोध होने पर इन्होंने उनकी ड्योढ़ी बन्द करवा दी। नीति और शक्ति द्वारा **श्रीनाथजी** के बंगाली पुजारियों को भी वहां से हटा दिया। धाक इनकी इतनी थी कि उनके समर्थकों को साहस न हुआ कि उनकी सहायता करें। **श्रीनाथ जी** के मन्दिर की राजसी व्यवस्था इन्होंने ही आरंभ करवायी। सं० १६३५ के लगभग कुएँ में गिर जान के कारण इनकी मृत्यु हो गयी।

नन्ददास

एटा के सोरो नामक स्थान में नन्ददास का जन्म संवत १५७० के लगभग ब्राह्मण परिवार में हुआ था। **२५२ वष्णवों की वार्ता** के आधार पर लोगों का कहना है कि ये **तुलसीदास** के छोटे भाई थे। भक्तमाल में इनके भाई का नाम **चन्द्रहास** बताया गया है। कहा जाता है कि इनके पिता **जीवाराम, तुलसीदास** के चाचा थे। कुछ लोग इन्ह **तुलसी दास** का गुरुभाई भी मानते हैं। कहा जाता है कि इन्होंने **तुलसीदास** के साथ **रामानन्दी** सम्प्रदाय के एक विद्वान शिक्षक **नरहरि पंडित** से संस्कृत शिक्षा प्राप्त की थी। य संस्कृत के ज्ञाता और काव्य तथा संगीत कला में अभिरुचि रखनेवाले कृष्णभक्त थे। इनके कुछ रामभक्ति और हनुमान-भक्ति के पद मिले हैं लेकिन उन रचनाओं में प्रौढ़ता नहीं है। इनके सम्बन्ध में यह विख्यात है कि प्रारम्भ में ये काशी में रहते थे किन्तु बाद में ये द्वारका चले गये थे। रास्ते में सिंहनद नामक एक स्थान पर एक खत्री की स्त्री पर इस प्रकार मुग्ध हुए कि बराबर उसके घर का चक्कर काटने लगे। उस स्त्री के घरवाले अपनी प्रतिष्ठा के रक्षार्थ उस स्थानको छोड़ गोकुल चले गये। वहां भी **नन्ददासने** उनका पीछा नहीं छोड़ा। अन्ततोगत्वा संवत १६०० के लगभग **गोस्वामी विट्ठलनाथने** उनका लौकिक मोह भंग कर कृष्ण के अलौकिक प्रेम की ओर उन्हें उन्मुख किया। कुछ समय तक ये **सूरदास** के सम्पर्क में भी रहे। वहां से पुनः यह अपने घर लौट आये और **कमल** नाम की एक स्त्री से शादी की तथा इन्हें **कृष्णदास** नाम का पुत्र भी हुआ। संवत १६२४ के लगभग पुनः यह गोवर्द्धन चले आये और वहां पर **श्रीनाथ के जी** भजन कीर्तन में लगे रहे। संवत १६४० के लगभग इनका देहावसान हो गया।

नन्ददास के नाम से मिलने वाले ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। कहीं कहीं तो

एक ही रचना कई नाम से मिलती है। कुछ रचना इनकी ऐसी है जो इनकी न होकर किसी दूसरे **नन्ददास** की ज्ञात होती है। **गारसीदतासी** ने **नन्ददास** के चौदह ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

१. अनेकार्थ मंजरी, २. नाममाला, ३. दशमस्कन्ध, ४. पंचाध्यायी, ५. भ्रमर गीत, ६. हनुमान मंजरी, ७. रास मंजरी, ८. रस मंजरी, ९. रूप मंजरी, १०. जोग-लीला ११. रुक्मिणी मंगल, १२. सुदामा चरित्र, १३. प्रबोध चन्द्रोदय, १४. गोवर्द्धन लीला।

नाममाला और **मानमंजरी** एक ही रचना है। **रास मंजरी** के स्थान पर **विरह मंजरी** होना चाहिये। ७ और ८ एक ही रचना है। **'शिवसिंह सरोज'** में केवल उनकी ७ रचनाओं का उल्लेख है जिनमें दो और नई पुस्तकों का नाम आया है **"दानलीला"** और **'मानलीला'**। सभा की रिपोर्ट में इनकी कुल १७ रचनाओं का उल्लेख किया गया है। **मिश्र बन्धु 'ज्ञान मंजरी'** हितोपदेश', **'विज्ञानार्थ प्रकाशिका'**, (गद्य) और तीन नयी रचनाओं का उल्लेख किया है। सभा द्वारा प्रकाशित नन्ददास ग्रन्थावली में उनकी निम्नलिखित ११ कृतियाँ प्रामाणिक मानी गयी है।

१. रासपंचाध्यायी, २. भागवत दशमस्कन्ध, ३. भ्रमर गीत, ४. रूपसंजरी, ५. रस मंजरी, ६. विरह मंजरी, ७. अनेकार्थ मंजरी, ८. नाम मंजरी, ९. रुक्मिणी मंगल, १०. श्याम सगाई, ११. सिद्धान्त पंचाध्यायी।

रूप मंजरी, रस मंजरी ौर **विरह मंजरी** चौपाई छन्दों में लिखी गयी हैं और काव्य की दृष्टि से उसमें सरसता है। **रास पंचाध्यायी नन्ददास** की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। **सिद्धान्त पंचाध्यायी** का कथानक वही है जो **रास पंचाध्यायी** का है। **रास पंचाध्यायी** में **भागवत** की कथा का सरस रूपान्तर किया गया है ? **रूप मंजरी** में अकबर की दासी पत्नी का, जिसकी शारीरिक पवित्रता अन्त तक बनी रही, वर्णन है। **रहस्य मंजरी** नायिका भेद का ग्रन्थ है। **विरह मंजरी** में विरह की चार अवस्थाओं-**प्रत्यक्ष, पलकान्तर, बनान्तर और देशान्तर**——का उस समय का वर्णन है जब कृष्ण वृन्दाबन से मथुरा चले गये। **भ्रमर गीत** में उद्धव गोपी संवाद है। **गोबर्द्धन लीला** में कृष्ण के गोबर्द्धन लीला तथा गोवर्द्धन कथा का वर्णन है। **श्यामसगाई** में राधा से कृष्ण की शादी की कथा है। **रुक्मिणी मंगल** में कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह की कथा है। **सुदामा-चरित** में सुदामा और कृष्ण के मैत्री का वर्णन है। **भाषा दशमस्कन्ध** में भागवत के प्रथम २८ अध्यायों का अनुवाद है। पदावली में समय समय पर उनके द्वारा गाये गये पदों का संग्रह है। इनके दो ही ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध हुए, **रास पंचाध्यायी** और **भ्रमर-गीत**। इनके सम्बन्ध में यह कहावत प्रसिद्ध है कि :—

और सब गढ़िया नन्ददास जड़िया।

अष्ट छाप के कवियों में काव्यत्व की दृष्टि से **सूरदास** के पश्चात **नन्ददास** का ही नाम लिया जा सकता है। इन्होंने रोला, दोहा, चौपाई आदि विविध छन्दों का उपयोग किया है। **नन्ददास** की भाषा इस बात का प्रमाण है कि उनके पास विपुल शब्द भाण्डार था। वे शब्दों को साहित्यिक ढंग से रखना जानते थे तथा शैली की विभिन्नता की दृष्टि से अष्टछाप के कवियों में यह सबसे आगे आते हैं। इनकी रचनाओंसे भाषा की सजावट और शब्दों के माधुर्य का अच्छा आभास मिलता है। **रास पंचाध्यायी** में कृष्ण की रास

लीला का साहित्यिक वर्णन हृदय को मुग्ध करनेवाला है। **भ्रमर गीत** में उद्धव-गोपी संवाद द्वारा निर्गुण पन्थियों के ऊपर भक्ति की विजय दिखायी गयी है। प्रेम की प्रतिष्ठा योग से बड़ी ठहराई गयी है और ऐसी सुन्दर सरस तार्किक पद्धति पर इसका निरूपण किया गया है कि अध्येता नन्ददास के इस मनोवैज्ञानिक प्रतिपादन पद्धति से प्रभावित हो उठता है। इनकी रचनाओं में संगीत की योजना भी मिलती है। ये सर्वत्र ही पुष्टि सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के घेरे के भीतर ही रहते हैं। उन सिद्धान्तों की मर्यादा के भीतर इस प्रकार काव्य की रचना की है कि पढ़नेवाले पर काव्य का प्रभाव तो पड़ता है लेकिन कहीं भी ऐसा आभास नहीं होता कि वह पुष्टि सम्प्रदाय की वात लोगों पर लाद रहे हैं। यह कवि की बहुत बड़ी सफलता है। उनकी रचनायें कृष्णभक्ति साहित्य की रचनाओं में अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। उनकी रचना से कुछ अंश यहां दिया जा रहा है।

यह सब सगुन उपाधि रूप निर्गुन है उनकौ।
निरविकार निरलय लगति नहि तीनो गुन कौ॥
हाथ न पाव न नासिका, नैन बैन नहि कान।
अच्युत ज्योति प्रकास है, सकल विस्व को प्रान॥
सुनो ब्रजनागरी
जो गुन आवें दृष्टि मांझ नस्वर हैं सारे।
इन सबहिन ते बासुदेव अच्युत हैं न्यारे॥
इन्द्री दृष्टि विकार ते रहत अर्धाक्षन ज्योति।
सुद्ध सरूपी जानि जिय तृप्ति जो ताते होति॥
सुनो ब्रजनागरी।

छीत-स्वामी

चतुर्वेदी ब्राह्मण-कुल में **मथुरा** में सं० १५७२ में इनका जन्म हुआ। सं० १५९२ में **पुष्टि-सम्प्रदाय** में दीक्षित हुए तथा गोबर्धन के **पूछरी स्थान** में सं० १६४२ म इनकी मृत्यु हुई। इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं है। केवल २०० पद मिले ह जो काव्य की दृष्टि से साधारण हैं।

गोविन्दस्वामी

भरतपुर के **अतरी ग्राम** में सनाढय ब्राह्मण कुल में सं० १५६२ में उत्पन्न हुए। सं० १५९२ में पुष्टि सम्प्रदाय में **बिट्ठलनाथ जी** के शिष्य हुए। सं० १६४२ में गोवर्धन में उनका देहावसान हुआ। कहा जाता है कि **तानसेन** इनका संगीत-शिष्य था। संगीत के ये अच्छे मर्मज्ञ थे। काव्य की दृष्टि से इनकी रचनाओं का स्तर साधारण ही है। उनके रचे पदों में से २५२ का एक संग्रह प्राप्त है।

चतुर्भुजदास

ये कुंभनदास के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १५९७ तथा मृत्यु सं० १६४२ के आसपास माना जाता है। कवि की अपेक्षा संगीतकार तथा कीर्त्तनकार के रूप में इनका महत्व अधिक है। **कांकरोली के विद्या-विभाग** में इनके पदों के तीन संग्रह—**चतुर्भुज कीर्त्तन संग्रह, कीर्तनावलि** और **दानलीला** संग्रहीत है। **डा० श्यामसुन्दर दास** ने इनकी

अन्य दो पुस्तकों का भी उल्लेख किया है। उनके नाम हैं **भक्ति प्रताप** और **मधुमालती** कथा। श्री प्रभुदयाल मित्तल इन्हें दूसरे की रचनाएँ बतलाते हैं।

अष्टछाप के कवियों में **परमानन्द दास जी** भी हैं इनकी रचना सामान्य साहित्यिक महत्व की है।

अन्य कृष्ण-भक्त कवि

हित हरिवंश

राधाबल्लभी सम्प्रदाय के संस्थापक **गोंसाई हित हरिवंश जी** संवत् १५५९ में मथुरा में उत्पन्न हुए। यद्यपि आपका यह सम्प्रदाय **माध्व सम्प्रदाय** के भीतर ही आता है फिर भी साधना की दृष्टि से उसमें कुछ नवीनता है। **हित हरिवंश निम्बार्क** मत से भी प्रभावित थे। **नाभा जी** ने इनके सम्बन्ध में निम्नलिखित छप्पय लिखा है।

श्री हरिवंश गुसाई भजन की रीति सकत कोउ जानि है।
श्री राधाचरण प्रधान हृदय, अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दम्पति तहाँ की करत खवासी।
सरबस महा प्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
विधि निषेध नहि दास अनन्य उत्कट व्रतधारी।
श्री व्यास सुवन पथ अनुसरे सोई भलै पहिचानि है।

गोस्वामीजी ने अपने मत के प्रचारार्थ १५८२ में **श्री राधाबल्लभ जी** की मूर्ति वृन्दावन में स्थापित की। **नाभा जी** के छप्पय से यह बात स्पष्ट होती है कि **किंकरी या सखी भाव** की स्थापना इनके द्वारा हुई तथा **अनन्य दास भाव से राधा की बन्दना भी इनके मतद्वारा प्रतिपादित हुई।** क्योंकि राधा-रानी के कृष्ण दास हैं और राधा की उपासना से कृष्ण का प्रसादप्राप्त किया जा सकता है। **राधा सुधा निधि** और **हित चौरासी** नामक इन्होंने ने दो पुस्तकें लिखीं इसके अतिरिक्त इन्होंने स्फुट पद भी लिखे हैं। **राधा सुधा निधि संस्कृत** में है और रचनायें इनकी हृदय ग्राहिणी सरस व्रज भाषा में। इनकी **हित चौरासी** पर **प्रेम दास** और **वृन्दावनदास** ने टीकायें भी लिखी हैं। इनकी रचनाएँ बड़ी सरस तथा कोमल हैं।

इनकी परम्परा को आगे बढ़ानेवाले **सेवक जी, ध्रुवदास** तथा **व्यास जी** अच्छे रचनाकार हुए।

हरिराम व्यास तथा ध्रुवदास

व्यास जी पहले संस्कृत में शास्त्रार्थ किया करते थे। अगड़धत्त शास्त्रार्थी थे। ये ओरछा के राजा **मधुकर शाह** के राजगुरु थे। वृन्दावन में इन्होंने **गोस्वामी हितहरिवंश राय** को ललकारा किन्तु बाद में इनके अनन्य भक्त और चेले बन गये और वृन्दाबन में ही रम गये। इन्होंने व्यापक क्षेत्र में कृष्ण भक्ति की रचनायें की हैं। इनकी रचनाओं के विषय हैं **ज्ञान, वैराग्य और भक्ति**। ये प्रेम को शुद्ध आध्यात्मिक वस्तु माननेवाले

व्यक्ति थे। इन्होंने **रास पंचाध्यायी** भी लिखी है तथा **साखियां** भी लिखी। इनकी रचना का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है।

ध्रुवदास भी वृन्दाबन में ही रहा करते थे। इन्होंने **नाभा जी** के भक्तमाल के ढंग पर **भक्त नामावली** लिखी है। इनका रचना काल संवत् १६६० से १७०० तक **शुक्ल जी** ने माना है। इन्होंने दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैया पदों में प्रेम और भक्ति तत्व का निरूपण किया है। इनके निम्नलिखित ४० ग्रन्थ मिले हैं।

वृन्दावन-सत, सिंगार-सत, रस-रत्नावली, नेह-मंजरी, रहस्य-मंजरी, सुख-मंजरी, बन-विहार, रंग-विहार, रस-विहार, आनन्द-दसाविनोद, रंग-विनोद, नृत्य-विलास, रंग-उल्लास, मान-रस-लीला, रहसलता, प्रमलता, प्रेमावली, भजन कुण्डलियां, भक्त-नामावली, मन-सिंगार, भजन-सत, प्रीति-चौगुनी, रस-मुक्तावली, वामन-वृहत पुराण की भाषा, सभा-मंडली, दशानन्दलीला, सिद्धान्त-विचार, रस हियरावली, हित-सिंगार लीला, ब्रज-लीला, आनन्दलता, अनुराग-लता, जीव दशा, वैध लीला, दानलीला और व्याहलो।

स्वामी हरिदास

ये **टट्टी सम्प्रदाय** के संस्थापक **अकबर** के समय के एक सिद्ध भक्त थे। संगीत कला के अत्यन्त मर्मज्ञ ज्ञाता और स्वयं संगीतकार थे। इनकी कविता का समय **शुक्ल जी** ने संवत् १६०० से १६७१ ठहराया है। इनका जीवन वृन्दावन और निधुवन में बीता। यों तो इनके पद देखने में बड़े ऊबड़ खाबड़ हैं पर राग रागिनियों से भरे पड़े हैं।

महाप्रभु चैतन्य द्वारा प्रवर्तित **गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय** में **गदाधर भट्ट** आदि अच्छे कवि हुए। **राधा बल्लभी सम्प्रदाय, टट्टी सम्प्रदाय** और **गौडीय वैष्णव** सम्प्रदायों की रचनाओं में, भक्तों द्वारा, स्त्री रूप में आत्मसमर्पण की भावना दिखायी पड़ती है। यही भावना बाद में जाकर श्रृंगार साहित्य की अभिवृद्धि में सहायक हुई।

सम्प्रदाय मुक्त भक्त कवि

मीराँ

बसो मेरे नैनन में नंदलाल।
मोहनि मूरति, सांवरि सूरति, नैना बने विसाल।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, अरून–तिलक दिए भाल।

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारत सिगरी रैन विहानी हो।
सखियन मिलकर सीख दई मन एक न मानी हो।
बिन देखे कल नाहि परत जिय ऐसी ठानी हो।
अंग अंग व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो।
अन्तर वेदना विरह की, कोऊ पीर न जानी हो।
मीरा व्याकुल विरहिनी सुध बुध बिसरानी हो॥

मीराँ के सम्वन्ध में हिन्दी मे अनेक पुस्तकें लिखी गयीं, सैकड़ों स्थानों पर उनकी चर्चा की गयी। पर अभी तक हिन्दीवालों के हाथ कोई स्वस्थ सामग्री न लगी। इसमें

कृतिकर्त्ताओं का दोष नहीं। प्रामाणिक सामग्री का अभाव ही इसके मूल में है। लोक में अत्यन्त निर्मल और आदर्श समझी जानेवाली मीराँ पर धार्मिक उन्माद के वातावरण में उनके समय में ही उनकी भर्त्सना की गयी थी और आज तक निरन्तर वह दृश्य नयी बातों, नयी कल्पनाओं को प्रस्तुत करने के उल्लास के कारण हो रहा है। अतएव यहाँ मीराँ के जीवन एवं कृतित्व की एक हल्की रूप-रेखा-खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति से बचकर उपस्थित करना ही अधिक श्रेयस्कर होगा।

जिस समय **मीराँ** के वर्त्तमान होने की बात कही जाती है उस समय के सामाजिक वातावरण पर ध्यान देने पर **मीराँ** के सम्बन्ध में उठायी गयी कुछ आशंकाओं का अपने आप उन्मूलन हो जाता है। पठानों का राज्य तब तक समाप्त हो रहा था और निश्चय ही दिल्ली **बाबर** के आधीन होने वाली थी। विजेता जाति के लोग स्नेह, प्रताड़ना एवं शासन के बल पर इस्लाम का प्रसार देश में व्यापक रूप से कर रहे थे। दो विरोधी संस्कृतियों का संगम अपनी किशोरावस्था में था। भारतीय संस्कृति के कर्णधारों ने उसकी जीवनी शक्ति का अनेक अर्थों में तब तक गला घोंट दिया था। शक, शिथियन और हूणों को अपने में पचाकर डकार तक न लेनेवाली संस्कृति मुसलमानों को आत्मसात न कर सकी। धर्म के ठीकेदार ढोंग की चादर ओढ़कर खर्राटे ले रहे थे। देशी राजा घुटने टेक चुके थे। ऐसी परिस्थिति में जाँति-पाँति के बन्धन से समाज ने ढाल का काम लिया। नारी की मर्यादा सुरक्षित न थी। उसके जीवन का सबसे बड़ा शृंगार-सतीत्व खतरे में था। उसकी रक्षा का भार स्वयं जनता ने उठाया। कठोर पर्दा-प्रथा की व्यापकता और अन्तिम अवस्था में **जौहर** इस संकट से निवृत्ति के राज-मार्ग बने। जो वर्ग जितना ही सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से उच्च था, उस वर्ग में उक्त साधन उतने ही व्यापक रूप से अपनाया गया। सामन्तों एवं राजाओं के घर नारी असूर्यपश्या रखी जाने लगीं। मीराँ भी एक ऐसे ही परिवार में उत्पन्न हुई थीं।

मीराँ-जीवन-वृत्त

जन्म—मीराँबाई मेड़ते के राठौर **दूदा जी** के चौथे पुत्र **रत्नसिंह** की इकलौती पुत्री थीं। **दूदा जी** के बड़े पुत्र **बीरमदेव** (जन्म सं० १५३४) और चौथे **रत्नसिंह** (मृत्यु सं० १५८४) जी थे। **मीराँ** के जन्म के सम्बन्ध में अनेक तिथियों का उल्लेख विद्वानों द्वारा किया गया है। यदि **रत्नसिंह** और **बीरमदेव** के उत्पन्न होने में ६ वर्ष का अन्तर (कम से कम २ वर्ष पश्चात् **बीरमदेव** के अन्य भाइयों की उत्पत्ति मानी जाय) माना जाय तो उनकी जन्म-तिथि लगभग सं० १५४० के बाद ही पड़ेगी। यदि संभावना और कल्पना तथा जनन-क्रिया को ध्यान में रखा जाय तो मीराँ की जन्म-तिथि सं० १५६० के पश्चात् ही पड़ेगी। ऐसी परिस्थिति में मीराँ के जन्म सं० १५६१ मानना ही अधिक समीचीन मेरी दृष्टि से होगा। यह मान्यता पहले ही से समर्थित है। इस मान्यता को सबसे बड़ा समर्थन इस बात से भी प्राप्त हो जाता है कि **मीराँ** की शादी सं० १५७३ में हुई। उस समय उनकी अवस्था बारह वर्ष की थी। इस तथ्य की प्रामाणिकता प्रायः सर्वमान्य है। ऐसी परिस्थिति में यही ठीक जँचता है कि उनका जन्म संवत् १५६१ ही माना जाय।

मीराँ का परिवार—तलवारों की झंकार के बीच रण-सुरमे राजपूतों का हृदय सदैव भक्ति-भावना से भी प्लावित रहा। यद्यपि मीराँ का कोई अपना सगा भाई न

था तो भी **बीरमदेव के ज्येष्ठ पुत्र** का सानिध्य बचपन में **मीराँ** को प्राप्त था। **जयमल** की गणना प्रसिद्ध वैष्णव भक्तों में की जाती है। **शैशव** में माँ की मृत्यु के कारण **दूदा जी** का स्नेहपूर्ण सनिध्य भी **मीराँ** को प्राप्त रहा। वे परम वैष्णव भक्त थे। ऐसी परिस्थिति में उनके मन के भीतर जिन महान तत्वों का पल्लवन हुआ वे निश्चय ही वष्णव-भक्ति की सहज निष्ठा से अनुप्राणित जीवन्त तत्व थे। सामाजिक दृष्टि से उस समय यह परम आवश्यक समझा जाता था कि लड़कियों की शादी छोटी वय में में ही कर दी जाय और **मीराँ** की शादी भी तत्कालीन महान **सम्राट महाराणा-सांगा** के ज्येष्ठ-पुत्र **भोजराज जी** से की गयी। उस समय **मीराँ** की आयु बारह वर्ष की थी। कम वय में विवाह की प्रथा उस समय समाज में प्रतिष्ठित थी।

नयी परिस्थिति—मीराँ के जीवन में यौवन का सन्देश व्यापक विक्षोभ लेकर आया। नयी परिस्थितियों से उन्हें सामंजस्य स्थापित करना पड़ा। जहाँ **दूदा** और **जयमल** जैसे परम वैष्णव भक्तों के साथ वे भक्तों का सत्संगकरती थीं, उनका दर्शन करती थीं, उनकी बातें सुनती थीं, वहाँ उन्हें घर की जेठ बहू बनना पड़ा। घूंघट डाल कर घर में असूर्यपश्या की भाँति रहने को वाध्य किया जाने लगा। घर पर गिरधर गोपाल कृष्ण के अतिरिक्त दूसरे किसी से भय न खाने की जहाँ शिक्षा नित्य-प्रति उन्हें मिली थी, वहीं हाड़ माँस के पुतले अपने कहे जाने वाले लोगों से त्रास दिया जाने लगा। ननदों, सासों, देवरों का त्रास काल सदृश उन्हें लगा। उन्मुक्त वैष्णव मन ने विद्रोह की रागिनी पर जीवन का स्वर छेड़ दिया। वे विषतुल्य इन परिस्थितियों को अमृत समझ कर पीती गयीं। सम्भव था संघर्ष रत महाराणा साँगा के उदार चरित्र ने इनके लिये साधु-सन्तों का दरवाजा सीमित परिणाम में खोल दिया हो, सम्भव था मीराँ के देह के भर्त्ता भोजराज के कारण व्यापक उत्पीड़न का विधान न किया गया हो, पर त्रास से वे त्रासित थीं—ऐसा आभास उनकी कही जानेवाली रचनाओं एवं उनके सम्वन्ध में प्राप्त सामग्रियों से लगता है।

वैधव्य—ऐसी ही विडम्बनामय परिस्थिति में, जव उनकी चेतना यौवन के द्वार में प्रविष्ठ हो अगड़ाई ले रही थी, जन्म-जन्म से एकत्र की गयी उनकी साधना की अग्नि-परीक्षा का अवसर आया। समस्त जीवन का षम्य शतोन्मुखी हो वज्र की भाँति उन पर एक साथ ही गिर पड़ा। युवराज भोजराज अपनी भक्त सहचरी का साथ छोड़ स्वर्ग के पथिक हुए। राजराणी होनेवाली मीराँ विधवा हुईं। इस वैधव्य का समय सं० १७७५ के आस-पास माना जा सकता है। **'शबनम' जी** ने **मीराँ** एक अध्ययन नामक पुस्तक में मीराँ के धव्य पर प्रश्न।चह्न लगाने का समस्यामूलक प्रयत्न किया है। पर केवल इसलिए उनके मत से अपनी असहमति नहीं प्रकट कर रहा हूँ कि साहित्य तथा इतिहास के प्रायः सभी मर्मज्ञ विद्वानों ने **मीराँ** को विधवा माना है, अपितु इसलिए कि उनके इस प्रश्न पर पर्याप्त मनन और चिन्तन का मेरा निष्कर्ष भी यही है। प्रसिद्ध कथा-कार **पं० इलाचन्द्र जोशी** ने किसी व्यक्ति से प्रेम की बात उठायी है। संभवतः कहानी लिखने की मुद्रा में वे वैसा लिख गये हों या अपनी पुस्तक के नाम की उपादेयता के उद्देश्य से एक मनोवैज्ञानिक व्याख्याकार की भाँति अपने पुस्तक के नाम की सार्थक सिद्ध करने के लिए उन्होंने ऐसा कर दिया हो, पर **'शबनम'** जी की समस्या गम्भीर अध्ययन पर आधृत है भले ही वह नारी सुलभ हो। यहाँ मैं **'शबनम' जी** के द्वारा सम्पादित ग्रंथ से उस पद को लेता हूँ जो उन्होंने पृष्ठ १५१ पर दिया है। यह पद मीराँ सम्बन्धी प्रायः सभी संग्रहों में प्राप्त है।

उस पद की दूसरी और तीसरी पंक्ति इस प्रकार है ।

गिरधर गास्यां, सती न होस्यां, मन मोह्यो घण नामी ।
जेठ बहू नहीं राणा जी, थे सेवक हूँ स्वामी ।।

सती होने की बात पति के मृत्यु के बाद ही हो सकती है । मीराँ जेठ बहू (बड़ी बहू) थीं । जेठ बहू का भी यही अर्थ यहाँ ठीक होता है जेठ और बहू नहीं । यह अर्थ भी शबनम जी द्वारा किया गया है । हिन्दू-कुल—सूर्य के परिवार की जेठ बहू ऐसा आचरण करें, यह न केवल उस परिवार के लिए लज्जा की बात थी, अपितु मेड़ता के लिए भी लोक-हँसाई की बात थी । १६-१७ वर्ष की तरुणी का सती न होना, पति की मृत्यु पर शोकाकुल न होना और उस पर से साधु-संगत और मन्दिर में साधु-समागम करना मध्यकालीन धर्म-भीरु महान-परिवार का शासक वर्ग कैसे स्वींकार कर सकता था ।

उस परिस्थिति में **राणा सांगा** केवल भयंकर चर्तुदिक संघर्ष में ही संलग्न न थे, एक महान संगठन का आयोजन भी भारत भू को स्वतन्त्र करने के लिए व्यापक रूप से कर रहे थे । कहना न होगा कि वह राजपूतों में न केवल सबसे बड़े योद्धा मात्र हुए, अपितु संगठनकर्त्ता भी थे । **राणा सांगा** के व्यक्तित्व का दूसरा राजपूत शासक हुआ ही नहीं । निरन्तर आपदाओं के बीच रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति कोई ऐसा स्थान चाहता है, जहाँ अपनी सारी कठिनाइयों, सारी विपत्तियों को भूल कर भावी संघर्ष के लिए चैन का सम्बल एकत्र कर सके । महाराणी कर्मवती को वह इस आलम्बन का उपादान समझते थे । कर्मवती का मूल्य इस दृष्टि से कितना हो सकता है वह तो जीवन संघर्ष में महान उद्देश्यों की प्रतिष्ठा के रक्षार्थ घिरा व्यक्ति ही जान और पहिचान सकता है । कर्मवती उनके लिए वही थी जो महाराज दशरथ के लिए कैकेयी । राणा साँगा प्रायः राजकाज के कार्यों में तल्लीन रहते थे । अतःपुर पर कर्मवती का शासन था ।

प्रायः अपने सगे पुत्र से स्त्रियों की जितनी ममता होती है उससे अधिक घृणा वह अपनी जेठानी और देवरानी के पुत्रों से करती है । कर्मवती इसका अपवाद नहीं अपितु प्रबल समर्थिका थी । उसका जीवन-वृत्त इस तथ्य का साक्षी है । अतएव दुर्दिन के काले बादल मीराँ पर भी मड़राये होंगे । यहाँ तक कि उसकी हत्या तक करवाने का प्रयत्न किया गया होगा । पर मीराँ का बाल भी बाँका न हुआ । आपदाओं से पूर्ण भयंकर परिस्थिति में उसके पिता और श्वसुर दोनों सं० १५८४ में स्वर्गगामी हुए । बहुत सम्भवथा, राणा सांगा के जीवन काल में अवरोध मात्र ही मीराँ के जीवन पर लगाये गये हों, भर्त्सना अन्त:पुर तक ही सीमित रही हो क्योंकि विश्वासपात्र सरदार रत्नसिंह का, जिसने राणा साँगा के लिए युद्ध-भूमि पर प्राणोत्सर्ग तक कर दिया, ध्यान राणा सांगा रखते रहे होंगे । ऐसी परिस्थिति में सम्भवतः संकोचवश और अपनी विधवा जेठ बहू की दयनीय परिस्थिति वश राणा साँगा से छिपाकर अत्याचार की कहानी राणा-परिवार के अन्त:पुर में मूर्त्त रूप ग्रहण करती रही हो ।

पर १५८८ से १५९२ का शासन **कर्मवती** के पूर्ण संरक्षण में था । सुयोग्य **राणा रत्नसिंह** (१५८४-८८) के बाद **विक्रमादित्य** की (१५८८-१५९२) १४ वर्ष की आयु इतनी नहीं थी कि कि वे शासन-कार्य में पारंगत हो उसका संचालन कर सकें । कर्मवती के पीहर वाले इसके सूत्रधार बने । ऐसी परिस्थिति में मीराँ की व्यापक, असहनीय

प्रताड़ना प्रारंभ हुई और मीराँ को भयंकर कष्ट दिये जाने लगे। बीजावर्गी ने, जो तत्कालीन सूत्रधारों के द्वारा प्रतिष्ठ अमात्य था, सूत्रधारों की इंगित पर राणा विक्रमादित्य को आधार वनाकर पशुता का नग्न ताण्डव आरंभ किया। मीराँ को मार डालने तक का आयोजन किया गया—ऐसा कहा जाता है। **विक्रमादित्य** के शासन के अन्तिम वर्ष भयंकर तूफानों और उलटफेर से भरे थे। उसका परिणाम यह हुआ कि सं० १९९१ में जौहर की लपटों में कर्मवती १३००० स्त्रियों के साथ अग्नि की पवित्र लहरों में समा गयी। उस समय के पहले ही मीराँ अत्याचार के कारण चित्तौड़ छोड़ चुकी रही होंगी। निश्चय ही **विक्रमादित्य** के शासनारम्भ के कुछ बाद या संवत् १५९१ के पूर्व उन्होंने ऐसा किया होगा। वहाँ से वे अपने पीहर आयीं। उनकी मीठी-वदनामी तब तक चारो ओर फैल चुकी थी। उनके बरदहस्त तब तक उठ चुके थे। संवत् १५९५ में मालदेव ने मेड़ता पर अधिकार कर लिया। तब तक उनका आखिरी सहारा भी टूट गया। **वीरमदेव** पराभूत हुए और अजमेर में शरण ली। ऐसी परिस्थिति में ऐसा भी संभव है कि मीराँ के लिये राजपूती आन के कारण मेड़ता की जन्म-भूमि का आँचल संकुचित हो गया हो या यह भी संभव है कि बीरमदेव की हार तक मेड़ते में वे रही हों और उसके बाद जीवन की भौतिक विडम्बना के कारण, मर्म के सांघातिक चोट के कारण तीर्थाटन का निश्चय कार्यान्वित किया हो।

वृन्दावन में उसके बाद का उनका समय कटा। विभिन्न तत्कालीन वैष्णव सम्प्रदायों का गढ़ कृष्ण की लीलाभूमि वृन्दावन था। विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में दाँव-पेच चल रहा था। वे अपने सम्प्रदाय का प्रचार किसी भी मूल्य पर करना चाहते थे। चित्तौड़ की इस विधवा रानी पर भी उन्होंने डोरे डाले। सभी वैष्णव सम्प्रदाय हार गये पर उनके बन्धन में मीराँ न बँधी। वल्लभ-सम्प्रदायवाले तो इतने कुढ़े कि भगवद्-भक्त होते हुए भी मीराँ को अपशब्द कह डाले। गोस्वामियों के प्रधान साधक को भी उनके सामने झुकना पड़ा। वृन्दावन में भी 'स्व' की यह महत्तम साधना मीराँ को मँहगी पड़ी, पर प्रियतम के रंग में दिवानी मीराँ राग-रंग मे भूले इन लोगों के सामने क्या झुकती? सत्य के साधक अपकर्ष से झुकाये भी तो नहीं जा सकते। वे तो अपने में दिवाने रहते हैं। दिवानी मीराँ वहाँ उनकी मनमानी न सह सकी होगी। उसके चरित्र पर कलंक का टीका लगाया जाने लगा अतएव अपने प्रियतम की लीला नगरी को छोड़कर वे द्वारिका की ओर गयी। अनुमानतः सं० १६०० के लगभग वह द्वारिका की ओर गत्योन्मुखी हुई होंगी। यह भी संभावना है कि मेड़ता और चित्तौड़ के लोग वृन्दावन आते रहे हों। उनके अपने लोग वहाँ भी **मीराँ** को बाँधना चाहते रहे हों; राणा-परिवार के लोक-लाज का भय तथा द्वारिका-आकर्षण मीराँ को द्वारिका ले जाने में प्रेरक हुआ हो। कहा जाता है कि वहीं द्वारिका में सं० १६०३ में रणछोड़ जी की मूर्त्ति में वे समा गयीं। इस समा जाने को साहित्यिक अभिव्यंजना मात्र समझना चाहिए। मीराँ की मृत्यु द्वारिका में हुई—इस पर प्रायः सभी विद्वान एक मत हैं, पर तिथि के सम्वन्ध में १६३० तक मीराँ को लोग ले जाते हैं। मेरी राय में यह समय संवत् १६१० के आस-पास होना चाहिए क्योंकि संवत् १६११ में मेवाड़ में गिरधर लाल की मूर्त्ति की स्थापना उनके स्मृति को सजीव रखने को की गयी। अतएव १६१० में मृत्यु संभव मानना ही ठीक होगा।

भ्रान्त धारणाएँ—मीराँ के सम्बन्ध में प्रसारित अनेक धारणाएँ भक्तों एवं साम्प्र-दायिकों द्वारा प्रसारित हैं। **तुलसी और मीराँ** का पत्र-व्यवहार, **तानसेन अकबर** से

भेंट, अलौकिक गाथाएँ, **संत रैदास** का गुरु होना सभी की सभी इतिहास के विरोध में ही उठती हैं, अतएव उन पर अधिक समय देना किसी प्रकार की उपादेयता नहीं रखता और न उससे मीराँ का किसी प्रकार का सम्मान बढ़ता है ।

मीराँ सच्चे भक्त गुणगाथा कारों द्वारा सदैव प्रशंसित होती रहीं उनमें **नाभादास, हरीराम व्यास, ध्रुवदास** आदि तो केवल भक्त मीराँ की प्रशस्ति तक ही सीमित हैं, **प्रियादास** ने अनुश्रुतियों को स्थान दिया पर **नागरी दास पद-प्रसंग-माला** में मीराँ का जो उल्लेख करते हैं, वह ऐतिहासिक मीराँ के कुछ निकट है ।

ंथ—मीराँ के तीन ग्रंथों का उल्लेख किया जाता रहा है पर सत्य यह है कि मीराँ ने केवल पदों की रचना मात्र की है । प्रवन्ध-काव्य के लिए जिस परिस्थिति, वातावरण और शक्ति की आवश्यकता होती है, वह मीराँ में नहीं दीखती । वे तो भावों में दिवानी प्रेम को प्रगीतों में व्यक्त करनेवाली गायिका मात्र है ।

अद्यावधि प्राप्त मीराँ के पदों को आधार बना कर लोगों ने उन्हें विविध साम्प्रदायिक रंगों में रंगने का प्रयत्न किया है । नाथों, वैष्णवों तक से लेकर सूफियों तक का प्रभाव उनकी रचनाओं में देखा जा सकता है; उदाहरण के रूप में विभिन्न पद भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं । पर वस्तु-स्थिति इससे सर्वथा भिन्न लगती है । मीराँ ही एक मात्र अपने युग की एसी रचना-शिल्पी हैं, जिन्होंने सर्वत्र सभी परिस्थितियों में 'स्व' मात्र की व्यापक अभिव्यक्ति की है । समाज, प्रकृति और स्वजन-स्नेहियों तथा निर्मम परिस्थितियों के मध्य वे अपने व्यक्तित्व की व्यापक प्रतिष्ठा करती हुई सर्वत्र दीख पड़ती हैं । मीराँ का जीवन स्वत्व की रक्षा के लिए संघर्ष की एक प्रेरणामयी कहानी है । उन्होंने पीहर छोड़ा, राणा का देश छोड़ा, दर-दर लोक-लाज गवाकर घूमती रहीं, तत्कालीन महान् समझे जानेवाले सामाजिक और धार्मिक नेताओं द्वारा भर्त्सना सहती रही, पर 'सांवलिया' के प्रेम में व्याकुल हो उसे ढूंढ़ने में न हिचकीं । मध्ययुगीन एक नारी का ऐसा साहस निश्चय ही जिस अटल निष्ठा और विश्वास की सूचना देता है, वह यह भी प्रकट करता है कि एसा संघर्षमय व्यक्तित्व बन्धन के पिजरे में नहीं बँध सकता । अपनी भावनाओं को मूर्त-रूप देने के लिए भले ही वह सभी पथों पर भटकता दीखे, पर वह इसलिए नहीं कि वह उस पथ से प्रभावित है, अपितु वह इस बात की थाह लेना चाहता है कि ये पथ पथिक को किस सीमा तक साधना को मूर्त्त रूप देने में सफल हो सकते हैं । मीराँ के सम्बन्ध में भी ऐसा ही लगता है । इसका मूल कारण यह है कि विभिन्न वातावरणों में विभिन्न पथों पर लोगों के आस्था की बात का वह परीक्षण करना चाहती थीं । उन पर चल कर अपनी साधना को मूर्त्त करना चाहती थीं, 'प्रियतम प्यारे' को अपने सामने निशि-दिवस लीला करते देखना चाहती थीं । पथ उनका उद्देश्य कभी न था अपितु उद्देश्य तो 'निर्मोही कृष्ण' से महामिलन था । अपने पथ की गौरव-गाथा बढ़ाने के लिए सम्प्रदाय-प्रचारक भले ही इस महान जीवन-यात्रिणी का प्रयोग अपने प्रभाव वृद्धि के लिए कर लें, पर निश्चय ही वह साम्प्रदायिक बन्धनों से मुक्त साहित्य की उद्भाविका हैं । अपने हृदय की तरंगों पर जीवन-रागिनी गानेवाली अमर गायिका हैं । यही कारण है कि वैष्णव-वार्ताओं में उन्हें राड़ आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है । नैहर और ससुराल में ही विभिन्न मतों का प्रभाव उनके ऊपर पड़ा और उनका परीक्षण मर्मान्त-वेदना पर चन्दन लेपित करने के लिए उन्होंने किया । जहाँ तक रैदास के मत का प्रश्न है, उसमें मूर्त्ति-आराधना का विरोध नहीं, अतएव एक सीमा तक उससे प्रभाव की बात

तो समझ में ग्रा जाती है। ऐसी परिस्थिति में जीवन की उन्मुक्त गायिका के रूप में ही उन्हें समझना अधिक श्रेयस्कर होगा। वह कृष्ण ग्रौर ग्रपने बीच किसी प्रकार का न तो ग्रन्तर समझती थीं; न कोई व्यवधान ग्राने देना चाहती थीं। वे तो गाया करती थीं "तुम बिच हम बिच ग्रन्तर नाहीं, जैसे सूरज घामा।"

साम्प्रदायिक गणों ने उनके ग्रनेक नादों को तोड़-मरोड़ कर ग्रपने लाभ के उपयुक्त बना लिया हो—ऐसी संभावना करना भी ग्रसंगत न होगा। प्राचीन पोथियों में जो उनके पद मिले हैं, उनके सम्बन्ध में ग्रधिक ग्रास्था रखी जा सकती है, पर लोक परम्परा से प्राप्त पद घपले के ही हैं शिवसिंह सरोज में मीराँ का जो पद उदाहरण के रूप में दिया गया है, वह मीराँ का नहीं, देव का है। ऐसा भी ग्राभास लगता है कि उन पदों को, जो मण्डलियों में या जनता में उनकी गौरवगाथा गाने के लिए ग्रज्ञात कवियों द्वारा रचे गये, उनमें भी मीराँ शब्द ग्रा जाने से,उन्हें मीराँ का ठहराया जाने लगा है। जो पद मीराँ के रहे भी हैं, उनमें लोगों द्वारा बाद में मौखिक परम्परा के कारण परिवर्त्तन भी होता गया। ग्रतएव उनकी भाषा में ग्रनेक रूपता तथा एक ही पद के ग्रनेक पाठ भी प्रचारित रूप में मिलते हैं। संगीत तत्व से युक्त रसमय प्रगीतों के कारण उनके पद ग्रखिल भारतीय महत्व के बहुत समय पूर्व से रहे हैं। विविध स्थानों पर विविध भाषा भाषियों द्वारा संगीत के स्वर-संधान के लिए भी उनमें परिवर्त्तन किये गये होंगे। ऐसी परिस्थिति में मीराँ के प्रामाणिक पदों मात्र का पता लगाना ग्रत्यन्त जटिल कार्य है।

यद्यपि ग्रब तक मीराँ के पदों के २३ संग्रह प्रकाशित रूप से देखने का सौभग्य मुझे मिला है फिर भी इन सबमें सर्वाधिक सम्पन्न मीराँ वृहदपद संग्रह श्रीमती पद्मावती 'शबनम' द्वारा सम्पादित लगा। इसमें पाठान्तर सहित मीराँ के प्रायः सभी प्राप्त पदों को ग्रनेक भाषाग्रों से संकलन करने का सुनियोजित सफल प्रयत्न किया गया है।

ग्रब तक जितने पद मीराँ के हिन्दी-जगत के सम्मुख ग्राये हैं यदि उनका विषय की दृष्टि से विवेचन किया जाय तो उनमें निम्नलिखित विषयों का गुम्फन है :—जीवन-संघर्ष, भक्ति-शृंगार–वियोग एवं संयोग, विनय-निवेदन—राम, गुरु, शंकर ग्रौर कृष्ण से संबंधित साम्प्रदायिक प्रभाव से युक्त पद।

यदि गंभीरता पूर्वक इन पदों का वर्गीकरण किया जाय तो ऐसा निश्चित ग्राभास लगता है कि विभिन्न सम्प्रदायों के प्रभाववाले पद उनकी प्रारंभिक रचना के ग्रन्तर्गत ग्रायेंगे क्योंकि न तो ग्रधिकांश पद उनमें के मँजे हुए हैं, न भाषा व्यवस्थित है ग्रौर कहीं-कहीं उनमें भावों का घपला भी मिलता है, ग्रपेक्षा कृत व्रज-भाषा की रचनाएँ बाद की तथा प्रौढ़ लगती हैं ग्रौर ऐसा ग्राभास लगता है कि व्रज-भाषा में केश पंडुर होने के समय के प्रौढ़ता पदों में है। ग्रतएव कृष्ण-स्नेह की प्रौढ़ रचनाएँ निश्चय ही उनके काव्य की व्यापक सत्ता का उद्बोध कराती हैं। कृष्ण को इन्होंने परमेश्वर, प्रियतम, साँवरिया, छलिया, निर्मोही, विस्वासघाती, मनमोहना ग्रादि शब्दों से सम्बोधित किया है। ग्रधि-कांश रचनाग्रों में वे सगे प्रियतम के रूप में स्मरण किये गये हैं—संयोग ग्रौर वियोग के ग्रनुसार संबोधन में यथोचित परिवर्त्तन ृष्टिगत होता है। माधुर्य-भाव से कृष्ण को जीवन-साथी के रूप में इन पदों में ग्रभिव्यक्त किया गया है। मोहनी मूरति साँवरी सूरति वाला रूप ही मीराँ ने प्रायः सर्व कृष्ण का रखा है। संयोग-शृंगार के पद तो उतने ऊँचे न उठ पाये, जितने वियोग के पद। विरह के रूप में प्रियतम के प्रति नारी

के उद्‌गार होने मात्र के कारण उनमें हृदय की नेसर्गिक छटा मात्र ही नहीं, उनमें मीराँ के जीवन का सर्वस्व शब्दों में मूर्त्त हो उठा है। प्रत्येक संघर्ष रत हृदय एक ऐसा स्थान चाहता है, एक ऐसा सहचर चाहता है, जिस पर वह पथ की सारी झुझलाहट, जीवन की सारी पीड़ा, वेदना के समस्त आँसू निरीह रूप से प्रकट कर जीवन के लिए निश्चिन्त हो सम्बल एकत्र कर सके। पर मीराँ ने ऐसा जिसे चुना, वह शाश्वत प्रियतम तथा **'जनम 'जनम जनम का संघाती'** भी विश्वासघाती निकल गया। ऐसी परिस्थिति में जो टीस, जो वेदना, जो पीर मीराँ के मानस में हुई होगी—उसकी कल्पना सहज ही नहीं की जा सकती। वैसी ही असामान्य परिस्थिति में विरह के इन पदों की रचना हुई तथा कृष्ण के प्रति सहज रूप में मीराँ ने सभी परिचित संभावनाओं की बात कह डाली। कुब्जा और गोपियों तक को नहीं छोड़ा, गोप, गोवरधन और गऊओं को भी नहीं भूली, मुरली और राधा को भी पहिचाना। लेकिन जो कुछ भी शिकायत है मीराँ को वह कृष्ण से है और किसी से नहीं क्योंकि कृष्ण के अतिरिक्त और दूसरा तो कोई उनका था भी नहीं। उपालंभ अपनों को ही दिया जाता है। मीराँ ने भी कृष्ण से कुछ कहने में उठा न रखा। कभी-कभी तो मीराँ इतनी खीझ जाती थीं कि कह उठती है **'प्रीत न करिजों कोय'** और कभी प्राण तक दे देने की बात कहती है पर शर्त के साथ। वह यह कि उनका यह रूप उनका प्रियतम देख सके। काग उनको चिढ़ाने आते; बाट जोहते जोहते. दिन गिनते गिनतेश मीराँ के अंगुलियों की रेखाएँ घिस गयीं तब मीराँ उन कागों से कहती है—

काढ़ि करेजो में धरूँ, कागा तू ले जाइ।
जा देसां म्हारो पिय बसै, वे देखे तू खाइ॥

विरह की इन भावनाओं में केवल पपीहा के पुकार की जलन नहीं, आँसू का सावन-भादों भी है। इन पदों में संघर्षशील शुद्ध हृदय की सहज आस्था जिस निर्मल ढंग से व्यक्त हुई वह कम से कम हिन्दी में आज भी अकेली ही है। बीच-बीच में अन्य वर्णन उन्होंने अभिव्यक्ति को वल देने के लिए किया है, चाहे वह पुराण की गाथा हो, पापी पपिहरा की बोली हो, चाहे स्मृति से व्यक्त की गयी जीवन की घटनाएँ हों।

जीवन की अभिव्यक्तिवाले पदों में **मीराँ** एक फक्कड़ व्यक्तित्व लेकर ही नहीं आयी हैं अपितु वहाँ पर उनका अक्खड़पन अपनी नयी सीमा बनाता है। पर वह **कबीर** की भांति मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करतीं। उनमें अपने भावनाओं के प्रति प्राणवान प्रगाढ़ निष्ठा तो है ही, ध्वंस की कालिमा से भी वे मुक्त हैं। जहाँ नारी हृदय कुसुम से भी कोमल होता है, वहीं आवश्यकता पड़ने पर वज्र से भी वह अधिक कठोर हो उठता है। **मीराँ** के जीवन-सम्बन्धी पद इस तथ्य के हिन्दी में सर्वोत्तम उदाहरण हैं। जीवन-संघर्ष में **मीराँ** को घर से लेकर बाहर तक भयंकर मोर्चा लेना पड़ा पर उनकी कविताओं में कहीं भी झुकने की बात नहीं अभिव्यक्त हुई। राजपूतों के आन का सम्मान मात्र ही मीराँ ने अपने जीवन में नहीं किया अपितु उस पर विना संकोच आत्मोत्सर्ग भी किया। संघर्ष में भालों, वरछों और तीर, तलवारों के घाव भर जाते हैं पर भावनाओं पर की गयी चोट चिता पर जल जाने के बाद ही जीवित रहती है। वही अमर स्वर मीराँ के संघर्ष के पदों में अभिव्यक्त हो साकार हो उठे हैं।

जहाँ माधुर्य भाव से रचना की जाती है, रहस्य की भावना का उद्रेक स्वाभाविक रूप से स्वतः हो जाता है। मीराँ के कुछ पद भी रहस्यवादी रचनाओं के अन्तर्गत सन्निहित किये जा सकते हैं पर उनकी साधना को माधुर्य-भावना मात्र से अनुप्राणित मानना अधिक

समीचीन होगा। उनके विनय सम्वन्धी पदों में भी सरसता का पाक है। अनेक प्रगीतों में एक ही भाव की पुनरावृत्ति के दर्शन होते हैं। मीराँ के जीवन में सब से बड़ा प्रश्न भी एक ही था। एक ही प्रश्न पर अनेक वार एक ही ढंग के भावों का उद्रेक होना स्वाभाविक है और मतवारी मीराँ तो साधु-सन्तों के वीच प्रायः भावों में तल्लीन हो नित्य-प्रति जीवन के गीतों से वातावरण रससिक्त करती रहती थीं। पर ये पद कहीं भी ऊवानेवाले नहीं हैं अपितु सारस्य उत्पन्न करनेवाले ही हैं।

प्रकृति को भी मीराँ ने अपने भावों के प्रकाशन में आलम्वन के रूप में प्रयुक्त किया है। घिरे बादलों, सावन की वरसा, आमों का वौराना और पपीहे के पी-पी की रट, विरही प्राणों में हृदय की चीत्कार बन कर कड़क उठी है। वही तड़पन ऐसे पदों में शब्दमय हो ध्वनित हो उठी है। मीराँ का एक बारह मासा भी मिलता है, जो एक ही पद में बारह महीनों में विरहाकुल मीराँ की स्थिति के अभिव्यक्ति के रूप में है। निश्चय ही ऐसी ही सहज सरस निर्मल अभिव्यक्तिवाली कवियित्री मीराँ न केवल महान है अपितु भारती साहित्य मन्दिर की वह पताका है। इस तथ्य को **तारापुरवाले** जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान भी मानते हैं।

भारत के इस अप्रतिम कवियित्री की तुलना कुछ लोग महादेवी वर्मा से करते हैं। ऐसी प्रवृति उचित नहीं। **मीराँ, मीराँ** हैं, और **महादेवी, महादेवी**। दोनों दो हैं, दोनों का रूप दो है, दोनों की गरिमा दो है। आधुनिक युग में कोई बात वड़ी नहीं, पर भक्त लोगों को यह ध्यान रखना चाहिए कि पचरंग मूर्त देवी-देवताओं की इतनी महती गरिमा न गायें जिसका परिणाम यह हो कि लोग सभी कुछ कपोल-कल्पना समझ कर तथोक्त देवी-देवताओं के गुण को भी न जान सकें। यह प्रवृभि हिन्दी के मूर्धन्य कहे जाने वाले आचार्यों में भी दीख पड़ रही है जो स्वस्थ साहित्य के विकास में अवरोधक है। मीराँ सभी दृष्टियों से अपने स्थान पर भारती की अप्रतिम साधिका हैं। उनकी किसी से तुलना नहीं।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, उनके पद विभिन्न भाषाओं में मिलते हैं, विशेषकर गुजराती, व्रज और राजस्थानी में। अधिकांश पदों में तीनों का मिश्रण है। सहज, सरल, तत्कालीन लोक-भाषा का प्रयोग उन्होंने व्यापक रूप से किया है। ऐसा करना ही उनके लिए अधिक उपादेय भी था क्योंकि जिनके बीच वे पद सुनाया करती थीं वे वहुत बड़े विद्वान या पण्डित नहीं हुआ करते थे अपितु सामान्य जनता थी और सुधि में मतवारे भाषा और रूप के पीछे नहीं दौड़ते वह तो उनके भावों के पीछे दौड़ते हैं। मीराँ के प्रायः अधिकांश पद राग-रागनियों में बँधे हैं। ये सैकड़ों वर्षों से कन्याकुमारी से कश्मीर तक संगीतज्ञों और भक्तों द्वारा गाये जाते हैं और रहेंगे, अपनी विशिष्टता के कारण।

नरोत्तम दास

शिवसिंह सरोज में **नरोत्तमदास** का जन्म संवत् १६०२ में माना गया है। य सीता-पुर के रहने वाले थे। इनकी प्रसिद्धि **सुदामा चरित्र** को लेकर है। इन्होंने इतने सुन्दर ढंग से अपने भावों की अभिव्यक्ति की है कि इनकी रचनाओं में रसिकों का हृदय रम जाता है। लघु काव्य होने पर भी सुदामा-चरित की साहित्यिक महत्ता उसके सहज

भाव सौन्दर्य तथा सुन्दर वर्णन के कारण अत्यधिक है। इसकी भाषा अत्यन्त परिमार्जित है। सूदामा और कृष्ण की सुप्रसिद्ध कथा सरस रस मय पद्धति पर इसमें वर्णित है।

रसखानि

कृष्ण भक्ति की मधुर रागात्मक भावना ने न केवल हिन्दुओं को अपनी ओर आकर्षित किया बल्कि अनेक मुसलमान भी इधर आकृष्ट हुए। इनमें 'रसखानि' सर्वाधिक जनप्रिय सरस कवि हुए। 'रसखानि' इनका उपनाम है। इनके जीवन-वत्त के सम्बन्ध म दृढ़तापूर्वक कोई बात नहीं कही जा सकती, पर पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने प्राप्त साहित्य एवं इनकी रचनाओं के आधार पर इनके जीवन की एक रूप-रेखा प्रस्तुत की है। वह अत्यन्त समीचीन भी लगती है अपने सम्बन्ध में रसखानि ने लिखा है कि:——

देखि गदर हित साहबी, दिल्ली नगर मसान ।
छिनक बादसा बंसकी, ठसक छोरि रसखानि ।।
प्रेम निकेतन श्री वनहि, आय गोबरधन-धाम ।
लह्यो सरन चित चाहिकै, जुगल सरूप ललाम ।।

शिवसिंह सरोज में इनका नाम **"सैयद इब्राहीम पिहानी वाले"** बतलाया गया है। एसा कहा जाता है कि **हिमायूं** को शरण देने के कारण **काजी सैयद गफूर** को हरदोई जिले में ५००० बीघा जमीन पुरस्कार स्वरूप दी गयी थी। ये सैयद पठान थे। सम्भवतः इन्हीं के परिवार के थे 'रसखानि'। **अकबर से जहांगीर** तक बरावर पठानों का यह प्रयत्न चलता रहा कि विदेशी मुगलों से पुनः सत्ता छीन ली जाय। **अकबर** के समय **शाह मन्सूर** भरवाया गया था। सम्भवतः उसी समय पठानों के लिये गदर की सी स्थिति उत्पन्न कर दी गयी हो और **रसखानि** को दिल्ली छोड़ना पड़ा हो। ऐसा भी अनुमान लगाया जाता है कि **अकबर** जिनसे रुष्ट होता था; उन्हें **मक्का** भेज देता था, **'रसखानि'** वहां न जाकर वृन्दावन में ही रह गये हों। यह भी अनुमान लगाया जाता है कि **'रसखानि' 'दीन इलाही'** म आस्था न रहने के कारण भी वृन्दावन में रह गये हों। क्योंकि किसी के द्वारा उनकी चुगली खाये जाने के सम्बन्ध में एक दोहा प्रसिद्ध है।

कहा करैं रसखानि को, कोऊ चुगुल लबार ।
जो पै राखन हार है, माखन चाखनहार ।।

ये अत्यन्त प्रेमी जीव थे। **चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता** के अनुसार यह प्रसिद्ध है कि किसी बनिये के लड़के से उनका प्रेम था पर **'रसखानि' के सम्पादक के मत में वह कोई स्त्री रही होगी**। उन्होंने इस तथ्य को उनकी रचना का आधार वनाकर सिद्ध भी किया है। उनका प्रेम अपनी स्त्री के अतिरिक्त और भी किसी स्त्री से था पर दोनों का प्रेम छोड़कर वे कृष्ण के रूप पर मुग्ध हुए थे। प्रेम देव के लिए "मानिनी" और "मोहिनी" दोनों को उन्होंने छोड़ा था।

तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी मान ।
प्रम देव को छबिहि लखि, ह्वये मियां रसखानि ।।

दो सौ चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार यह **गोस्वामी विट्ठलनाथ** के शिष्य माने जाते हैं। उनके द्वारा इन्हें प्रेम-देव की मोहिनी मूर्त्ति के अलौकिक सौन्दर्य का आभास हुआ इनका लौकिक सौन्दर्य अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध हो उठा और उसके पश्चात् जीवन पर्यन्त अपने प्रेमदेव से प्रेम करते रहे। इनका रचना काल संवत् १६४० के उपरान्त ही माना जाता है। रसखानि प्रेमी जीव थे तथा प्रेम के बन्धन में आवद्ध थे। उन्होंने अपने सहज हृदय का प्रेम अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है। प्रेम से निकले उनके हृदय के उद्गार इतने जनप्रिय हुए कि लोग प्रेम और श्रृंगार के कवित्त सवैयों को ही रसखान कहने लगे। इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण, सरस तो है ही उसमें एक प्रकार की स्निग्ध सफाई है। उनके भावों में हृदय को मुग्ध करने की विचित्र क्षमता है। इनके दो ही ग्रन्थ **प्रेम वाटिका** और **सुजान रसखान** प्राप्त हैं। इनका रचनायें इतनी सरस तथा प्रौढ़ हैं कि सहज ही उनकी ओर मन खिंच जाता है। इनकी एक और वड़ी विशेषता यह है कि अन्य कृष्ण भक्त कवियों की भांति इन्होंने केवल गीत-काव्य का आश्रय नहीं लिया अपितु कवित्त और सवैयों में कृष्ण की लीला सखा भाव से गाते रहे। सर्वत्र इनकी रचनाओं में प्रेम-भाव की अत्यन्त सुन्दर व्यंजना हुई है। इन्होंने अपनी साधना का आधार प्रेम ही को बनाया और प्रेम के भीतर ही भगवान के दर्शन इनकी रचनाओं में होते हैं। अनुप्रास और अलंकारों की छटा सहज ही इनकी रचनाओं में दीख पड़ती है। वह जो ऐसी लगती है जैसे किसी अंगूठी में सुन्दर नगीना। उनकी रचना का उदाहरण यहां दिया जा रहा है।

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावें।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुवेद बताव॥
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारे तउ पुनि पार न पावें।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पर नाच नचावें॥
मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरोंगी।
ओढ़ि पीताम्बर लै लकुटी बन गोधन ग्वालन संग फिरोंगी॥
भावतों सोई मेरो रसखान सो तेरे कहे सब स्वाग करोंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान–धरी अधरा न धरोंगी॥
ब्रह्म में ढूंढ़यो पुरातन-कानन वेद रिचा सुनी चौगुनि चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूं न कहूं वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि गयो, रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरो वह कुंज-कुटीर में बैठो पलोटत राधिका-पायन॥

दरबारी कवि

मुगल तथा अन्य दरबारों के

अकबर के दरबार में न केवल संगीत, चित्रकला की मर्यादा थी, अपितु साहित्यकारों का भी वहां सम्मान होता था। हिन्दी साहित्य के इस काल में **अकबर** के दरबार में राजाश्रय प्राप्त अनेक कवि थे। जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी का भण्डार बढ़ाया। **अकबर** स्वयं ब्रजभाषा का कवि था, उसके दरबार में भी अनेक कला और साहित्य प्रभी उच्च पदाधिकारी थे, जो स्वयं भी हिन्दी में रचना करते थे। **बीरबल, टोडर, रहीम,** सभी कवि थे।

रहीम

आपका जन्म सं० १६१० मृत्यु सं० १६८३ है। बैरम खां के पुत्र थे। संस्कृत, अरबी, फारसी के अच्छे विद्वान तथा काव्य-कला मर्मज्ञ थे। कलाकारों और कवियों पर दीवाने रहते थे। इनकी सभा के वही श्रृंगार थे। दान करने में भी इनकी समता का दूसरा कोई पदाधिकारी उस युग में नहीं हुआ। दानी के साथ साथ ये बहुत बड़े योद्धा भी थे तथा **अकबर** के महामन्त्री और सेनानायक भी। **जहांगीर के समय** इनकी स्थिति विपन्न हो गयी।

'तबहीं लौं जीबौ भलो देबौ होय न धीम।
जग में रहिबो कुचित गति, उचित न होय रहीम॥"

यह दोहा उस स्थिति का परिचायक है। कहा जाता है कि **तुलसी दास** से भी इनका स्नेह था।

जन-जीवन में **तुलसी** और **कबीर** की भांति **रहीम** की रचनायें भी प्रतिष्ठित हैं। इन्होंने अपने काव्य का विषय जीवन की सच्ची मार्मिक अनुभूतियों को बनाया है। उसमें कल्पना नहीं, केवल अनुभव का घोल है। जीवन की सत्य परिस्थितियों में डूब कर इतनी सरस अभिव्यक्ति उन्होंने की कि लोगों के अधर पर उनकी कविता सदैव रहती है। बरवै नायिका भेद हो या नीति सम्बन्धी दोहे हों सर्वत्र उनका मार्मिक रस सम्पन्न हृदय उनके काव्य में छलक उठता है। कुछ लोगों का कहना है कि उन्होंने केवल नीति सम्बन्धी दोहे लिखे पर वास्तव में वे कोरे नीतिवादी दोहे नहीं अपितु उनमें अजस्र संवेदनशील मानव हृदय की सहज एवं मार्मिक अभिव्यक्ति है। उनकी यह महत्तम

मानवता जीवन की हर परिस्थिति के काव्य में अभिव्यक्त हुई । व्रज, अवधी दोनों भाषाओं पर इनका अधिकार था, और इनकी अनेक सूक्तियां तो वाद के कवियों ने भी अपनायी । यद्यपि **रहीम** की प्रसिद्धि, दोहों को लेकर है तो भी कवित्त, सवैया, सोरठा, बरवै प्रायः सभी छन्दों में इन्होंने रचना की है । इनकी रचनाओं के नाम हैं, **रहीम दोहावली या सतसई बरवै नायिका भेद, शृंगार सोरठ, मदनाष्टक, रास पंचमाध्यायी** और **रहीम रत्नावली** । इन्होंने फारसी में भी रचनाएँ कीं तथा कुछ मिश्रित रचनायें भी कीं जिनमें रहीम काव्य **हिन्दी-संस्कृत, खेट कौतुकम्, संस्कृत और फारसी** की खिचड़ी है । इनकी रचनाओं में खड़ी बोली के पद्य का प्रारम्भक रूप भी मिल जाता है। खड़ी बोली के निकट की भाषा का एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था ।
चपल-चखन वाला चांदनी में खड़ा था ।।
कटितर त्लिच मेला पीत सेला नवेला ।
अलि, बन अलबेला यार मेरा अकेला ।।

(मदनाष्टक)

गंग:—आज तक यह उक्ति चली आ रही है कि **"तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार"** जिससे ज्ञात होता है कि गंग की कविता अत्यन्त उच्चकोचिट की मानी जाती रही है । कहा जाता है ये **ब्रह्म भट्ट** थे तथा **अकबर** के दरवारी कवि थे । किसी राजा या नवाब ने इन पर रुष्ट होकर इन्हें हाथी से चिरवा डाला था । उस सम्बन्ध में यह पद प्रसिद्ध है :—

कबहुं न भड़वा रन चढ़ै, कबहुं न बाजी बम्ब,
सकल सभाहि प्रनाम करि, विदा होत कवि गंग ।।

इसकी चर्चा अन्य कवियों ने भी की है । आद्यावधि इनकी कोई भी पुस्तक प्राप्त नहीं हुई है । स्फुट रचनायें अवश्य प्राप्त हुई हैं, जिनमें सरस काव्य में वाग्वैधग्ध्य हास्य का पुट अन्योंक्तियां, घोर अतिशयोक्ति पूर्ण पद्धति, तथा सुन्दर वर्णन की विशेषता है । **शुक्ल जी ने** इनका कविता काल संवत् १६५० माना है । कहा जाता है कि इनके जिस छप्पय पर प्रसन्न होकर **रहीम ने छत्तीस** लाख रुपया दे डाला था, वह यह है ।

चकित भंवर रहि गयो, गमन नहि करत कमल बन ।
-अहि फन मनि नहि लेत, तेज नहि बहत पवन घन ।।
हंस मान सर तज्यो, चक्क-चक्की न मिलै अति ।
कहु सुन्दरि पद्मिनी पुरुष न चहैं, न करैं रति ।।
खल चकित सेस कवि गंग मन, अमित तेज रसि रथ खस्यौ ।
खानान खान बैरम-सुवन जबहि क्रोध करि तंग कस्यो ।

नरहरि "बन्दीजन":—संवत् १५६२–१६६७ । **रुकमिणी, मंगल, छप्पय, नीति** और **कवित्त संग्रह** के रचयिता, **अकबर** द्वारा महापात्र की सम्मानित उपाधि से

विभूषित तथा उसके दरबार के प्रमुख कवि, **'नरहरि'** वन्दीजन असनी फतेहपुर के निवासी थे। इनकी प्रतिष्ठा १तथा प्रभाव इतना अधिक था कि इनकी निम्नलिखित रचना के कारण गोबध बन्द करवाया गया। यह रचना उनकी निर्भीकता का प्रतीक है।

अरिहु दन्त बिन धरै ताहि नहीं मार सकत कोइ ।
इक सबद बिन चरहि वचन उच्चरहि हीन होइ ॥
अमृत पय नित स्रवहि, वच्छ महि थंभन जावहि ।
हिंदुहि मधुर न देहि, कटक तुरकहि न पियावहि ॥
कह कवि 'नरहरि अकबर सुनो, विनवत गउ जोरे करन ।
अपराध कौन मोंहि मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन ॥

महाराज टोडरमल, बीरबल, मनोहर, कवि आदि भी अकवर के दरवार की शोभा थ। कवि **होलराय** भी अकबर के दरबार में जाते थे। यह चारण कवि थे। कविता अच्छी होते हुए भी जन-जीवन से उनकी कविताओं का कोई भी सम्बन्ध न था।

संवत् १६८८ में **शाहजहां** के दरबार के **कवि सुन्दर** ने **सुन्दर-शृंगार** की रचना की इसके अतिरिक्त इनकी दो पुस्तक **सिंहासन बत्तीसी** और **बारहमासा** भी बतायी जाती है।

अन्य राज्याश्रित कवि:—अन्य राज्य दरबारों में भी इस युग में राज्याश्रित कवि हुए, जिनमें **केशवदास,** ओरछा नरेश के भाई **इन्द्रजीत सिंह की सभा** और **लालचन्द, महाराणा जगत सिंह** मेवाड़ की सभा में थे। **लालचन्द संवत्** १६८५–१७०९ में संवत् १७०० में **पद्मिनी-चरित** नामक प्रवन्ध-काव्य गीतों में लिखा। केशव की देन का वर्णन रीतिकाव्य की कविता में किया जायेगा।

श्रृंगार-काल

[१६ वीं से १६ वीं शताब्दी]

वास्तव में भक्तिकाल में जिस प्रकार की रचना हुई वह हिन्दी के लिए क्या, किसी भी भाषा के साहित्य के लिए गौरव की बात हो सकती है। वह हिन्दी के लिए स्वर्णयुग था। उस काल में हिन्दी की कविता राजाश्रयों से नहीं महान् तपपूत साधकों के हृदय में से निकलकर जनता के लिए न केवल अमर-कल्याणी संदेश लेकर आयी थी, अपितु भविष्य के लिए भी चेतना और जागरण का महान संदेश दे गयी। इस युग की कविता वीरकाव्य की भांति राजाश्रित हो पली। उसकी अंतःप्रेरणा का सामान्य स्रोत जन-जीवन के भीतर से न फूटकर राजकीय वातावरण में फूटा।

औरंगजेब के समय से ही मुगल दरबार में कलाकारों की पूछ न रह गयी थी। उसके समय में ही मुगल साम्राज्य के प्रति विद्रोह की भयंकर अग्नि प्रज्वलित हो चुकी थी। उसके अवसान के बाद मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। ऐसी परिस्थिति में देश में, विशेषकर हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में, एक विचित्र ंग का वातावरण उत्पन्न हो गया था। औरंगजेब के सभी पुत्र मुगल सम्राटों की भांति न रह कठपुतली की भांति थे। सामंतों के हाथ के खिलौने वे हो गये। जहांगीर के समय में ही धर्म की कट्टरता का दर्शन हुआ था। औरंगजेब के समय में तो यह कट्टरता इतनी बढ़ गयी कि भारत के सम्राट के दरबार में जहां अनेक कलाकार सदैव से पोषण पाते रहे, वहां से कला को अपना प्राण बचाकर भागना पड़ा। हिन्दू तो पदमर्दित कर रौंद दिये गये थे किन्तु मुसलमान भी अपांग हो गये थे। उन्होंने विलास की सुरा का पान इस भांति किया कि न तो उन्हें अपना ध्यान रहा और न समाज के भविष्य का ही। वे तो घर फूंक तमाशा देख अंधकार में खोये थे। इसी समय देश पर विपत्तियों की बाढ़ आ गयी। सामान्य जनता के खून से ताजमहल जैसी विलास की वस्तुएँ पहले ही बनायी जा चुकी थीं। बाहरी आक्रमणों ने भी, विशेषकर नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली की पाशविक लूट ने, समाज की कमर ही तोड़ दी। उस समय जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। जनता के भाग्य-नियन्ता पतित भी हो चुके थे। सदैव से लोगों की आंखें दिल्ली पर रहती आयीं हैं। जिस समय दिल्ली का शासन जर्जरित हो गया, उस समय सामंतों की दृष्टि स्वतंत्र हो उठी। उन्होंने विद्रोह आरंभ किया और अपने अपने क्षेत्र में शासक बन बैठे। शासन खंड-खंड में विभाजित हो गया। इन शासकों का आदर्श दिल्ली ही था। विप्लव की अग्नि से समाज को उलट-पुलट और जला भुना डाला गया और दिल्ली की देखा-देखी राजदरबारों में भी, यहां तक कि छोटे-मोटे सामंतों के यहां भी सुरा-सुन्दरी का नग्न-नृत्य चलने लगा। लूट और खून से गर्म सामंतों के मस्तिष्क सुन्दरियों

के स्वर में, उनके रूप की आभा में, मदिरा की ताल पर कामुकता की बंसी बजाने लगे। शिवाजी और छत्रसाल के बाद इस युग में एक भी ऐसा महान् व्यक्ति अवतरित नहीं हुआ जिसकी गौरव-गाथा अखिल भारतीय हो।

दूसरे जिन साधु-संतों पर समाज की प्रगति का दायित्व था तथा जिन्होंने भक्ति के समय अपने प्रबल आन्दोलन द्वारा जनजीवन में जागरण की आलोकमय किरणें बिखेरी थीं, वे समाज को विपन्नता के ग्रहण से न बचा पाया। भक्तिकाल के अंतिम दिनों में ही मथुरा और वृन्दावन गोपियों की रासलीला का केन्द्र हो गया था। मठों में परस्पर वैमनस्य था। वे एक दूसरे को उखाड़ फेंकना चाहते थे। वेश्याओं के नृत्य द्वारा भगवान् के नाम पर मंदिरों में अपना मन संतुष्ट किया जा रहा था। स्त्रैण भावना की पूजा की जाने लगी। दुर्बलता ही जीवन का शृंगार बन बैठी। राजसी विलास वैभव में जीवन की साधना का ढोंग रचा जाने लगा। तुलसी द्वारा प्रतिष्ठापित राम, शील, शक्ति और ौंदर्य के आगार न रहकर रसिया राम बन गये। सखी सम्प्रदाय जो सर्वथा युक्तमानवीय उपकरणों से विभूषित थे, धार्मिक नैया का खेवनहार बन गया। भगवान् कृष्ण रसिक और छलिया कृष्ण हो गये। कृष्ण की तो इतनी दुर्गति की गयी कि आज जब उस संबंध में अध्ययन किया जाता है तो रोमांच हो उठता है। अतएव सामाजिक और राजनैतिक ठेकेदारों की भाँति इस युग के धार्मिक ठेकेदार भी जनजीवन के वैभव से होली खेलनेवाले क्लीव, कायर एवं ढोंगी थे।

सामाजिक बंधन, जिनके आधार पर हिंदू समाज ने शासित होकर भी शासकों से लोहा लिया था, जो जाति-पांति की सामाजिक व्यवस्था, ढाल के रूप में हिन्दू-व्यवस्था को बचाने वाली हुई थी, वही व्यवस्था संकीर्णता की रज्जु में इतनी कसकर बांध दी गयी थी कि उसके दम घुटने लगे। एक जाति के लोग दूसरे जाति से अपने को ऊँचा समझने तथा दूसरे को नीचा दिखाने में ही अपना वैभव समझने लगे। जीवन से पराभूत व्यक्ति मृगजल को ही अपना सब कुछ मान बैठा। जातियों में उपजातियां बनीं। एक ही जाति में ऊँच-नीच छोटा-बड़ा होने का भेद-विभेद इतनी बुरी तरह परिव्याप्त हो गया कि सब डेढ़ चावल की खिचड़ी पकाने लगे। यह भेद-विभेद की संक्रमक भावना छोटे-से-छोटे राजा-रजवाड़ों से लेकर सामान्य व्यक्ति तक व्याप्त हो गयी। जनता की कमर आर्थिक दृष्टि से तो पहले ही टूट चुकी थी, जो उसके भीतर रक्त शेष था, इसे चूसने का आयोजन भी इस युग में प्रारम्भ हुआ।

ऐसी परिस्थिति में कला और कलाकार विचित्र संक्रमण-कालीन स्थिति में थे। उनके सामने कोई ठिकाना नहीं था। जनता में कला और कविता का मोल तब होता है जब खाने को भोजन और वातावरण शांत रहता है। ये दोनों बातें उस युग में नहीं थीं। युग की प्रवृतियां भी इस तरह लोगों के मन पर छा गयी थीं कि कलाकार भी इस अभिशाप से न बच सका; उसे राजे-रजवाड़ों के यहां जीवन-यापन के लिए घुटने टेकने पड़े। थोड़ी सी वाक्पटुता, चाटुकारिता के बल पर जीवन-यापन की सरलता उन्हें सामंतों, छो-मोटे धनिकों द्वारा आश्रय दिलाने में सफल हो सकी। विभेद की भावना इतनी

व्यापक हो चुकी थी कि सभी महान् बनना चाहते थे स्वार्थियों की एक जमात जुटाना चाहते थे जो जीवन की थोड़ी सुख-सुविधा पाकर न केवल उनके हां में हां मिलायें अपितु उनके पाप-कर्मों को पुण्य से अधिक उज्वल बताएँ। कलाकार की रोटी उनको हाँ में हाँ मिलाने के लिए बाध्य करती थी। चित्रकला और संगीत को, समाज को राह दिखानेवाला न बनाकर व्यक्तियों का पिछलगुआ बनाया गया तथा गंगा की तरह निर्मल कला से सुरा का कार्य लिया जाने लगा। विलासिता ने काम की स्पृहा को जगाया। कलाकार की कला ने मद का कार्य किया। ऐसा भयानक संक्रमण-कालीन समय भारत के इतिहास में खोजे नहीं मिलता। वास्तविक कला अंतरध्यान हो गयी। उसका उद्देश्य विलुप्त हो गया। कामोद्दीपक स्त्रैण भावना से पूर्ण चित्रों का निर्माण आरंभ हुआ। वासना की अग्नि पर कला द्वारा घी का काम लिया गया। संगीत की स्वर्गीय रागिनी दरबारों में छुमछनन कर, स्त्री का रूप धारण कर, नाचने लगी। यहाँ तक कि ऐसी राग-रागिनियों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाने लगा जो मानव के कामोत्तेजना को प्रबल करतीं। सुकुमार कोमलता का हाव-भाव जीवन का श्रृंगार बन बैठा। इसका प्रभाव साहित्य पर पड़ना अवश्यंभावी था। प्रभाव पड़ा और खूब पड़ा। साहित्य भी बिक गया। 'कविमनीषी परिभूः स्वयंभूः' का इतना बड़ा पतन भारत के इतिहास में कभी भी नहीं हुआ।

साहित्यकार का प्रिय विषय जीवन न होकर नारी हो गया। क्योंकि नारियों के हाव-भाव प्रदर्शन में वह सहज शक्ति छिपी हुई है जिसके बल पर मानव मन अपने आप ही उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है। नारी ने पराभूत मन को कृत्रिम सौंदर्य का सुरापान कराया। भारत की गृह-लक्ष्मियां तितली बन गयीं। उनके सिर से लेकर पैर तक अंग प्रत्यंग का कामोत्तेजक वर्णन प्रस्तुत किया जाने लगा। अंगों के सौंदर्य पर कवि की सारी कल्पना, सारी प्रतिभा केन्द्रीभूत हो उठी। नारी मर्यादा की देवी न रह कर विलास की मूर्ति बन गयी। राज दरबारों में तो सुन्दरियां सामंतों के मनः संतोष का उपकरण बनीं और इधर कविजन भी पनघट पर स्नान के स्थानों पर बाग बगीचों में तितलियों का सौंदर्य निहारने लगे। ऐसा सौंदर्य जो सहज न होकर मादकता का प्रसार करनेवाला था। विचित्र-विचित्र कल्पनाएँ, विलास के सभी साधन, नारी की नजरों में, उसकी कटि की व्यग्रता पर, सारे उक्ति वैचित्र्य उसके हाव-भाव पर, न्यौछावर किये जाने लगे। संत कवि विलुप्त से हो गये। यहां तक कि भूषण जैसे लोक कवि को भी श्रृंगार की रागिनियों के स्वर साधने पड़े। नारी, आकर्षण का समस्त केन्द्र-बिन्दु इसीलिए इस युग में नहीं बनायी गयी कि वह ममता, कोमलता, वात्सलय तथा कमनीयता की पुंजीभूत मूर्त रूप थी अपितु इसीलिए कि वह विलास का एक उपकरण बन सकती थी। ऐसा उपकरण जो रंगरेलियों, अठखेलियों का रास पैसों के लिए रच सकती थी। स्त्रीत्व के ऊपर इतना व्यापक प्रहार इसके पूर्व भारत में विदेशियों ने भी नहीं किया। इस भारतीय आत्मा को कुठारित करने के प्रयास में समाज के अन्य स्तम्भों की भांति साहित्यकार ने भी अपनी परवशता के कारण सहयोग दिया। और ऐसा सहयोग दिया जिसका

उदाहरण ढूंढ़े नहीं मिलता है फिर भी अनेक ऐसे कवि हुए जिनकी रचनाओं का सामाजिक मूल्य तो है ही किन्तु सामाजिक चेतना को जागृत करने में बहुत बड़ा योग दान करनेवाले ऐसे कवि भी अनेक हुए जिन्होंने विशुद्ध मानवीय प्रेम के मद में बड़ी ही सुन्दर रचना की। शब्दों की पच्चीकारी गजब की इस युग में की गयी। दरबारी सभ्यता में उक्तियों और वाक्पटुता का महत्व सदैव से ही रहा है। सुन्दर लफ्फ़ाज़ी उक्ति-वैचित्र्य, कोमलता की भावना, विचित्र-विचित्र कल्पनाएँ, सूक्ष्मतर हाव भावों की अभिव्यक्ति अच्छे ढंग से की गयी। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह कहते हुए पाये जाते हैं कि इस युग की रचनाए किसी काम की नहीं हैं। जीवन को मर्यादित अभ्युदय की ओर ले जाने-वाली नहीं है,विकार संपन्न है। अतएव इस युग का साहित्य हमारे किसी काम का नहीं है। वह निकम्मा है, भौड़ा है, अमानवीय है। इस संवंध में इस तथ्य को निश्चय पूर्वक स्वीकार नहीं ही किया जा सकता। जिस प्रकार नवाबों के दरवार में उद्भूत ठुमरी अपनी विशिष्टताओं के कारण आज भी जनप्रिय हैं उसी प्रकार उस युग के साहित्य में मुक्तकों का जो विकास हुआ है,भले ही वह अधिक समाजोपयोगी न हों,किन्तु कभी-कभी व्यक्ति का मन ऐसी परिस्थितियों में आ जाता है, जब एक वार उसमें खो जाने का जी सवका चाहता है। राजदरबारों में पली यह कला कहीं-कहीं तो इतनी रस में डूब गयी है कि अध्येता एक बार उन रचनाओं की उसी प्रकार प्रशंसा कर उठता है जिस प्रकार ताज महल का दर्शक ताज महल को देखकर। विहारी के दोहों का, देव के छंदों का, मतिराम की रचनाओं का और सबसे बढ़कर भूषण और घनानंद की भावनाओं का सम्मान केवल इसलिए नहीं है कि वह हमारा साहित्य है अपितु इसलिए कि उसके भीतर जीवन है, जीवनी शक्ति है और है सहज हृदय को लुभा लेने की क्षमता। विरासत में मिली वह हमारी संपत्ति है। जिस प्रकार जनता के रक्त से बनाये गये गारों द्वारा बड़े बड़े मकबरे, आलीशान इमारतें आज भी हमारे वैभव की कहानी अपने भीतर समेटे हुए हें उसी प्रकार ज-भाषा-साहित्य में हमारे अतीत की अतुल साहित्यिक निधि छिपी हुई है। वह व्रज भाषा के इतिहास में स्वर्ण युग था। वह हमारे लिये एक अतुल संपत्ति है जिससे हमें अभी वहुत कुछ लेना है। हमें ताजमहल की भांति उसे सुरक्षित रखना है। उस युग की कला पर प्रत्येक हिन्दी वाले को नाज होना चाहिए।

युग का नाम

हिन्दी साहित्य के इस युग का क्या नाम रखा जाय इसपर विद्वानों की सहमति नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसका नाम रीति-काल रखा है। डा० नागेन्द्र और डा० श्यामसुन्दरदास तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे इसी नाम से पुकारते हैं किन्तु विद्वानों में ऐसे लोग भी हैं, जिनमें पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र सबसे प्रमुख हैं, जिन्होंने इस काल को शृंगार-काल की संज्ञा दी है। प्रवृत्तियों की दृष्टि से यदि युगों का नाम रखा गया तो मनोवैज्ञानिक अध्ययन इस वात का साक्षी होगा कि इसे शृंगार काल की संज्ञा दी जाय। क्योंकि प्रायः इस युग के सभी समर्थ कवियों ने शृंगारिक रचनाएँ की ही हैं। जिस विषय का वर्णन किया गया है वह शृंगार ही है। इस युग में अनेक ऐसे

भी समर्थ कवि हुए जिनकी रचनाओं का महत्व किसी रीतिकार से कम नहीं है। उदाहरण के रूप में घनानंद, ठाकुर, आलम और बोधा का नाम निःसंकोच लिया जा सकता है। घनानंद सा तो अंतर्दशाओं का वर्णन करनेवाला रीति काल में कोई समर्थ कवि ही नहीं हुआ। अनेक कवि ऐसे भी हुए जिन्होंने लक्षण ग्रन्थ तो नहीं लिखे लक्ष्य ग्रन्थ अवश्य लिखे। व्यापक रूप से लौकिक शृंगार की अभिव्यक्ति इस युग में हुई। आचार्यत्व के वहाने यदि इसे रीतिकाल की संज्ञा देने का आग्रह किया जाता है तो यह समुचित न होगा वह इसलिये कि वास्तव में अपनी स्वतंत्र उतद्भावनाओं के वल पर नियमों और लक्षणों की उद्भावना इस युग में नहीं की गयी। समस्त सामग्री संस्कृत से ली गयी। अतएव कवि की अपेक्षा आचार्यत्व की वात फीकी लगती है अतएव मैंने इस युग का नाम शृंगार काल ही रखा है। कहीं-कहीं रीति शब्द का भी प्रयोग किया गया है वह रीतिवद्ध कवियों तक ही सीमित समझना चाहिए। इस युग की रचनाओं का यदि वर्गीकरण किया जाय तो दो प्रकार की काव्य धाराएँ हमें दिखायी पड़ती हैं। रीति-बद्ध और रीति-मुक्त। रीतिवद्ध रचनाओं को दो उपांगों में वाटा जा सकता है—लक्षण-वद्ध और लक्ष्यमात्र।

रीति-काव्य

संस्कृत में जिस वस्तु को अलंकार शास्त्र या काव्य शास्त्र की संज्ञा दी जाती है उसे हिन्दी में रीति-शास्त्र के नाम से संवोधित किया जाता है। हिन्दी में यह शब्द अपना प्रयोग है। इस शब्द का प्रयोग रीतिकाल में ही अनेक कवियों द्वारा किया गया। जिसमें देव ने अपनी पुस्तक 'शब्द रसायन' में लिखा है "अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि रीति"। दास ने अपने काव्य निर्णय" में लिखा है कि 'काव्य की रीति सिखी सो कविन सों"। पद्माकर और प्रतापसिंह ने कवित्त-रीति और अलंकार-रीति आदि शब्दों को प्रयुक्त किया है तथा वाद में तो रीतिकाल के अंतिम समय में प्रायः इस शब्द से उस युग के सभी कवि परिचित थे। रीति का अर्थ होता है सामान्य भाषा में प्रकार और रीति काव्य का यदि शाब्दिक अर्थ लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि काव्य-रचना का ढंग या प्रकार किन्तु हिन्दी में यह शब्द वड़े व्यापक रूप में गृहीत हुआ है। काव्य-रचना सम्वन्धी नियमों की व्याख्या की जाती है तो उसे रीति ग्रन्थ और जव उस नियमों के अनुसार काव्य रचना की जाती है तो उसे रीति काव्य की संज्ञा दी जाती है। आधुनिक युग में मिश्र-बन्धुओं ने इस शब्द की वड़ी ही व्यापक व्याख्या की है किन्तु इतिहास के रूप में इसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही है। वाद के लोगों ने तो शुक्ल जी के मार्ग का अनुगमन मात्र ही किया है।

जो रचनाएँ लक्षण और लक्ष्य दोनों रूप में प्रकट हुई हैं उन्हें लक्षण ग्रन्थ और जो केवल काव्य-रचना के विधानों को आदर्श मान कर लिखी गयी हैं उन्हें लक्ष्य ग्रन्थ के नाम से संवोधित किया जाता है।

साहित्यिक प्रेरणा के स्रोत

शृंगार-काल का साहित्य कोई नयी वस्तु नहीं अपितु परम्परा से प्राप्त एक धारा का विकास मात्र है। कोई भी धारा साहित्य में स्तष्ट आभासित होने के पूर्व वहुत

समय तक सूक्ष्म रूपसे इतस्तत: अपना आभास प्रगट करती रहती है और बाद में जाकर वह स्रोत का रूप ग्रहण करती है । संस्कृत, प्राकृत और पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य से श्रृंगार काव्य की परम्परा इस युग के साहित्यकारों को प्राप्त हुई जिसका पल्लवन उन्होंने किया। कालिदास और श्रीहर्ष संस्कृत के वह मेधावी साहित्यकार हैं जिनकी रचनाओंने श्रृंगार की अनुपम धारा प्रवाहित की पर उनके श्रृंगार में एकान्तिकता नहीं लोक व्यापिनी समाहार दृष्टि तथा दार्शनिक चिन्तन का भी अभाव नहीं । संस्कृत की सतसई बहुत पहले ही रची जा चुकी है जो अस्पष्ट रूप से यौन सम्बन्धों से संबंधित ग्रन्थ हैं । अमरूक शतक तथा आर्यासप्तशती भी इसी प्रकार की रचना है । दुर्गा सप्तशती, चन्डी शतक वक्रोक्ति पंचाशिका, कृष्ण-लीलामृत, अनक ऐसे ग्रन्थ हैं जो काम और यौन के श्रृंगारिक पहलू का उद्‌घाटन करते हैं । प्राकृत अपभ्रंश भी इसी परम्परा से प्रभावित हुआ। यहां वहां जै वल्लभ और हेमचन्द्र की रचनाओं में श्रृंगारिक वर्णन मिलता है । चौदहवीं शताब्दी के पूर्व तक रचे गये काव्य में चाहे वह किसी भी भाषा में रचे गये हों इस वस्तु का स्पष्ट निर्देश मिलता है । पूर्वी बिहार और बंगाल में राधाकृष्ण की भक्ति जिस रूप में विकसित हुई, जयदेव की रचनाएँ और विद्यापति के गीत उनके प्रमाण हैं । अपनी भावना की पवित्रतावश तथा अन्ध-श्रद्धा के आवेश में भले ही कुछ लोग विद्यापति को रहस्यवादी कवि मान लें किन्तु सत्य यह है कि विद्यापति न इन्द्रियों के श्रृंगार का जो मनमोहक चित्र खींचा है उसके पीछे नायिका भेद की भावना निश्चय ही छिपी हुई है । उनकी रचनाओं को यदि हम ऐसे संग्रहों में संग्रहीत कर दें जो विशुद्ध श्रृंगारिक हैं तो कोई भी व्यक्ति उपर्युक्त सत्य को मानने से इनकार न करेगा । चन्द की रचनाओं में भी जो चित्र हैं उनके पीछे नायिका भेद की भावना निश्चय ही छिपी हुई है । उनकी रचनाओं को यदि हम ऐसे संग्रहों में संग्रहीत कर दें जो विशुद्ध श्रृंगारिक हैं तो कोई भी व्यक्ति उपर्युक्त सत्य को मानने से इनकार न करेगा । चन्द की रचनाओं में भी इस बात का स्पष्ट आभास है कि रीति की नीति से वे परिचित थे । नखसिख का वर्णन उन्होंने भी किया है । किन्तु यह संकेत मात्र ही है । विद्यापति में तो इन्द्रिय विलास का सौंदर्य स्पष्ट हो उठता है । यद्यपि केशव ही रीतिकाव्य के प्रथम प्रवर्त्तक ए पर सं० १७९८ में प्रकाशित कृपाराम की हित तरंगिणी इस परम्परा का स्पष्ट रूप से आभास देती है । वे सूर के समकालीन थे और हित तरंगिणी की रचना उन्होंने कवि हित के लिए की थी । साथ ही इस बात का भी उन्होंने वर्णन किया है कि उनके पूर्ववर्ती कवि भी श्रृंगार रस का वर्णन बड़े विस्तार के साथ कर चुके हैं । इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि उनके पूर्व ही श्रृंगार रस का वर्णन बड़े विस्तार के साथ हुआ है ।

यह ग्रन्थ बाद में अनेक कवियों द्वारा रचे गये ग्रन्थ से विस्तार में बड़ा है साथ ही इसका आधार मूलत: भरत ग्रन्थ है । सूर ने भी अपने श्रृंगार में नायिका भेद और वियोग और संयोग श्रृंगार के ारा इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का परिचय ही दिया है । यदि साहित्य लहरी सूर की रचना मान ली जाय तो वह ग्रन्थ अलंकार परंपरा का माना जायगा । रीति के प्रभाव से प्रभावित हो महाकवि तुलसी दास ने बरवै रामायण की रचना की ।

उनके उपरान्त रहीम के नायिका भेद पर लिखित सुन्दर ग्रंथ बरवै नायिका भेद तो है ही। नंददास ने रस मंजरी में, जो भानुदत्त की रस मंजरी पर आधृत है, वनिता-भेद विशद रूप में सुन्दर ढंग से वर्णित किया है। कृपाराम ने स्पष्ट रूप से इस क्षेत्र में प्रवेश किया किन्तु उन्हें हम आचार्य की संज्ञा इस कारण से न दे सके कि वह सीमित व्यक्तित्व के व्यक्ति थे। साथ ही काव्य के तत्काली अन्य वर्ण विषयों के ऊपर वह छा न सके। यह कार्य तो केशव ने ही किया और केशव इसके प्रथम प्रवर्त्तक हुए और उन्होंने कवि प्रिया और रसिक प्रिया के द्वारा रस की इस धारा का प्रवाह प्रवाहित किया। केशव जिस युग में हुए थे उस युग में सूर और तुलसी की जीवन-दायिनी गंगा और यमुना की भांति व्यापक धाराएँ लोक में भाव प्रतिष्ठा कर रही थीं। अतएव केशव का प्रभाव भी अपने युग में व्यापकता न पा सका। वास्तव में चिन्तामणि के बाद ही यह धारा हिन्दी में व्यापक हुई, फूली-फली और प्रवर्धित हुई क्योंकि उस युग में सभी परिस्थितियां चारों ओर से ऐसी धारा के लिए मार्ग वना चुकी थीं। चिन्तामणि ने इस स्रोत को शत-शत धाराओं में प्रवाहित करने का कार्य नहीं किया अपितु उनके उद्भव को एक सामयिक घटना ही मानना चाहिए।

रीति-शास्त्र

वामन के बहुत पहले ही विशिष्ट पद-रचना-रीति और संस्कृत साहित्य के विकास के अंतिम दिनों में रीति शास्त्र के प्रायः सभी सम्प्रदाय स्पष्ट रूप से सामने आ गये थे तथा उनके पीछे व्यापक साहित्य भी निर्मित हो चुका था। ये ही संस्कृत ग्रन्थ जो विभिन्न संस्कृत के आचार्यों द्वारा समय-समय पर रचे गये थे हिन्दी रीतिकारों के आधार बने। इनमें न तो वह मौलिकता है, न वह सूक्ष्मता है न उतनी व्यापकता ही। इसके पूर्व जो कुछ भी संस्कृत में रचा जा चुका है उस पूर्ण सामग्री का उपयोग इस युग के लोग न कर पाय। उन्होंन तो अपने को सीमित कर लिया था। हिंदी में पहले तो रीति काल के विद्वानों की उद्भावनाएँ उनकी निजी मौलिक उपज मानी जाती रहीं पर अब यह तथ्य कि वे उधार ली गई भावनाएँ हैं, छिपा नहीं है।

इस युग में अनेक ऐसे रचनाकार हुए जिन्होंने केवल लक्षण ग्रन्थों की रचना की है तथा दूसरा वर्ग ऐसा है जिसने लक्षण के साथ ही साथ उदाहरण भी दिये हैं। यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि इन तथाकथित आचार्यों की रचनाएँ विद्वानों के लिए नहीं, पढ़े लिखे पंडितों के लिए नहीं, अपितु रस के ग्राहकों के लिए हुई। संस्कृत रीति का सूक्ष्म निरीक्षण चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। फिर ऐसा समझना कि कोई मौलिक देन जो अत्यन्त सूक्ष्म और गूढ़ हो, इस युग के इन आचार्यों की देन है, भ्रम होगा इन्होंने अपने को संस्कृत के 'चन्द्रालोक' 'रस तरगिणी', 'रस मंजरी', 'कुवलयानंद', 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' तक ही सीमित रखा तथा संस्कृत के गंभीरचिन्तन कर गंभीर साहित्य का उपयोग नहीं किया। केशवदास के आदर्श, दंडी और केवश मिश्र हुए जिनकी गहराई में तथा विवेचन पद्धति में दखल देने का आयास उन्होंने भी नहीं किया वे तो थोड़े से संकुचित दायरे में चक्कर काट रहे थे। काव्य के और रस के

सामान्य सिद्धान्तों तथा उनके स्वरूपों की ओर भी ध्यान नहीं दिया। इस दृष्टि से कुलपति सबसे आगे हैं। संभवतः इस क्षेत्र में कुलपति के समान और कोई आगे नहीं बढ़ा। प्रमुख रूप से इन लोगों ने शैली की दृष्टि से काव्य-प्रकाश, चन्द्रालोक, रस मंजरी और श्रृंगार तिलक की शैली अपनायी। प्रायः चन्द्रालोक की भाँति सीमित रूप में अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिये गये। इस शैली के अन्तर्गत करनेस का श्रुति भूषण पहला ग्रन्थ है। कुवलयानंद की स्पष्ट छाया तथा चन्द्रालोक का स्पष्ट प्रभाव बाद के या इस शैली के ग्रन्थों पर है। महाराजा जसवंत सिंह ने इस युग की अपनी अमर रचना भाषा-भूषण द्वारा इस शैली का बड़ा ही सुन्दर अनुगमन किया है। उनके भाषा-भूषण में दोहों में लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। दोहे के पहले चरण में तथोक्त अलंकार का लक्षण और दूसरे में उसका उदाहरण दिया गया है। इस पद्धति का अनुकरण बड़े व्यापक रूप से किया गया है। इन अनुकरण कर्ताओं में सुरति मिश्र, भूपति, शम्भूनाथ, ऋषि नाथ, तथा महाराज रामसिंह प्रमुख हैं। भाषा-भूषण के ऊपर तिलक रूप में दलपति राय और बंशीधर, प्रताप साहि और गुलाब कवि ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं जिसमें दलपति राय और वंशीधर की टीका सबसे सुन्दर बन पड़ी है। इन ग्रन्थों का निर्माण काव्य रचना की भावना से नहीं बल्कि लक्षण ग्रन्थ के रूप में हुआ। काव्यत्व का सौंदर्य मूल ध्येय न रहकर इन रचनाओं का ध्येय अलंकार-वर्णन था। इस पद्धति का अनुकरण बड़े व्यापक रूप में हुआ।

पद्माकर और वैरीसाल यद्यपि इस प्रवाह को आगे बढ़ानेवालों में हैं। फिर भी भाषा भूषण के केवल अनुकरण कर्त्ता मात्र वे नहीं कहे जा सकते। इन लोगों ने दोहों के अतिरिक्त अनेक छंदों का समावेश इधर उधर अपनी रचनाओं में किया। इन्होंने उदाहरण अधिक दिये हैं। हरिनाथ ने प्रारम्भ में तो ८६ दोहों द्वारा अलंकार का लक्षण दिया है और ४० छंदों में बाद में उदाहरण प्रस्तुत किया है। ऋषिनाथ और शम्भूनाथ मिश्र ने कवित्त सवैयों का प्रयोग किया है। शम्भूनाथ ने गद्य का भी आश्रय लिया है। अलंकार की शिक्षा देने के उद्देश्य से निर्मित अलंकार रत्नाकर डा० नगेन्द्र की दृष्टि में सबसे अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता दलपति और वंशीधर हैं। श्रीपति और सुरति की विवेचना अत्यंत गम्भीर है और वैसी ही गम्भीर विवेचना इनके ग्रन्थों में मिलती भी है। इन लोगों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों केशव, मतिराम, सेनापति, देव, विहारी आदि की सुन्दर रचनाएँ भी उदाहरण के लिए ली हैं। इन्होंने अपने भावों को स्पष्ट करने के लिए गद्य का भी सहारा लिया है। अतएव इस परम्परा के ये कवि विषय स्पष्ट करने की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय कृति के निर्माता कहे जा सकते हैं। इस वर्ग के लेखकों में मतिराम, भूषण, दूलह, दत्त, ग्वाल और प्रताप साहि आदि ने उदाहरणों पर बहुत ध्यान दिया किन्तु लक्षण पर अत्यन्त अल्प ध्यान दिया। रघुना और ग्वाल का दृष्टिकोण इनमें सर्वाधिक सन्तुलित है। मतिराम और भूषण ने तो रस की सृष्टि पर विशेष ध्यान दिया है। इन सभी लोगों ने अर्थालंकारों की ओर विशेष झुकाव दिखाया है। शब्दालंकारों की ओर ध्यान नहीं दिया है। अनुप्रास को तो उन्होंने लिया है पर उसके आगे नहीं बढ़ सके हैं।

दूसरे ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें श्रृंगार रस से पूर्ण नखसिख और नायिका भेद का वर्णन किया गया है। इस वर्ग के लेखकों में केशव, मतिराम, सुखदेव, देव, कवीन्द्र दास, तोष, प्रवीन और पद्माकर आदि कवि आते हैं। इनकी टीका-रुद्र, भट्ट और भानुदत्त की रचनाएँ हैं। रुद्र के श्रृंगार तिलक में तथा भानु दत्त के रस तरंगिणी और रस मंजरी ने इन्ह प्रभावित किया था। इस वर्ग के सभी कवि श्रृंगार रस को रसों का राजा तथा सर्वश्रेष्ठ रस माननेवाले व्यक्ति थे तथा श्रृंगार ही, नायिका भेद और नखसिख वर्णन के रूप में इनकी रचनाओं का वर्ण्य विषय है। रस की छाया में इन्होंन श्रृंगार का वर्णन किया है। यद्यपि साधारण तौर पर रस, स्थायी भाव, संचारी भाव-विभाव और अनुभवों का वर्णन इन्होंने किया है। केशव एक सीमा तक अन्य रसों को भी यथा वीभत्स, हास्य, रौद्र, करुण को भी श्रृंगार के भीतर समेटने में सफल हुए हैं तथा अनेक कवि केवल श्रृंगार तक ही सीमित रह पाये। रस राज में मतिराम की सारी प्रतिभा श्रृंगार के वर्णन तक ही सीमित है। श्रृंगार के दोनों पक्षों, संयोग और वियोग का इन्होंने समन्वय कियाहै। संयोग के अन्तर्गत,वारहमासा, और षट-ऋतुओं का वर्णन भी है। नायिकाओं के हाव-भाव तथा ऐसे उपादानों का वर्णन भी किया है जो श्रृंगार के आलंबन और उद्दीपन के लिए प्रीति कर हो सकता है। यह वर्णन अत्यन्त सरस, उद्दीपक, मनोहर और विस्तरित है। वियोग पक्ष की विभिन्न दशाओं का वर्णन भी किया गया है तथा प्रचुर परिमाण में इस बात का प्रयत्न किया गया है कि कोई भी चीज छूटने न पाये, किन्तु इनका विषय नायिका भेद तक ही सीमित है। बहुत से कवि तो नायिका भेद तक ही सीमित हैं। मतिराम का नाम पहले ही लिया जा चुका है। देव और पद्माकर भी इसी कोटि में आते हैं। देव तो देव सुधा में यहां तक कह जाते हैं **"माया देवी नायिका नायक पुरुष आप।"** इस परम्परा के कवियों ने अपने युग का अच्छा प्रतिनिधित्व किया है। इस संबंध में डा० नगेन्द्र का यह मत अत्यंत महत्वपूर्ण है—

"इनकी पद्धति तर्क-सिद्ध न होकर सर्वथा रस-सिद्ध है। रीतिकाल की 'रीति' और 'श्रृंगारिकता' इन दोनों मूल प्रवृत्तियों का जितना सुन्दर समन्वय इनके काव्य में मिलता है उतना अन्यत्र असम्भव है क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य आचार्यत्व-प्रदर्शन न होकर केवल कला-साधन ही था जिसमें रसात्मकता और कलात्मकता दोनों का संयोग आप से आप हो जाता था। इनका रीति-निरूपण भी जो इतना स्वच्छ और प्रौढ़ है उसका कारण प्रायः इनकी प्रतिभा ही थी—आचार्यत्व का विशिष्ट प्रयत्न-साधन नहीं। स्वभाव से रससिद्ध और सामयिक प्रवृत्ति के अनुसार शास्त्रविद् होने के कारण इनको अद्भुत रसज्ञता प्राप्त हो गयी थी। शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों का उचित संयोग ही इनकी सफलता का मूल कारण था। क्योंकि अन्य कवियों की व्युत्पत्ति और अभ्यास चाहे इनसे बढ़े चढ़े रहे हों परन्तु शक्ति में वे सभी इनसे हीनतर थे? स्वभावतः इनको हिन्दी की प्रकृति का पूरा पूरा ज्ञान था। संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद इन्होंने प्रायः लक्षणों तक में नहीं किया, उदाहरणों की बात तो दूर रही। वैसे भी इनका ध्यान लक्षण की अपेक्षा लक्ष्य पर ही अधिक था उसी के अनुसार ये अपनी सफलता आँकते थे—यह एक दूसरा कारण है जो इन ग्रन्थों के निरूपण की स्वच्छता के लिए उत्तरदायी है।"

तीसरे ढंग के वे लेखक रीति-परम्परा के अन्तर्गत आते हैं जिन्होंने काव्य के सभी अंगों पर काव्य-प्रकाश को आधार बना कर प्रभाव डाला है। चिन्तामणि के दो ग्रन्थ 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्य-विवेक', कुलपति मिश्र का 'रस-रहस्य', देव का 'रसायन', सुरति का 'काव्य-सिद्धान्त', श्रीपति का 'काव्य-सरोज', दास का 'काव्य-निर्णय', सोमनाथ का 'रस-पियूष', निधि करनका 'साहित्य रत्न', और प्रताप साहि का 'काव्य-विलास' इस शैली के ग्रन्थ हैं। काव्य प्रकाश का अनुवाद भी वाद में सेवक कवि ने किया। उसके पूर्व धनी राम द्वारा अनुवाद किया गया था। डा० नगेन्द्र ने एक स्थान पर लिखा है कि "वास्तव में आचार्यत्व के अधिकारी सेनापति, चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, देव, श्रीपति, दास आदि ही हैं।" इन्होंने गम्भीरतापूर्वक काव्य के विभिन्न अंगों, लक्षण, प्रयोजनों, रस, ध्वनि, अलंकार, नायिका, पिंगल, रीति गुण-दोष आदि पर विस्तार से विचार किया, शब्द-शक्ति तथा काव्य के गुण-दोषों का विवेचन इनका प्रमुख ध्येय था। इन्होंने लक्षण के ऊपर विशेष ध्यान दिया है। गद्य का सहारा न लेने से भाव अत्यंत स्पष्ट करने में वे सहायक न हुए; भेद, विभेद, उपभेद इतने किये गये कि अथाह सागर सा देखने में लगता है किन्तु वास्तव में संस्कृत के आगे यह न वढ़ सका। अपने विषय को ईमानदारी से प्रस्तुत करने का इन्होंने प्रयास किया और कुलपति, दास और रसिक गोविन्द ने तो गद्य का सहारा लिया। इनमें अनेक तो हिन्दी के बड़े मर्मज्ञ थे। इन्होंने अपने उद्देश्य में काफी सफलता प्राप्त की। इन्हें आचार्य मानना अधिक उचित नहीं इन्होंने वास्तव में अपनी क्षमेता भर निर्वाह मात्र किया। इस प्रकार तीन शैलीके विभिन्न कवियों ने इस युग की काव्य धारा को प्रवाहित करने का व्यापक प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त और रचनाएँ भी हुईं जिनमें अनेक का समाहाँर तो शृंगार के अन्तर्गत ही किया जा सकता है। भक्ति की रचनाएं, उदात्त प्रेमी कवियों की स्वच्छंद रचनाएं तथा इस युग में नीतिसंबंधी रचनाएं भी की गयीं। वीरों की गुणगाथा भी गायी गयी। इन रचनाकारों का मुख्य वर्णन विषय नायिका भेद, नखसिख, अलंकार ही रहा। इनकी रचनाओं में संस्कृत के अनेक काव्य सम्प्रदायों का भी प्रभाव दिखायी पड़ता है। व्यापक रूप से शृंगार के भीतर ही सब समेटा जा सकता है।

———

केशवदास
रीति—श्रृंगार के प्रवाहक

ओरछे के महाराज **रामसिंह** के छोटे भाई **श्री इन्द्रजीत** के आश्रय में पले कवि **केशवदास** एक संस्कृतनिष्ठ ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। घर की परम्परा के कारण इन्हें संस्कृत साहित्य का विस्तृत और व्यापक अध्ययन करना पड़ा। इनके घर के लोग कई पीढ़ी से राज पंडित होते चले आये थे। अतएव तत्कालीन राजनितिक और दरबारी ज्ञान भी विरासत के रूप में इन्हें प्राप्त हुआ था। संयोग से इनके आश्रयदाता पंडितों, विद्वानों, तथा कवियों के अनन्य भक्त थे। ओरछा के दरबार में इनका अत्यन्त मान और सम्मान था। तत्कालीन शासक इन्हें मित्र, मंत्री और एक महान् कवि के रूप में मानते थे। इस संबंध में केशवदास रचित निम्नलिखित रचना विशेष प्रकाश डालती है।

गुरू करि मान्यो इंद्रजित, तन मन कृपा विचारि।
ग्राम दए इकबीस तब, ताके पांय पखारि॥
इंद्रजीत के हेत पुनि, राजा राम सुजान।
मान्यो मंत्री, मित्र के, केशवदास प्रमान॥

यद्यपि केशवदास उस समय उत्पन्न हुए थे जिस समय भक्ति की लहर समस्त भारत में व्याप्त हो चुकी थी तो भी रीति-काल के प्रवाह के प्रवर्तक के रूप में केशवदास को ही प्रत्यक्ष उपस्थित किया जा सकता है। इनके पहले अनेक कवि हिन्दी में ऐसे हो चुके हैं, जिन्होंने रस, अलंकार आदि के ऊपर रचनाएँ कीं हैं। पुष्य के सम्बन्ध में ही ऐसा कहा जाता है, जिसे शिवसिंह सेंगर ने सातवीं शताब्दी का माना है। उन्होंने अलंकार-ग्रंथ रचा था जो अप्राप्य है। मोहन का "सिंगार सागर" कृपाराम की "हित तरंगिनी", रहीम का "बरव नायिका भेद", करणेस का "करणाभरण", "श्रुतिभूषण" और "भूपभूषण" बलभद्र का "नख-सिख" और "दूषण विचार" इनके पूर्व ही लिखे जा चुके थे, फिर भी ये प्रयत्न अत्यन्त छिछले थे। वास्तव में केशव के बाद ही साहित्य में इसका व्यापक श्रोत प्रवहमान हुआ और रीति-काव्य के प्रवाहक के रूप में प्रायः हिन्दी के सभी विद्वान इन्हें एक मत से स्वीकार करते हैं। संस्कृत के विद्वान, साहित्य-शास्त्र के ज्ञाता तथा राजनीतिचेता और राजगुरु होने के कारण सहज ही नेतृत्व का गुण उनके भीतर प्रतिष्ठित हो गया था। यद्यपि उनके विचारों से तथा मत से रीति-काव्य की धारा आकण्ठ आप्लावित नहीं हुई तो भी उसके प्रवर्त्तन में रंच मात्र संदेह भी नहीं। डा० बड़थवाल उन्हें व्यावहारिक आचार्य मानते हैं;

"वे केवल लेखनी के ही मुंह से बोलनेवाले आचार्य नहीं थे, व्यावहारिक आचार्य भी थे। अपनी शिष्या प्रवीणराय के प्रतिनिधित्व से उन्होंने कवि-समुदाय को कविता के बाह्यरूप की बनावट सिखाने का काम अपने हाथ में लिया था, और उस काम को करने के लिये वे सर्वथा योग्य भी थे।"

इनके साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य लाला भगवान दीन के अनुसार इनकी प्रामाणिक रचनाएँ सात हैं—रामचन्द्रिका, कवि-प्रिया, रसिक-प्रिया, विज्ञान गीता, बावनी बैठक में रतन, बीरदेवसिंह चरित्र और जहांगीर-जस-चन्द्रिका। इस भांति इन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ कीं, लक्षण ग्रन्थ और लक्ष्य ग्रन्थ भी लिखे। इनकी रचनाओं में शृङ्गार तो प्रधान है ही किन्तु अन्य रस भी मिलते हैं।

रामचन्द्रिका

रामचन्द्रिका एक प्रबन्ध काव्य है जिसमें राम का चरित्र चित्रित किया गया है। ऐसा कहा जाता है कि यह ग्रंथ एक रात में ही तैयार किया गया था। न तो इसमें कथा का प्रवाह है और न तो इसमें वर्ण्य विषयों के प्रति तादात्म्य भाव की स्थापना। थोथे पंडितों की भांति इन्होंने चमत्कारपूर्ण उक्तियों तथा विधानों से इसे पाटने का प्रयत्न किया और उसी ओर विशेष ध्यान दिया। जबरदस्ती अलंकारों का विधान, नाना प्रकार के छन्दों का प्रयोग तथा स्थान-स्थान पर वर्णनों के चमत्कार में फंस जाने के कारण कवि सुन्दर साहित्य की सृष्टि म सफल नहीं हो सका, क्योंकि इसमें काव्य के प्राण-भाव-पक्ष-से कवि विरत दिखाई पड़ता है। भाव-व्यंजना और चरित्र-चित्रण की दष्टि से यह रचना सामान्य कोटि की है फिर भी संवाद इसके इतने जानदार हुए हैं कि अपने आप ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो जाता जाता है। यह गुण इनके भीतर इसलिये आया जान पड़ता है कि राजदरबार में होन वाली कलात्मक तथा भाव-प्रवण वार्ता-विधि से ये पूर्ण परिचित थे तथा संस्कृत के विद्वान होने के कारण यह ज्ञान नाटकों द्वारा इन्हें प्राप्त हुआ होगा। अतएव इस संबंध में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का यह मत अत्यंत समीचीन लगता है—""प्रबन्ध काव्य के विचार से राम-चन्द्रिका समर्थ रचना नहीं दिखाई देती। कथाक्रम यथावश्यक न होने से वह मुक्तक उक्तियों का संग्रह-ग्रंथ जान पड़ती है।" संवाद के संबंध में स्वर्गीय डा० श्यामसुन्दर दास की यह उक्ति सर्वथा सत्य है—"इसके संवादों में मर्यादा का पूरा पालन किया गया है। इनके समान संवाद कोई प्राचीन हिन्दी कवि नहीं लिख सका है।"

कविप्रिया

कवि-प्रिया अलंकार-ग्रन्थ है। डा० बड्थवाल कोट काँगड़ा के केशवमित्र द्वारा रचित "अलंकार शेखर" के आधार पर तथा पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इसे "काव्यकल्प लता वृत्त" तथा "काव्यादर्श" आदि के अनुगमन पर कवि-शिक्षा संबंधी रचना मानते हैं। बहुत पूर्व ही संस्कृत में इस प्रकार की अनेक सुन्दर रचनाओं का निर्माण हो चुका

था। इन्होंने अलंकार को ही समस्त काव्य सामग्री के रूप में ग्रहण किया है तथा अन्तरंग वर्णन प्रणाली और अन्तरंग वर्णन वस्तु को सामान्य और विशेष अलंकार के रूप में दो भेद मान कर ग्रहण किया है।

केशवदास ने उन विषयों को जिनपर कविता करनी चाहिए तीन भागों में बाँटा है। वर्ण्यालंकार, वर्णालंकार और विशेषालंकार। भिन्न-भिन्न रंगों को तो उन्होंने वर्ण्यालंकार और वर्णन विषय को वर्णालंकार में रखा है। साथ ही विशेषालंकार को शास्त्रीय और साहित्यिक अलंकार के रूप में। जिस आधार पर केशव ने व्यापक रूपमें अलंकार शब्द का प्रयोग किया है, उसी प्रकार इन्होने विषय सामग्री—दंडी, रूइयक आदि संस्कृत के विद्वानों से ली है तथा उनके सूक्ष्म भेद-विवेध भी किये हैं।

इस ग्रंथ में केशवदास पारखी अध्यापक के रूप में ही प्रकट हुए हैं यद्यपि न तो परिभाषा स्पष्ट कर पाये हैं, न लक्षण और उदाहरण ही।

रसिकप्रिया

इस ग्रंथ में रस, नायिका भेद, हाव-भाव आदि का वर्णन काव्य-परम्परानुसार किया गया है। नायिकाओं का जाति-निर्णय भी इसके अन्तर्गत है। इस ग्रंथ में कृष्ण का चरित्र एक रसिया के रूप म रखकर भक्तों के कृष्ण से विलग कृष्ण की प्रतिष्ठा की गयी है। शृंगार का विस्तार के साथ तथा अन्य रसों का सामान्य रूप से इसमें वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ की भाषा रामचन्द्रिका से अधिक सरल है। यद्यपि इस ग्रंथ का महत्व केवल ऐतिहासिक है तो भी केशव की रचनाओं में इसका विशेष स्थान है।

'विज्ञान-गीता' में कवि के दार्शनिक विचार संग्रहीत हैं जो गीता की भांति सहज, स्निग्ध और मार्मिक तो नहीं हैं फिर भी उससे प्रभावित अवश्य हैं।

सुरति मिश्र तथा सरदार और नारायण कवि ने कवि प्रिया और रसिक-प्रिया की टीकाएँ भी लिखो हैं। आधुनिक युग में यह कार्य विद्वत्तापूर्ण ढंगसे लाला भगवानदीन और उनके शिष्यों ने किया।

जहांगीर-जस-चन्द्रिका और वीरसिंह देव चरित्र, जहांगीर और वीरसिंह की प्रशस्ति में लिखी गये हैं। डा० बड़थ्वाल ने इनकी एक और रचना रामालंकृत मंजरी का उल्लेख किया है। उस संबंध म डा० बड़थ्वाल का मत यहाँ दिया जा रहा है—

"रामालंकृत मंजरी केशव का बनाया हुआ एक पिंगल ग्रंथ है, यह हम कह चुके हैं। रामचन्द्रिका की कुछ हस्त-लिखित प्रतियों में कुछ छंदों के नीचे यथा 'रामालंकृत-मंजरी' लिखकर उन छंदों के लक्षण लिखे हैं। संभव है रामचन्द्रिका, रामालंकृत मंजरी का परिवर्तित या परिवर्धित रूप हो या ये छंद रामालंकृत मंजरी में दिये गये हों। रामचन्द्रिका के बहुत से छंद कविप्रिया में भी उदाहरण-स्वरूप दिये गये हैं। रामालंकृत मंजरी का समय तो ज्ञात नहीं पर यदि कविप्रिया और रामचन्द्रिका का समय ज्ञात न होता तो हमारी यही कहने की प्रवृत्ति होती कि यह ग्रंथ भिन्न-भिन्न लक्षण ग्रंथों से संकलित कर संग्रीहीत किया गया है।"

केशवदास शान-शौकत वाले आदमी थे। राजा की तरह रहते थे। ऊपरी चकाचौंध में जीवन का सब कुछ देखते थे। अतएव उनका काव्य केवल ऊपरी दिखावट में ही रह गया। वह चकाचौंध पैदा कर सकते हैं, किंतु जीवन की तह में प्रवेश कर ऐसे काव्य की रचना नहीं कर सकते जिसके द्वारा जन-जीवन में चेतना जाग्रत होती है। वे दिखावटी थे। और उनकी कविता प्राय: मर्मस्पर्श करने वाली न बन सकी। प्रकृति-निरीक्षण उन्होंने नहीं किया। मनुष्य जीवन का निरीक्षण भी उनका सीमित है लेकिन कहीं कहीं जलन, झुंझलाहट और इर्ष्या कीभावना का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण उन्होंने किया है। वास्तव में शृंगार की ओर विशेष रूप से आकृष्ट थे पर मनोवृत्तियों की तह में न जाने के कारण उनका साहित्य ऊँचे दर्जे का न बन सका। जहाँ उन्होंने राज-नीति की बात कही है वहाँ ये अवश्य सफल हुए हैं। उदाहरण के लिए अंगद-रावण-संवाद लिया जा सकता है। विरह और शोक के वर्णन में भी उन्हें सफलता नहीं मिली। उनके ऐसे वर्णन पाठक से रागात्मक संबंध स्थापित करने में असमर्थ हो जाते हैं। जहाँ इन्होंने अलंकार से अपना ध्यान हटा दिया तथा स्पष्ट रूप से भावों की ओर आये हैं वहाँ पर निश्चय ही इन्हें सफलता मिली है। कुछ माने में इनकी रचनाएँ अत्यंत क्लिष्ट हैं अतएव इन्हें कुछ लोगों ने कठिन काव्य का प्रेत भी कहा है। इनकी भाषा भी अत्यंत संस्कृतनिष्ठ है। इन्होंने संस्कृत से भी काफी सामग्री ली है। इनकी भाषा बुंदेलखंडी मिश्रित ब्रज है। इन्होंने बुन्देलखंडी मुहावरों का भी प्रयोग किया है। पांडित्य दिखाने के लिए इन्होंने भाषा में अनेक अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया।

जीवन के अन्तिम दिनों में ऐसा आभास लगता है इनके भीतर विलासिता की भावना बढ़ गयी थी। इस संबंध में इनकी यह उक्ति अत्यंत प्रचलित है।

"केशव केसन अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चंद्रबदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥"

ऐसा ज्ञात होता है कि कवि के रूप में इन्हें काफी ख्याति बहुत पूर्व ही प्राप्त हो चुकी थी और इनके सम्बन्ध में यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है।

"सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास।"

जो कुछ भी हो इसमें रंच मात्र भी सन्देह नहीं कि अपने युग के महान कवियों में इनकी गणना होती है। इनकी रचनाओं से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

जौं हौं कहौं रहिए तौ प्रभुता प्रगट होति,
चलन कहौं तौ हितहानि नाहिं सहनो।
'भावै सो करहु' तौ उदासभाव प्राननाथ,
साथ लै चलहु कैसे लोकलाज बहनो।

केशवदास की सौं तुम सुनहु, छबील लाल,
चलेही बनत जौ पै, नाहीं आज रहनो ।
जैसियै सिखाओ सीख तुमहीं सुजान प्रिय,
तुमहि चलत मोंहि जैसो कछु कहनो ।

:o: :o: :o:

कुंतल ललित नील, भुकुटी, धनुष, नैन,
कुमुद कटाच्छ बान सबन सदाई हैं ।
सुग्रीव सहित तारा अंगदादि भूषनन,
मध्यदेश केशरी सु जग गति भाई हैं ।
विग्रहानुकूल सब लच्छ-लच्छ ऋच्छ बल,
ऋच्छराज-मुखी मुख केसौदास गाई है ।
रामचंद्र जू को चमू, राजश्री विभीषन की,
रावन की मीचु कर कूच चलि आई है ।

शृंगार के कवि

मतिराम

रीति काल के रससिद्ध कवियों में मतिराम का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। सहज-स्निग्ध-शृंगारपूर्ण भावों को सरल ढंग से उपस्थित करने में इन्होंने अत्यन्त सफलता प्राप्त की। ये चिंतामणि और भूषण के भाई बतलाये जाते हैं। लोग इनका जन्म सं० १६७४ के लगभग मानते हैं। इनके ग्रंथों के नाम हैं 'ललित ललाम', 'छंदसार', 'साहित्य सार' और 'लछमण शृंगार'। बिहारी सतसई के ढंग का "मतिराम सतसई" नामक ग्रन्थ भी सभा के खोज-विभाग द्वारा प्राप्त किया गया है। इनकी ख्याति 'रसराज' और 'ललितललाम' को लेकर है। 'मतिराम सतसई' के दोहे शृंगारके दोहों के उत्कृष्ट नमूने हैं। इसमें शृंगारपूर्ग सहज स्वाभाविक तथा भावपूर्ण दोहे हैं। यद्यपि बिहारी की भांति सुन्दर अलंकार-योजना उनमें नहीं है तो भी नैसर्गिक भाव छटा के कारण ये अत्यंत रसमय वन पड़ हैं। उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि रीति काव्य के अन्य कवियों की तरह वे आडम्बरी नहीं थे। सहज नैसर्गिक भावों के प्रेमी थे। उन्होंने अत्यंत रसपूण सच्चा कवि हृदय पाया था। इनका व्यक्तित्व भुलभुलैया की भांति अटपटा न होकर अत्यंत सीधा था। प्रसाद गुवत से युत सहज भाषा इनके जैसी अन्य कवियों में नहीं मिलती। इनके कवित्त, सवैया में जीवन के मर्मस्पर्शी चित्रों की प्रतिष्ठा मात्र ही नहीं, उनमें ध्वनि सौंदर्य भी है। इन्हीं गुणों पर मुग्ध होकर 'मिश्र-बन्धु' इन्हें हिन्दी के नवरत्नों में मानते हैं। आचार्य शुक्ल इनके 'रसराज' और 'ललितललाम' को अनुपम वताते हैं। ये भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से रीतिकाल के शीर्षस्थ कवियों में अपना स्थान रखते हैं। 'रसराज' इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। महाराज बूंदी तथा महाराज सोलंकी के आश्रय में ये रहे। इनकी कविताओं से कुछ उत्तम उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

कुंदन को रंग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
आंखिन में अलसानि, चितौन में मंजु विलासन की सरसाई॥
को विन मोल बिकात नहीं मतिराम लहे मुसकानि-मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नेननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई॥
क्यों इन आंखिन सों निहसंक ह्वै मोहन को तन पानपि पीजै?
नेकु निहारे कलंक लगै यहि गांव बसे कहु कैसे के जीजै?
होत रहै मन यों मतिराम, कहूं बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा-रस पीजै॥

चिन्तामणि

शिवसिंह सेंगर ने चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और जटाशंकर को सगा भाई माना है । सेंगर जी का आधार जनश्रुति है । जनश्रुति के इस निर्णय पर सभी विद्वान एक मत नहीं हैं । त्रिपाठी बन्धु कानपुर के तिकवापुर नामक स्थान के कान्यकुब्ज ब्राह्मण बतलाये जाते हैं और इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी बतलाया जाता है । शुक्ल जी ने इनका जन्म संवत् १६६० और रचना काल संवत् १७०० के आसपास माना है । 'शिवसिंह सरोज' में इनके संबंध में लिखा है—

"ये बहुत दिन तक नागपुर में सूर्यवंशी भोसला मकरंद शाह के यहां रहे और उन्हीं के नाम पर "छंदविचारक" नामक पिंगल का बहुत भारी ग्रंथ बनाया और 'काव्य-विवेक' 'कविकुल-कल्पतरु', 'काव्यप्रकाश', 'रामायण' ये पांच ग्रन्थ इनके बनाए हमारे पुस्तकालय में मौजूद हैं । इनकी बनायी 'रामायण' कवित्त और नाना अन्य छंदों में—बहुत अपूर्व है । बाबू रुद्रशाह सोलंकी, शाहजहां बादशाह और जैनदीं अहमद ने इनको बहुत दान दिये हैं । इन्होंने अपने ग्रन्थ में कहीं-कहीं अपना नाम मणिमाल भी कहा है ।"

अनेक ग्रन्थों के रचयिता चिंतामणि की ख्याति तथा प्रतिष्ठाका मूल कारण अनुप्रास-युक्त ललित भाषा में मनोहर वर्णन प्रणाली का संस्थापन मात्र है । इन्होंने अलंकारों के द्वारा केशव द्वारा प्रतिष्ठित कला को रस की ओर उन्मुख किया । इन्होंने उस बेढब काव्य पद्धति से हिन्दी काव्य को स्वस्थ भूमि पर लाने का अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया है । साथ ही रीति सम्प्रदाय के काव्य की स्थापना भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से की । इनकी रचना का एक उदाहरण यहां दिया जा रहा है ।

येई उधारत है तिन्हें जे परे मोह-महोदधि के जल-फेरे ।
जे इनको पल ध्यान धरैं मन, ते न परैं कबहूँ जम घेरे ।।
राजै रमा-रमनी उपधान, अभै बरदान रहैं जन नेरे ।
है बलभार उदंड भरे, हरि के भुजदंड सहायक मेरे ।।

भिखारीदास

आचार्यत्व की दृष्टि से इनकी काफी चर्चा की जाती है पर शुक्ल जी आचार्य के साथ ही कवि भी इन्हें अच्छा मानते हैं। इनकी सर्वाधिक प्रशस्ति काव्यांगों के निरूपण को लेकर है । इन्होंने काव्य के प्रायः सभी विषयों—छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण-दोष, शब्द-शक्ति—आदि का विस्तार के साथ वर्णन किया है । ये प्रतापगढ़ के श्रीवास्तव कायस्थ थे । इनके निम्न लिखित ग्रन्थ पाये जाते हैं ।

रससारांश, छंदोर्णव पिंगल, काव्यनिर्णय, श्रृंगारनिर्णय, नामप्रकाश, विष्णुपुराण भाषा, (दोहे चौपाई में), छंदप्रकाश, शतरंज-शतिका, अमर प्रकाश (संस्कृत अमरकोष भाषा-पद्य में) ।

इनके आश्रयदाता काव्य निर्णय के अनुसार प्रतापगढ़ नरेश के भाई हिन्दूपति सिंह थे। इनकी उद्भावनाओं में नवीनता है। संस्कृत के अनेक ग्रन्थ यथा साहित्य दर्पण आदि और अपने पूर्ववर्ती कवि श्रीपति से उन्होंने प्रायः सामग्री ली। यह सहज ढंग से अपनी बातों को कहने में अत्यंत सफल हुए। श्रृंगार ही इनके काव्य का विषय था और संयमपूर्वक सहज चलती भाषा में इन्होंने भाव और कला दोनों पक्षों का सुन्दर समन्वय किया है। इन्होंने नीति की उक्तियां भी लिखी हैं पर इनकी ख्याति के आधार 'काव्य-निर्णय', 'श्रृंगार-निर्णय', 'रस-सारांश' ही हैं। 'अमर प्रकाश' नामक ग्रन्थ संस्कृत के अमर ग्रन्थ 'अमर कोष' का पद्यवद्ध रूपान्तर है। शुक्ल जी ने इन्हें ऊँचे दर्जे का कवि माना है। इनकी रचना से उदाहरण यहां दिया जा रहा है।

वाही घरी तें न सान रहे, न गुमान रहै, न रहै सुघराई ।
दास न लाज को साज रहे, न रहे तनकी घरकाज की धाई ।।
ह्यां दिखसाध निवारे रहौं तब ही लौं भटू सब भांति भलाई ।
देखत कान्ह न चेत रहे, नहिं चित्त रहे, न रहे चतुराई ।।

तोषनिधि

ये प्रयाग के श्रृंगवेर पुर नामक स्थान पर उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम चतुर्भुज शुक्ल था। इनकी कृतियों के नाम हैं, 'सुधानिधि,' "विनयशतक" और 'नखसिख'। 'सुधानिधि' संवत् १७९१ की रचना है तथा इसमें रस और भाव के भेदों का निरूपण किया गया है।

कवि के रूप में इनका बहुत नाम है। इनकी भाषा सहज, इनकी कल्पना गुम्फित और भाव अत्यंत सुलझे हुए हैं। रीति काल के अच्छे कवियों में इनकी गणना की जा सकती है।

रसलीन

अमिय, हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार ।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार ।।

ऐसे सुविख्यात रसपूर्ण दोहे के रचयिता सैयद गुलाम नवी हिन्दी जगत में 'रसलीन' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह हरदोई के बिलग्राम नामक गांव के निवासी थे जहाँ पर विद्वता की परम्परा बहुत दिनों से चली आ रही थी। इनकी कृतियों के नाम हैं–'अंग-दर्पण,' 'रस प्रवोध' जिनकी रचना क्रमशः संवत १७९४ और १७९८ में की गयी। अंग-दर्पण अपने चमत्कार के कारण काव्य रसिकों में अत्यन्त प्रिय हुआ ? अंग-दर्पण में अंगों का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसमें उपमा और उत्प्रेक्षा की छटा देखते ही बनती है। रस प्रवोध ११५५ दोहों का संग्रह है तथा नायिका भेद, बारह मासा, ऋतु वर्णन और रस तथा भाव आदि विषयों के प्रतिपादन के लिये लिखा गया लघु काव्य ग्रंथ है। इनके

दोहों में उक्ति वैचित्र्य अच्छा मिलता है और भाषा में प्रवाह भी । इनके कुछ दोहे यहाँ दियं जा रहे हैं ।

धरति न चौकी नगजरी, वातें उर में लाय ।
छांह परे पर-पुरुष की, जनि तिय-धरम नसाय ।।
कुमति चंद प्रति द्यौस बढ़ि, मास मास कढ़ि आय ।
तुम मुख-मधुराई लखे फीको परि घटि जाय ।।
रमनी-मन पावत नहीं लाज प्रीति को अंत ।
दुहुँ ओर ऐंचो रहै, जिमि जुवलिन को कंत ।।

बिहारी

रीति-काल के सर्वाधिक जन-प्रिय एवं उत्कृष्ट काव्य-शिल्पीके रूप में बिहारी लाल, 'विहारी' की ख्याति समसामयिक कवियों में सबसे अधिक है ।

ये ग्वालियर के निकटस्थ वसुआ गोविन्दपुर नामक ग्राम में माथुर चौबे परिवार में उत्पन्न हुए थे । इनका शैशव बुन्देलखण्ड में, इनके यौवन के प्रारम्भिक दिन ससुराल मथुरा में बीते । तत्पश्चात् ये जयपुरके महाराज जयसिंह के दरवार के कवि हुए । जयसिंह अपने समय के अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य-प्रेमी और रसिक राजाओं में से एक थे ।

बिहारी की ओर राजा जयसिंह के ध्यान आकृष्ट होने के सम्बन्ध में एक वार्त्ता प्रचलित है, जिसके द्वारा कवि की महत्ता का दर्शन होता है । ये जयसिंह के पास उस समय पहुँचे, जब उन्होंने अपनी नयी शादी कर ली थी । जयसिंह नवीन रानी की रूप-माधुरी में इतना अधिक तल्लीन हो गए थे कि राज-काज भूल कर दिन-रात रानी के पास ही रहने लगे थे । राजा का ध्यान राज-काज की ओर आकृष्ट करने में मंत्रियों एवं सरदारों के सभी प्रयत्न विफल हो चुके थे । निराशा के उस वातावरण में सरदारों के लिये विहारी आशा के सन्देश-वाहक वन बैठे । उन्होंने अपना यह दोहा जयसिंह के पास भिजवाया ।

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल ।
अली कली ही सों बिंध्यो, आगे कौन हवाल ।।

इस दोहे ने वांछित सफलता प्राप्त की तथा राजा जयसिंह पूर्ववत् अपने राजकाज में लग गये । राजा जयसिंह के आग्रह पर बिहारी ने इसी प्रकार के ७०० दोहे बनाये । कहा जाता है कि राजा जयसिंह ने पुरस्कार के रूप में प्रति दोहा उन्हें एक अशर्फी प्रदान की । विहारी-सतसई इन्हीं का संग्रह है, जिसका हिन्दी की काव्य-कृतियों में प्रमुख स्थान है, इसमें ७२६ दोहे हैं ।

विहारी की सम्पूर्ण कीर्ति इसी एक पुस्तक पर आधृत है । इस ग्रंथ का हिन्दी में कितना अधिक सम्मान है, इस तथ्य से ही जाना जा सकता है कि इस ग्रंथ की जितनी अधिक टीकाएँ हुईं, उतनी हिन्दी के और किसी ग्रंथ की नहीं । इन टीकाओं में लाला

भगवानदीन तथा 'रत्नाकर' जी की टीका प्रौढ़ मानी जाती है । बिहारी सतसई मुक्तक काव्य है । बिहारी द्वारा क्रम-बद्ध रूप में दोहे नहीं प्रस्तुत किये गए । सामान्यतः मुक्तक के लिये क्रम की अपेक्षा, कवि के काव्य विकास के अध्ययन के लिये आवश्यक होती है । बिहारी के प्रायः सभी ोहे प्रौढ़ हैं, इसलिये उनके द्वारा प्रस्तुत क्रम-विकास का अभाव खलता नहीं । कहा जाता है सर्वप्रथम औरंगजेब के पुत्र आजमशाह ने इन्हें क्रमबद्ध करवाया । यद्यपि यह बात भी कही जाती है कि जयसिंह के पुत्र रामसिंह के विद्याध्ययन के लिए बिहारी ने अपने ५०० दोहों का संग्रह स्वयं किया था ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में बिहारी के दोहों की सफलता उनकी कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति के कारण है । इनके दोहे रस से परिपूर्ण तो हैं ही कला की सुन्दर सूक्ष्म रेखाओं से भी सज्जित हैं । कला और भाव-पक्ष का इतना सुन्दर संतुलित योग इस युग के अन्य कवियों में नहीं दिखायी पड़ता ।

मूलतः बिहारी शृंगार के कवि हैं और उन्होंने अपने अधिकांश दोहों में शृंगार के संयोग पक्ष का वर्णन किया है । उनके सभी शृंगारिक दोहों के विषय नायिका-भेद, नख-शिख वर्णन, और षट-ऋतु हैं जो इस काल की भाव परम्परा के अन्तर्गत आते हैं । इनके अतिरिक्त बिहारी ने अनेक सूक्तियाँ तथा नीति के दोहे भी लिखे हैं ।

अनुभावों एवं हावों की सुन्दर कलात्मक योजनाओं के साथ उक्तिकौशल की विशिष्टता एवं कल्पना का सुकुमार माधुर्य इनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलता है । कवि की वस्तु व्यंजना भी कुछ स्थानों को छोड़कर सर्वत्र औचित्य की मर्यादा रक्षा में सफल रही है ।

मानवीय सौन्दर्य के साथ ही साथ प्राकृतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी उन्होंने अपनी रचनाओं में की है । सहज, सरल, सौन्दर्य के साथ ही साथ उनकी दृष्टि अलंकृत सौन्दर्य पर भी थी, पर उन्होंने सहज, सरल सौन्दर्य की अत्यन्त मार्मिक अभिव्यक्ति की है । इस कार्य में उक्ति वैचित्र्य द्वारा उन्होंने पर्याप्त सहायता ली है ।

रीतिकाल के अधिकारी विद्वान पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की दृष्टि में बिहारी में ध्यान देने योग्य तीन बात दिखायी देती हैं । चेष्टाओं और उक्तियों का विधान, व्यवस्थित भाषा, विदेशी प्रभाव को भारतीय पद्धति के भीतर ग्रहण करने की क्षमता ।

बिहारी की भाषा सहज कोमल सजी एवं मजी हुई है । शब्दों का जितना सुन्दर नपा-तुला रूप बिहारी की रचनाओं में मिलता है उतना ब्रज-भाषा के किसी अन्य कवि में नहीं । उन्होंने अपनी रचनाओं में इस सुन्दर बारीकी के साथ शब्द जड़े हैं कि दूसरे उसके पर्यायी शब्द उस शब्द का स्थान वहाँ ग्रहण नहीं कर सकते । यह उनके शब्द-ज्ञान की क्षमता का परिचायक है ।

देव

रीतिकाल के महान कवि-आचार्यों में देव की भी गणना की जाती है। कुछ समय तक तो हिन्दी के प्रारम्भिक आलोचकों में इस बात की होड़ लग गई थी कि देव बड़े हैं या बिहारी? दोनों मान्यताओं के समर्थक किसी न किसी रूप में आज भी हिन्दी में विराजमान हैं, किन्तु इतना निश्चय है कि अनेक कारणों से रीतिकाल के किसी एक कवि को सर्वश्रेष्ठ होने का फतवा नहीं दिया जा सकता। इसमें रंचक मात्र भी संदेह नहीं कि देव एक महान् कवि थे और निरंतर उनकी प्रतिभा काव्य के क्षेत्र में चमकती गई।

ये इटावे के धनाढय ब्राह्मण थे और संवत् १७३० में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में ही 'भाव-विलास' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया। यद्यपि यह ग्रंथ केशव की रसिक-प्रिया के आधार पर ही निर्मित हुआ जान पड़ता है तो भी यह उनकी काव्य-प्रतिभा का परिचायक है। इन्हें अन्य कवियों की भाँति कोई महान् आश्रयदाता नहीं प्राप्त था, यह इनके लिए कवि के रूप में वरदान ही समझना चाहिए। जगह-जगह ये घूमते फिरे, जिसका प्रभाव इनके जाति-विलास नामक ग्रंथ में भी दिखलाई पड़ता है। कहा जाता है कि इन्होंने बहत्तर ग्रंथों की रचना की किन्तु इनके पच्चीस ही ग्रंथ उपलब्ध हैं, जो इनकी महत्ता के लिए कम नहीं। इनके ग्रंथों के नाम हैं—**१–भाव-विलास, २–अष्टयाम, ३–भवानी-विलास, ४–सुजान-विनोद, ५–प्रेम-तरंग, ६–राग-रत्नाकर, ७–कुशल-विलास, ८–देव-चरित्र, ९–प्रेम-चंद्रिका, १०–जाति-विलास, ११–रस-विलास, १२–काव्य-रसायन या शब्द-रसायन, १३–सुख-सागर-तरंग, १४–वृक्ष-विलास १५–पावस-विलास, १६–ब्रह्म-दर्शन पचीसी, १७–तत्व-दर्शन पचीसी, १८–आत्म-दर्शन पचीसी, १९–जगद्दर्शन पचीसी, २०–रसानंद लहरी, २१–प्रेम-दीपिका, २२–सुहृद् विनोद, २३–राधिका-विलास, २४–नीति-शतक और २५–नख-शिख प्रमदर्शन।**

'अष्टयाम' और 'भावविलास' इन्होंने औरंगजेब के बड़े लड़के आजमशाह को सुनाया था। 'भवानी-विलास' और 'कुशल-विलास' की रचना भवानीदत्त और कुशल सिंह के लिए तथा प्रेम-चंद्रिका' और 'रस-विलास' क्रमशः उद्योत सिंह और राजा भोगी लाल के लिए रचीं गयी हैं। 'सुख-सागर तरंग' की रचना संवत् १८२४ में देव ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों से संग्रह कर पिहानीवाले खान अली अकबर खां के लिए की। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संवत् १८२५ तक ये वर्तमान थे। इनकी रचनाएँ दो प्रकार की हैं, कवि के रूप में और आचार्य के रूप में। कवि के रूप में भी इनकी दो प्रकार की रचनाएँ हैं। एक तो आसक्ति की, दूसरी 'ब्रह्म-दर्शन पचीसी' और 'तत्त्व-दर्शन पचीसी' विरक्ति की।

विरक्तिवाले पदों में लोक और जीवन से उदास होने की प्रतिक्रिया का दर्शन होता है और शेष ग्रंथों में रीति परंपरा में वर्णित विषयों का। इन्होंने अपने काव्य का विषय शृंगार ही रखा, किन्तु नायिका भेद में इन्होंने सभी कवियों के कान काट लिये। षटऋतु,

नख-शिख और भाव भेद में भी इन्हें सफलता मिली है। इन्होंने 'रस-विलास' में स्वयं लिखा है--

आठ भेद नायिका के, बरनत हैं कवि संत ।
भेद-भेद प्रति होत है, अंतर भेद अनंत ।।
जाति, कर्म, गुन, देस अरु काल, वयक्रम जान ।
प्रकृति, सत्व नाइका के, आठों भेद बखान ।।

नायिकाओं के भेद और विभेदों तथा उपभेदों में इन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी है, जिसमें इन्हें सफलता भी मिली है। इनकी कविता में कवित्व शक्ति और मौलिक कल्पनाएँ प्रचुर परिमाण में पायी जाती हैं। जहाँ अनुप्रास और तुकों के चक्कर में ये नहीं पड़े हैं, शब्दो को तोड़ा मरोड़ा नहीं है, वाक्यों को उल्टा-सीधा नहीं रखा है, वहाँ इन्हें विशेष सफलता मिली है। जब इनकी रचनाओं के अर्थ पर ध्यान दिया जाता है तब अनुपम सौष्ठव अपने आप झलक पड़ता है। कवि देव के सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत है--

"इनका सा अर्थ-सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। रीति-काल के कवियों में ये बड़े ही प्रगलभ और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, इसमें संदेह नहीं। इस काल के बड़े कवियों में इनका विशेष गौरव का स्थान है।"

डा० श्यामसुन्दर दास की राय में **"पांडित्य की दृष्टि से रीति काल के समस्त कवियों में देव का स्थान आचार्य केशवदास से कुछ नीचे माना जा सकता है, कलाकार की दृष्टि से वे बिहारी से निम्न ठहरते हैं, परन्तु अनुभव और सूक्ष्मदर्शिता में उच्च कोटि की काव्य-प्रतिभा का मिश्रण करने और सुन्दर कल्पनाओं की अनोखी शक्ति लेकर विकसित होने के कारण हिन्दी काव्यक्षेत्र में सहृदय और प्रेमी कवि देव को रीतिकाल का प्रमुख कवि स्वीकार करना पड़ता है।"**

देव की कुछ रचनाओं का यहाँ उदाहरण दिया जा रहा है--

'देव जु पै चित चाहिये नाह, तौ नेह निबाहिये, देह मरचो परै ।
ज्यों समुझाइ सुझाइए राह, अमारग ज्यों पग धोखें धरचो परै ।
नीके में फीके ह्वै आंसू भरौ, कत ऊंची उसास, गरौ क्यौं भरचौ परै ।
रावरे रूप भरचौ अंखिआन, भरचौ सु भरचौ, उमड़चौ सु ढरचौ परै ।

डार द्रुम पलना, बिछौना नवपल्लव के,
सुमन झंगूला सोहै तन छवि भारी दै ।
पवन झुलावै, केकी कीर बहरावैं 'देव',
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै ।

पूरित पराग सों उतारो करै राई लोन,
कंजकली-नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक वसंत ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाव चटकारी दै।

लोग यह हठ करते हुए पाये जाते हैं कि देव अपने युग के सर्वश्रेष्ठ आचार्य थे। सत्य तो यह है कि जितने भी व्यक्तियों के साथ आचार्यत्व का यह विशेषण जोड़ा जाता है प्रायः सभी ने संस्कृत से सामग्री ली और अपना चमत्कार दिखाने के लिए कुछ इधर का ईंट, उधर का रोड़ा जोड़ दिया, क्योंकि तब तक संस्कृत में रचित रीति-सम्बन्धी अनेक ग्रंथ विद्वत्-समाज में अत्यन्त प्रसारित एवं प्रतिष्ठित हो गये थे। देव भी संस्कृत से ही सामग्री एकत्र करनेवाले विद्वानों में से थे। उन्हें आचार्य मानना कोई उनका बहुत बड़ा सम्मान करना न होगा, न यह समुचित ही होगा।

सेनापति

दीक्षित परशुराम दादा हैं विदित नाम,
जिन कीन्हें जज्ञ, जाकी विपुल बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाके,
गंगातीर बसति 'अनूप' जिन पाई है।
महा जानमनि, विद्यादान हूं मैं चिंतामनि,
हीरामनि दीक्षित तें पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई, सीतापति के प्रसाद जाकी,
सब कवि कान दै सुनत कविताई है।

सेनापति ने स्वयं कहा है कि '**सब कवि कान दे सुनत कविताई है**' यह उक्ति कवि की कितनी उचित है। जीवन के प्रारम्भिक दिनों में इन्हें राजाश्रय प्राप्त था किन्तु अन्तिम दिनों में जीवन की विडम्बना से पराभूत हो इन्होंने सन्यास धारण कर लिया था। इनका जन्मकाल सं० १६४६ के लगभग माना जाता है। अन्तिम दिनों में यह वृन्दावन में थे, पर थे राम के उपासक। कवित्त-रत्नाकर जिसके कारण काव्य-मर्मज्ञों के भीतर इनका अत्यंत सम्मान है संवत् १७०६ में पूरा हुआ था। उस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है—

संवत् सतरह सै छ में सेइ सियापति पाइ, सेनापति कविता सज सज्जन सजौ सहाय।

इनकी कविताओं में कहीं-कहीं तो अत्यंत भावुकता दिखलायी पड़ती है। कहीं-कहीं चमत्कार की भी चमक दिखाई पड़ती है। कहीं श्लेष, कहीं शब्द-ध्वनि साम्य की छटा दिखाई पड़ती है। किन्तु सभी मनमोहक सुन्दर रससिक्त और प्रांजल हैं। कहीं कविता बोझिल नहीं होने पायी है। अनुप्रास और यमक भी सहज सौंदर्य बढ़ाते ही हैं। सहज-सरस ब्रजभाषा का माधुर्य, अलंकारों का सुन्दर विधान, इनकी भाषा-शक्ति का परिचायक

है। भक्ति-सम्बन्धी इनकी रचनाएँ भी सुन्दर हैं; चमत्कार से भरी हुई हैं। इन्होंने षट्ऋतुओं के वर्णन में बड़ी सफलता पायी है। ऋतुओं को उद्दीपन और आलंबन दोनों रूप में इन्होंने ग्रहीत किया है। इनका एक और ग्रंथ काव्य-कल्पद्रुम भी विख्यात है। प्रकृति का इतना सुन्दर वर्णन रीतिकाल के किसी कवि ने नहीं किया, कुछ रचनाएँ उनमें से दी जा रही हैं।

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारिहू पदसान घुमरत भरे तोय कैं।
सोभा सरसाने न बखाने जात कैंहूं भांति,
आने है पहार मानों काजर के ढोय कैं।
घन सों गगन छप्यो, तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानों रवि गयो खोय कैं।
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम मानि,
मेरे जान याही तें रहत हरि सोय के।

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौं,
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम-पतियां।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी औ,
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियां।
आई सुधि बर की, हिये में आनि खरकी,
सुमिरि प्रानप्यारी वह प्रीतम की बतियां।
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियां।

दूलह

रीति-काल के जाने-माने कवियों में लगभग १०० पदों की रचना करके ही इन्होंन अपना स्थान वना लिया। एक कवि ने तो यहाँ तक कह डाला 'और बराती सकल कवि दूलह दूलह राय'। ये स्वयं भी अपनी रचना के संबंध में अत्यन्त गर्व के साथ कहते हैं।

जो या कंठाभरण को, कंठ करै चित लाय।
सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥

इनका एक ही ग्रन्थ यही 'कवि कुल-कंठाभरण' प्राप्त है, तथा फुटकर १५-२० पद्य प्राप्त हुए हैं। यह बहुत बड़ी प्रतिभा, अत्यन्त मधुर कल्पना, सुन्दर एवं मार्मिक भाव तथा प्रगाढ़ प्रौढ़ता लेकर हिंदी-जगत के सम्मुख आये। इनके काव्य में लोगों के हृदय को मुग्ध करने की क्षमता है। भाषा में सहज प्रवाह है। इन्होंने एक ही पद्य में उदाहरण और लक्षण दोनों का समावेश किया है और उसका निर्वाह भी अच्छी तरह किया है।

काव्य का विषय तो वही परिपाटी से प्राप्त शृंगार ही है, और यह इन्हें विरासत रूप में अपने पिता और पितामह उदयनाथ और कालीदास से प्राप्त हुआ। इनकी कृत्तियों से कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं।

सारी की सरौट सब सारी में मिलाय दीन्हीं,
भूषन की जेब जैसे जेब जहियतु है।
कहै कवि दूलह छिपाए रदछद मुख,
नेह देखे सौतिन की देह दहियतु है।
बाला चित्रसाला तें निकसि गुरुजन आगे,
कीन्हीं चतुराई सौं लखाई लहियतु है।
सारिका पुकारै "हम नाहीं, सम नाहीं"
"एजू ! राम राम कहौ", 'नाहीं नाहीं' कहियतु है।
माने सनमाने तेइ मानै सनमाने सन,
माने सनमाने सनमान पाइयतु है।
कहैं कवि दूलह अजाने अपमाने,
अपमान सों सदन तिनही को छाइयतु है।
जानत हैं जेऊ तेऊ जात हैं बिराने द्वार,
जानि बूझि भूले तिनको सुनाइयतु है।
कामवस परे कोऊ गहत गरूर तौ वा,
अपनी जरूर जाजरूर जाइयतु है॥

रघुनाथ

काशी-नरेश के दरबारी कवियों में इन्होंने सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की। ये महाराज बरिबण्ड सिंह के दरबार में रहते थे। इनके पुत्र और पौत्र गोकुलनाथ और गोपीनाथ भी अच्छे कवि थे। आचार्य शुक्ल जी ने इनके काव्य का समय संवत् १७९० से १८१० तक माना है। शिवसिंह सेंगर के अनुसार इनके पाँच ग्रन्थ हैं। काव्य कलाधर, रसिक मोहन, जगत मोहन, और इश्क महोत्सव। रसिक मोहन का विषय अलंकार है। शृंगार ही नहीं अन्य रसों के भी उसमें अच्छे उदाहरण हैं और इनके उदाहरणों को सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जिस अलंकार का इन्होंने उदाहरण दिया है, प्रायः उस उदाहरण में आये सभी चरण उस अलंकार के उदाहरण हैं। स्पष्ट उदाहरण सुन्दर ढंग से रखने में यह अत्यन्त पटु थे। काव्य-कलाधर नायिका भेद का ग्रन्थ है और जगत-मोहन में भगवान कृष्ण के बारह घंटों की दिनचर्या है। जिसमें अच्छे और प्रबल राजाओं के कार्य में आने वाले प्रायः सभी कार्यों का वर्णन है। शतरंज, वैद्यक, पशुपक्षी से लेकर राजनीति और समर वर्णन बहुत लंबे हैं तथा इनमें रंजन वृत्ति का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है। इश्क महोत्सव में खड़ी बोली का प्रयोग किया गया है। इनकी रचना के उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

ग्वाल संग जैबो, ब्रज गैयन चरैबो ऐबो,
अब कहा दाहिने ये नैन फरकत हैं।
मोतिन की माल वारि डारौ गुंजमाल पर,
कुंजन की सुधि आए हियो धरकत है।।
गोबर को गारो रघुनाथ कछु यातें भारो,
कहा भयो महलनि मनि मरकत है।
मंदिर है मंदर तें ऊँचे मेरे द्वारका के,
ब्रज के खरिक तऊ हिये खरकत है।।

आप दरियाव, पास नदियों के जाना नहीं,
दरियाव, पास नदी होयगी सो धावैगी।
दरखत बेलि-आसरे को कभी राखता है,
दरखत ही के आसरे को बेलि पावैगी।
मेरे तो लायक जो था कहना सो कहा मैंने,
रघुनाथ मेरी मति न्याव ही को गावैगी।
वह मुहताज आपकी है, आप उसके न,
आप क्यों चलोगे ? वह आप पास आवैगी।।

पद्माकर

रीतिकाल के अन्तिम खेवे के कवियों में जनप्रियता तथा मूर्ति-विधायिनी कल्पना की दृष्टि से पद्माकर अंतिम महान कवि हुए तथा रीतिकाल की परम्परा के महान् निर्वाहक के रूप में भी उन्हें प्रतिष्ठित किया जा सकता है। बांदा के मोहनलाल भट्ट तैलंग ब्राह्मण के घर में उत्पन्न हुए। अपने पिता से विरासत के रूप में उन्हें काव्य-मर्यादा और पांडित्य प्राप्त हुआ। इनके पिता नागपुर, पन्ना और जयपुर नरेश द्वारा सम्मानित हो चुके थे तथा कविराज शिरोमणि की उपाधि से विभूषित थे। सं० १८१० में पद्माकर उत्पन्न हुए और १८९० में कानपुर में इनका देहावसान हुआ। हिम्मत बहादुर 'गोसांई अनूप-गिरि' के नाम पर सं० १८४९ म वहाँ हिम्मत बहादुर विरुदावली नाम के ग्रंथकी रचना की। इसके अतिरिक्त सितारा के इतिहास प्रसिद्ध महाराज राघोवा, जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह के यहां बहुत दिनों रहे और जब प्रतापसिंह के पुत्र जगतसिंह गद्दी पर बैठे तो वहीं पर अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'जगद्विनोद' की रचना की। 'पद्माभरण' के निर्माण का भी अनुमान जयपुर में ही किया जाता है। जयपुर के महाराज जगतसिंह की मृत्यु के बाद, ऐसा लगता है, कि उनका वह सम्मान वहाँ नहीं हुआ, जो पहले होता था, अतएव दौलतराव सिंधिया ग्वालियर नरेश के आश्रय में इन्होंने अपना काल-यापन आरम्भ किया। हितोपदेश का भाषानुवाद इन्होंने वहीं पर किया और पुनः वहां से भी अनुमानतः न पटने के कारण बूंदी होते हुए बांदा चले आये। जीवन का प्रारंभ और मध्य जिस दर्पपूर्ण वातावरण में इनका व्यतीत हुआ था, उसकी परम्परा वृद्धापन में साथ न दे पायी।

रोगग्रस्त भी ये हुए। वहीं पर विराग और भक्ति से इनका हृदय प्लावित हो उठा और इन्होंने "प्रबोध-पचासा" नामक ग्रंथ की रचना की। पुनः जीवन के अन्तिम सात वर्ष कानपुर में पतित-पावनी गंगा के किनारे व्यतीत किया। सुप्रसिद्ध 'गंगा लहरी' यहीं निर्मित हुई। इनका एक और ग्रंथ बाल्मीकि रामायण पर आधृत है। बताया जाता है कि यह दोहे और चौपाईयों में हैं पर इसमें पद्माकर की प्रतिभा का आभास तक नहीं मिलता। इसलिये अनेक विद्वान् ऐसा अनुमान करते हैं कि यह उनकी कृति नहीं है।

पद्माकर राजसी ठाठ के आदमी थे। प्रतापसाहि को छोड़ कर संयोग से इनके टक्कर का कोई दूसरा कवि भी उस समय नहीं था। अतएव उनकी धाक जमी और खूब जमी। इन्होंने इतनी प्रसिद्धि प्राप्त की कि अनेक मौजिओं ने अत्यन्त कुत्सित प्रवृत्ति की अश्लील रचनाओं को भी 'पद्माकर' जोड़कर खूब प्रसारित किया। देहातों में आज भी इनका खूब प्रचलन है। यह इनकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

इन्होंने मुक्तक और प्रबंध दोनों ढंग की रचनाएँ कीं, किन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्रबंध काव्य इनके सामान्य ढंग के ही हैं। मुक्तकों में इन्होंने विशेष सफलता प्राप्त की। हिम्मत बहादुर विरुदावली में ऐसे व्यक्ति को उन्होंने काव्य का नायक बनाया जो एक चालबाज साधारण अधिकारी था। वीर काव्य का नायक कमसे कम ऐसा तो होना ही चाहिये जिसके प्रति जनता में श्रद्धा की भावना हो, मात्रा भले ही संकुचित हो।

सजीव मूर्तिमयी कल्पना इनके मुक्तक पदों में सर्वत्र मिलती है पर अनुप्रास का व्यामोह कहीं-कहीं उसे बादल की भांति ढक लेता है। अनुप्रास के कारण कहीं-कहीं इनकी रचनाओं में नाद-सौंदर्य का सुन्दर दशन भी होता है। भाषा के ये पण्डित थे और इनका उसपर अधिकार भी था। इनकी भाषा में एक सुमधुर प्रवाह है, और छंद-विधान में सुन्दर रचना-कौशल। इनकी भाषा विविध प्रभावकारणी है। कहीं उसके सौष्ठव से रस, कहीं रूप, और कहीं नाद मूर्तमय होता है। इनके काव्य का विषय रीति-परिपाटी से गृहीत शृंगार है। इसमें कहीं-कहीं वे मर्यादा की सीमा का अतिक्रमण कर बैठे हैं। सरलता की दृष्टि से रीति अध्ययन के लिये 'जगद्विनोद' एवं 'पदमाभरण' अत्यंत सुन्दर बन पड़े हैं। जहाँ पर इनका कवि हृदय संयत अनुप्रासों के बीच उमड़ पड़ा है, वहाँ निश्चय ही रचनायें अत्यंत उत्कृष्ट हो गयी हैं। शुक्ल जी इन्हें सच्ची स्वाभाविक प्रेरणाका कवि मानते हैं तथा उनकी बड़ी भारी विशेषता में लाक्षणिकता को भी वे लेते हैं।

गंगा-लहरी के पद काव्य-कौशल की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट हैं। कुछ लोग इन्हें रीति-काल का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं पर वास्तव में इतना ही उनके लिये पर्याप्त होगा कि ये भाषा और कल्पना के अत्यंत सुन्दर काव्य-शिल्पी थे। इनकी कविताओं में से कुछ यहाँ दी जा रही हैं।

दोऊ अटान चढ़े 'पदमाकर', देखि दुहूं कों दुऔ छबि छाई ।
त्यों ब्रजवाले गुपाल तहां, बनमाल तमालहि की दरसाई ॥
चंद्रमुखी चतुराई करी, तब, ऐसी कछु अपने मन भाई ।
अंचल खेंचि उरोजन तें, नंदलाल कों मालती-माल दिखाई ॥

फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोबिंदै लै गई भीतर गोरी ।
भाई करी मन की पदमाकर ऊपर नाई अबीर की झोरी ।।
छीनि पितंबर कम्मर तें सु विदा दई भीड़ि कपोलन रोरी ।
नैन नचाय कह्यौ मुसुकाय, "लला फिर आइयो खेलन होरी" ।।

प्रताप साहि

रीतिकाल के उत्तरार्ध के कवियों में आचार्य और कवित्व की दृष्टि से प्रताप साहि सर्वश्रेष्ठ कवि आचार्य माने जाते हैं । जहां ये कवि की दृष्टि से सच्चे कवि हृदय के रूप में प्रगट हुए हैं; आचार्य के रूप में परम पंडित लगते हैं । ऐसा सुन्दर संयोग बड़ा विलक्षण होता है और बड़े भाग्य से प्राप्त होता है । शुक्ल जी आचार्य की दृष्टि से मतिराम, श्रीपति दास के साथ इनका नाम लेते हैं और कहते हैं "एक दृष्टि से इन्होंने उनके चलाये हुए कार्य को पूर्णता को पहुँचाया था ।" इनके पिता रतनेश भी कवि थे और ये चरखारी के महाराज विक्रम साहि के दरबारी रत्न थे । इनकी कृतियों के नाम हैं, व्यंगार्थ-कौमुदी (सं० १८८२) काव्य-विलास (सं० १८८६), जयसिंह-प्रकाश (संवत् १८८८), शृंगार-मंजरी (सं० १८८९), शृंगार-शिरोमणि (सं० १८९४), अलंकार-चितामणि (सं० १८९४), काव्यविनोद (सं० १८९६). रसराज की टीका (सं० १८९६), रत्नचंद्रिका सतसई की टीका (सं० १८९६), जुगल नखसिख : सीताराम का नखसिख वर्णन; बलभद्र नखसिख की टीका ।

इनकी विशेष ख्याति प्रथम तो कृतियों को लेकर ही है । इनके काव्य में विलक्षण प्रतिभा, समरस भाषा, सहज कल्पना, सबका सुन्दर समन्वय हुआ है और शुक्ल जी इन्हें पद्माकर के समकक्ष का कवि तथा डा० श्यामसुन्दर दास इन्हें रीतिकाल का अन्तिम सबसे बड़ा कवि मानते हैं । इनकी कविताओं के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं जो इनकी काव्य प्रतिभा के प्रतीक हैं ।

तड़पै तड़िता चहुंओरन तें छिति छाई समीरन की लहरें ।
मदमाते महा गिरिशृंगन पै गन मंजु मयूरन के कहरें ।।
इनकी करनी बरनी न परै सु गरूर गुमानन सौं गहरैं ।
घन ये नभमंडल में छहरैं कहुं जाय कहूं ठहरैं ।।

कानि करैं गुरुलोग न की, न सखीन की सीखन हौ मन लावति ।
एड़-भरी अंगराति खरी, कत घूंघट में नए नैन नचावति ।।
मंजन कै दृग अंजन आंजति, अंग अनंग-उमंग बढ़ावति ।
कौन सुभाव री तेरो परयो, छिन आंगन में, छिन पौरि में आवति ।।

ठाकुर

ठाकुर नाम के तीन कवि हिन्दी में विख्यात ह, जिनम यहाँ तीसरे ठाकुर के संबंध में, जिनकी रचनाएँ कहीं-कहीं ठाकुरदास के नाम से भी मिलती हैं, वर्णन दिया जा रहा है। तीनों कवियों की रचनाएँ भाषा की दृष्टि से अत्यंत साम्यवती ह, अतएव इनमें प्राय: भ्रम हो जाता है। पहले ठाकुर असनोवाले रीतिकाल के आरंभ में हुए, दूसरे ठाकुर गोरखपुर के सरयूपारीण ब्राह्मण माने जाते ह, तथा सं० १८६१ म सतसई बरनाथ नामक बिहारी सतसई की टीका के लिए प्रसिद्ध हैं, और तीसरे ठाकुर बुन्देल खंडवाले हैं जिनका अवसान सं० १८८० में हुआ था और शुक्ल जी ने इनका कविता काल सं० १८५० से १८८० तक माना है। इनका जन्म सं० १८२३ में हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने अपने सम्बन्ध में निम्न लिखित पद्य लिखा था।

सेवक सिपाही हम उन राजपूतन के,
दान जुद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
हिए के विसुद्ध हैं, सनेही सांचे उर के।
ठाकुर अहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद है अदानियां ससुर के।
चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महराज,
हम कविराज हैं, पै चाकर चतुर के।

कहा जाता है कि यह कविता म्यान से तलवार निकालकर ठाकुर ने हिम्मतबहादुर के दरबार में सुनायी थी। हिम्मत बहादुर नीच प्रवृत्ति का राजनीतिज्ञ था। ठाकुर अत्यंत स्वाभिमानी थे। पद्माकर आदि को भी ये फटकार चुके थे। जैतपुर नरेश परीक्षित के दरबार के ये कवि थे। वहां पर इनका अत्यंत मान और सम्मान था। इन्होंने प्रेम के गान उत्साहपूर्वक गाये फिर भी लोक जीवन और लोक व्यापार से इन्होंने काफी ख्याति ग्रहण किया था और उसका मूल्य ये समझते भी थे। प्रेम के भीतर डूबे रहने वाले कवियों में यह एक ऐसे कवि हुए जिन्होंने लोक जीवन की ओर पर्याप्त ध्यान दिया। ये शब्दों के खिलवाड़ को कविता नहीं समझते थे, अपितु काव्य को एक साधना मानते थे। इन्होंने हिन्दू त्यौहारों और मानवीय वृत्तियों पर बड़ी चुभती हुई रचनाएँ कीं। लोकोक्तियों का इतना व्यापक और सहज विधान ठाकुर के अतिरिक्त रीति काल के अन्य किसी कवि ने नहीं किया। भाव और भाषा दोनों इनकी सहज स्निग्ध तो है ही उसमें रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवल क्षमता भी है। रसभरी इनकी कविताएँ सहज ही लोगों के हृदय का श्रृंगार बन गयीं। इनकी रचनाओं के उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

अपने अपने सुठि गेहन में चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री ।
अंगनान में भींजत प्रेम भरे, समयो लखि में बलि जावं पै री ।।
कहै ठाकुर दोउन की रुचि सों रंग ह्वै दोउ उमड़े ठावं पै री ।
सखी, कारी घटा बरसै बरसाने पै, गोरी घटा नंदगांव पै री ।।

बा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है ।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति, ह्वै है ।
ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है ।
आवत है नित मेरे लिये, इतनो तौ विशेष कै जानति ह्वै है ।

यह चारहु ओर उदौ मुखचंद की चांदनी चारु निहारि ले री ।
बलि जौ पै अधीन भयो पिय, प्यारी ! तौ एतौ विचार विचारि-लै री ।
कवि ठाकुर चूकि गयो जो गोपाल तो तैं बिगरी का संभारि लै लरी ।
अब रैंढै न रैंहै यहै समयो, बहती नदी पायं पाखारि लै री ।

द्विज देव

शृंगारपरम्परा के अन्तिम प्रसिद्ध कवि अयोध्या नरेश महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' के नाम से कविता करते थे । इन्होंने परम्परा के पालन में न केवल साहित्य को आधार बनाया अपितु अपनी आंखों को खुला रखा । परम्परा में आत्मानुभूति की यह अभिव्यक्ति बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है । इनके ऋतु वर्णन परम्परा से प्राप्त पद्धति पर तो हैं ही, ऋतुओं के अनुसार पक्षियों, लताओं आदि का भी अत्यंत सुन्दर वर्णन इन्होंने दिया है । इनके वर्णन में कवि हृदय झूम-झूम कर मस्ती के साथ अभिव्यक्त हो गया । रीतिकाल के अनेक कवियों की भाँति उसमें मुर्दनी नहीं, जीवन का रस है । इनके भावों में जगह-जगह चमत्कार भी पाया जाता है, दिखावटके लिए नहीं अपितु भावों की मर्यादागर्भित करने के लिए । इनकी भाषा बड़ी ही स्वच्छ है और है निर्मल प्रवाहयुक्त । लोक म प्रचलित सुन्दर शब्दों को भी इन्होंने अपने काव्य गृहीत किया । 'शृंगार-बत्तीसी' और 'शृंगार-लतिका' इनकी रचनाओं के नाम हैं । इनकी एक रचना यहाँ दी जा रही है ।

आजु सुभायन ही गई बाग, बिलोकि प्रसून की पांति रही पगि ।
ताहि समै तहं आए गोपाल, तिन्हें लखि औरौ गयो हियरो ठगि ।।
पै द्विजदेव न जानि परो धौं कहा तेहि काउ परे अंसुवा जगि ।
तू जो कहौ, सखि ! लोनो सरूप सो मों अंखियान को लोनी गई लगि ।।

दीनदयाल गिरि

(जन्म सं० १८५९, मृत्यु सं० १९१५)

इनका जन्म काशी के एक साधारण ब्राह्मण परिवार में हुआ था । ५-६ वर्ष की आयु में ही इन्हें मातृ एवं पितृ वियोग सहना पड़ा । इनका पालन पोषण महंत कुशगिरि न कया और उनके गंगालाभ के बाद उनकी गद्दी इन्हें ही मली ।

ये संस्कृत एवं हिन्दी के विद्वान तथा सहृदय कवि थे। भारतेन्दु जी के पिता गोपाल चन्द्र उर्फ गिरधर दास इनके घनिष्ट मित्रों में से एक थे। इनकी प्राप्त पुस्तकों का नाम **हैं—दृष्टांत तरंगणी सं० १८७९ : विश्वनाथ नवरत्न सं० १८७९ : अनुराग-वाटिका सं० १८८८ : वैराग्य दिनेश सं० १९०६ : अन्योक्ति कल्पद्रुम सं० १९१२।**

व्रज भाषा पर इनका विशेष अधिकार था। इनकी रचनाओं में विविधि शलियों का दर्शन विभिन्न ग्रन्थों में होता है, यथा सरलमालिनी छन्द का 'अनुराग वाटिका' में कृष्ण-लीला का वर्णन, 'विश्वनाथ नवरत्न' में शंकर स्तुति, 'दृष्टांत तरंगणी' में सतसई के ढंग के दोहे। इन सवसे अधिक हिन्दी के लिये इनका महत्व अन्योक्ति-कल्पद्रुम के कारण है जो अन्योक्ति की हिन्दी में रची गई सर्वाधिक सुन्दर एवं बड़ी रचना है। व्यंगार्थ, श्लेष यमक के दर्शन इनकी रचनाओं में स्वाभाविक रीति से होते हैं।

यह सरस रचना उनकी अनूठी अन्योक्तियों में से है, जिसमें काव्यगत अलंकार की स्वाभाविक छटा श्लेष एवं यमक के रूप में मिलती है साथ ही व्यंगार्थ बड़ा चोटीला एवं वेजोड़ है।

नीरद

**दीजै जीवन जलद जू दीन द्विजन को देखि।
इनको आसा रावरी लागी अहै विसेखि॥
लागी अहै विसेखि देहु कुल कीरति छह।
या चपला चला लला धौ कितको जह॥
वरनत "दीनदयाल" आप जगमें जस लीजै।
परम धरम उपकार द्विजन को जीवन दीजै॥ १॥**

**करिये सीतल हृदय वन सुमन गयो मुरझाय।
सुनो विनय घनश्याम हे सोभा सघन सुहाय॥
सोभा सघन सुहाय कृपा की धारा दीजै।
नीलकंठ प्रिय पालि सरस जग में जस लीजै॥
वरनै "दीनदयाल" तृषा द्विजगन की हरिये।
चपला सहित लखाय मधुर सुन कानन करिये॥ २॥**

गिरधर कविराय

अपनी नीति की कुंडलियों के लिये हिंदी जगत में अत्यधिक जनप्रिय कवि के रूप में गिरधर कवि राय प्रसिद्ध हैं। ये १८ वीं शताब्दी के अन्त तथा १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में दैनिक जीवन और लोक-व्यवहार में आन वाले विषयों पर स्पष्ट रूप से सीधी बातें कही हैं। अपने काव्यत्व नहीं, विषय तथा लोक ग्राहिता के कारण इनकी ख्याति है। इनकी रचना का उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है।

साई बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज ।
हरनाकुस अरु कंस को, गयो दुहुन को राज ।।
गयो दुहुन को राज बाप बेटा के बिगरे ।
दुसमन दावागीर भए महिमंडल सिगरे ।।
कह गिरिधर कविराय जुगत याही चलि आई ।
पिता पुत्र के बैर नफा कहु कौने पाई ?

पजनेस

पजनेस के बारे में इसके अतिरिक्त और कुछ भी प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये पन्ना के रहने वाले थे । शक्ल जी ने इनका काव्य-काल सं० १९०० के लग-भग माना है । शिवसिंह सरोज में इनकी दो पुस्तकों 'मधरप्रिया' और 'नखसिख' का उल्लख है । पर पजनेस-प्रकाश के नाम से हिन्दी जगत के सामने अभी तक इनके केवल १२७ कवित्त, सवय ही आ सके हैं । अधिकांश कवित्तों का विषय अंग निरूपण ही है । इनकी रचना चमत्कार से भरी पड़ी है तथा वस्तु-विन्यास भी अच्छा है । इनकी रचनाएँ कहीं-कहीं बहुलता से फारसी के शब्दों और वाक्यों से भरी पड़ी हैं । इनकी ख्याति तो बहुत है, पर रचनाएँ सामान्य ही हैं । इनकी रचनाओं में से दो रचनाएँ यहाँ दी जा रही हैं ।

पजनेस तसद्दुक ता बिसमिल जुल्फें फुरकत न कबूल कसे ।
महबूब चुना बदमस्त सनम अजदस्त अलावल जुल्फ बसे ।।
मजमूए न काफ शिगाफ रुए सम क्यामत चश्म से खूं बरसे ।
मिजगां सुरमा तहरीर दुतां नुकते, बिन बे, किन ते, किन से ।।

छहर छबीली छटा छूटि छितिमंडल पैं, उमग उजेरो महाबोध अजब सी ।
कवि पजनेस कंज-मंजुल-मुखी के गात, उपमाधिकाति कल-कुंदन तबक सी ।।
फैली दीप दीप-दीपति जाकी, दीपमालिका की रही दीपति दवक सी ।
परत दाव लखि महताब जब, निकली सिताब आफदाब की भभक-सी ।।

प्रेम के गायक कवि
आलम और शेख

शायर, सिंह और सपूत लीक पर नहीं चलते, वे तो अपने अनुसार अपना रास्ता बनाया करते हैं। रीति-काल के अधिकांश कवि युग की परम्परा पर ही चल रहे थे। पर आलम उन कवियों में हैं जिन्होंने अपने जीवन की अनुभूतियों को अपने काव्य का विषय बनाया और अभिव्यक्ति को अनुभूतियों के रंग में सराबोर करते रहे। ये प्रेम के उन्मुक्त गायक थे और संयोगसे इन्हें जीवन संगिनी भी शेख नाम की रंगरेजिन मिल गई थी जो स्वयं कविता करती थी। प्रसिद्ध है कि एक बार आलम ने अपना मथबंधा रंगने के लिये इस रंगरेजिन के पास भेजा। उसमें खूंट में बंधा कागज का एक टुकड़ा--जिसपर दोहे की निम्नलिखित पंक्ति लिखी थी–"कनक छरी सी कामनीं, काहे को कटि छीन"--भूल कर चला गया। जब पगड़ी रंग कर आई तो दोहा पूरा मिला और रंगरेजिन ने यह पंक्ति अपनी ओर से बैठा दिया "कटि को कंचन काटि विधि, कुचन मध्य धरि दीन"। फिर तो आलम इस प्रकार रंगरेजिन के रंग में रंग गये कि ब्राह्मण होते हुए भी उन्होंने उसके साथ शादी कर ली और अपने हृदय के प्रेम से हिन्दी कविता को ऐसा रंगा कि लोग बराबर आलम को याद करते रहेंगे। बहुत-सी कविताओं को तो दोनों ने मिल कर लिखा और दोनों ने काव्य में अपने उपनामों में आलम और शेख का प्रयोग किया।

आलम की चार रचनाएँ उपलब्ध ह, माधवानल-कामकंदला, आलम केलि, श्याम सनेही और सुदामा चरित्र। आलम केलि स्फुट रचनाओं का संग्रह है तथा अन्य तीनों ही प्रबंध काव्य। इनकी सभी रचनाओं का विषय प्रेम ही है। सुदामा चरित्र का कथानक तो पूर्ववर्ती कवि नरोत्तमदास के सुदामा चरित से मेल खाता है पर अंतर यह है कि इसे आलम ने कवित्त सवैयों में न लिख कर रेतखाबंद किया है। पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इनके संबंध में विस्तार पूर्वक नागरीप्रचारणी पत्रिका के संवत् ५२ के अंकों में 'आलम की तिथियाँ' नामक लेखों में लिखा है। पंडित परशुराम चतुर्वेदी माधवानल कामकंदला को इनकी सबसे महत्वपूर्ण रचना मानते हैं। पर जिस कारण से इस रचना को सर्वाधिक महत्वपूर्ण उन्होंने माना है वह बात इनकी सभी रचनाओं में पाई जाती है। जहां भी इनकी रचना में प्रेम की टेर सुनाई पड़ती है, वहां पर वही लय, वही धुन, वही तन्मयता और वही विदग्धता दिखाई पड़ती है। वे तो पक्के प्रेमी जीव थे। प्रेम ही उनके काव्य का विषय था और उसी पर ये अपना सब कुछ न्योछावर कर देने वाले जीव भी थे।

आलम ऐसी प्रीति पर, सरबस दीजै वार।
गुपत प्रगट अंखियन मिलै, दियै कपट पट डार॥

इनके संबंध में शुक्ल जी और विश्वनाथ जी की ये उक्तियाँ अत्यंत समीचीन हैं।

"आलम रीतिबद्ध रचना करनेवाले कवि नहीं थे। ये प्रेमोन्मत्त कवि थे। और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदय तत्व की प्रधानता है। 'प्रेम की पीर' या 'इश्क का दर्द' इनके एक-एक वाक्य में भरा पाया जाता है...श्रृंगाररस की ऐसी उन्मादमयी उक्तियां इनकी रचनाओं में मिलती हैं कि पढ़नेवाले और सुननेवाले लीन हो जाते हैं। यह तन्मयता सच्ची उमंग में ही सम्भव है...प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना रसखानि और घनानंद की कोटि में होनी चाहिए।"

—रामचन्द्र शुक्ल

"इनकी विशषता है—हृदयपक्ष और कलापक्ष दोनों का वैसा ही तुल्य-योग, जैसा बिहारी में देखा जाता है। हृदयपक्ष का पलड़ा कुछ विशेष झुका हुा है। जीवन की वास्तविक अनुभूतियाँ सच्चे कवि को काव्य की उस उच्च भूमि पर पहुँचा देती है जिसके बिना कवित्व नीरस रहा करता है। आलम और शेख में प्रसंग-कल्पना की विशेषता के अतिरिक्त अर्थभूमि उत्पन्न करने की वह शक्ति है जिससे कवि अपने को दूसरों से पृथक् कर लेने में समर्थ होता है। (वांगमय-विमर्श) जहां तक भाषा का प्रश्न है, और काव्य के वाह्यावरण का प्रश्न है, वहां भी इन्हें सफलता मिली है। अवधी और पूर्वी हिन्दी के हलके प्रयोग तथा कहीं-कहीं रेखता का प्रयोग जरूर हुआ है। इसके लिये इनकी जन्मभूमि और शेख को दायी समझना चाहिये। इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन- ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं॥
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहां अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

दाने की न पानी की, न आवै सुध खाने की,
यां गली महबूब की अराम खुसखाना है।
रोल ही से है जो राजी यार की रजाय बीच,
नाज की नजर तेज तीर का निशाना है।
सूरत चिराग रोशनाई आशनाई बीच,
बार बार बरै बलि जैसे परवाना है।
दिल से दिलासा दीजै हाल के न ख्याल हूजै,
बेखुद फकीर वह आशिक दीवाना है।

घन-आनन्द

व्रजभाषा के महान कवियों में घनआनन्द का स्थान है। रीति काल की परम्परा से अलग प्रेम के रस में सराबोर हो जिन्होंने उस युग में हिन्दी कविता को संवारा उनमें

घन-ग्रानंद का नाम सबसे पहिले लिया जायेगा । यह ग्रलमस्त प्रेमी जीव थे । इनका जीवन इनकी रचना में साकार हो उठा है ।

इनका जीवन काल संवत् १६४६ से सं० १७९६ तक बताया जाता है । यह दिल्ली के बादशाह मोहम्मदशाह के मीर मुन्शी कहे जाते हैं । इनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि एक बार मोहम्मदशाह के दरबार में इनसे गाने का ग्राग्रह किया गया । भगवान ने इन्हें स्वर का भी वरदान दिया था । पर इनकी एक शर्त थी, वह यह कि इनकी प्रेमिका भी सभा में बुलायी जाये । राजाज्ञा से सुजान नामक वेश्या, जिस पर घनग्रानंद सब कुछ कुर्बान कर चुके थे, बुलायी गयी । इन्होंने उसकी ग्रोर तो ग्रपना मुख कर लिया ग्रौर शाहंशाह की ग्रोर पीठ; फिर ग्रपनी रूप की रानी के सम्मुख स्वर की वह लहरी इन्होंने प्रसारित की, जिसके संस्पर्श से सबका मन मुग्ध हो गया । मुगलकालीन सामंतवादी प्रवृत्ति इस तथ्य को, कि उसके दरबार का एक ग्रदना कवि शाहंशाह की ग्रोर पीठ फेर कर गाये, बरदास्त करने वाली नहीं थी । कला के लिए कलाकार को कोप-भाजन होना पड़ा ग्रौर उसे नगर निष्कासन का दंड मिला । जिस प्रेयसि-संगिनी की सम्मान की रक्षा के लिए समस्त वैभव से वैराग्य मात्र ही नहीं, कवि को ग्रपना ठिकाना भी छोड़ना पड़ा, उसने भी इस कलावंत का साथ न दिया । यह प्रेम की पीर कवि के मानस में समा गयी ग्रौर उसकी झंकार जीवन भर गूंजती रही । ग्रंत में वृन्दावन जाकर इन्होंने निम्बार्क वैष्णव सम्प्रदाय में ग्रपने को दीक्षित कर लिया ग्रौर "सदा सुखद सुहायो वृदावन गाढ़े गहिरे" के ग्रनुसार विरक्त भाव से वहीं रहने लगे ।

जब वृन्दावन में नादिरशाह के गणों का पाशविक ताण्डव ग्रारम्भ हुग्रा ग्रौर इनसे भी सिपाहियों ने जर (धन) मांगा तो इन्होंने उन्हें तीन मुट्ठी रज उठाकर दे दिया क्योंकि उन्होंने तीन बार ज़र-ज़र शब्दों का प्रयोग किया था । सैनिकों का क्रोध भड़क उठा । इनके हाथ काट डाले गये । ऐसा कहा जाता है कि मरते समय इन्होंने निम्नलिखित छंद ग्रपने खून से लिखा था ।

बहुत दिनान की ग्रवधि ग्रासपास परे,
खरे ग्ररबरनि भरे हैं उठि जान को ।
कहि कहि ग्रावन छबीले मन-भावन को,
गहि गहि राखति ही दे दै सनमान को ।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
ग्रब ना घिरत घनग्रानंद निदान को ।
ग्रधर लगे हैं ग्रानि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये संदेसो लै सुजान को ।

इनके सम्बन्ध में यह उक्ति ग्रत्यंत सत्य एवं प्रसिद्ध है—

नेही महा, ब्रजभाषा-प्रवीन, औ सुन्दरताहु के मेंद को जानै ।
योग वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद स्वरूप को ठानै ।।
चाह के रंग में भीज्यों हियो, बिछुरे मिले प्रीतम सांचि न मानै ।
भाषा-प्रवीन, सुछंद सदा रहै सो घन जू के कवित्त बखानै ।

इनका जीवन इस बात का प्रतीक है कि जीवन भर प्रेम की अग्नि में ये तपते रहे । विरक्त होकर भी सुजान को न भूल पाये । वह इनके रोम-रोम में समा गयी थी । स्नेह के सीधे मारग पर बिना सयानप और बांकेपन पर चलनेवाले ये जीव थे और जब इन्हें सुजान का साथ प्राप्त न हुआ तो इन पर क्या गुजरी होगी इसकी कल्पना भी हृदय हिला देने के लिए पर्याप्त है । वियोग शृंगार का, उसकी अन्तर्दशाओं का, प्रेम के पीर से घायल इस कवि ने जितना सुन्दर मुक्तक काव्य में वर्णन किया है, उतना हिन्दी का कोई अन्य कवि न कर सका । भगवान की शरण में भी जाकर सुजान को न भूल सके और विरक्ति के पदों में भी सुजान बोलती रही । ऐसे महान् स्नेही विरले ही मिलते हैं और इनका यह विरलापन व्रज-भाषा में प्रवीण होने के कारण अपना मूर्त्त रूप बनाने में पूर्ण सफल हुआ है । घन-आनंद के अधिकारी विद्वान् पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इनके काव्य के सम्बन्ध में "वाङमय विमर्श" में लिखा है कि "इनमें से सबसे अधिक **आकर्षक रचना घनआनंद की है । ये वस्तुतः प्रेम के पपीहे थ । इनकी रचनाओं में वियोग की अंतर्दशाओं, प्रेम की अनेकानेक, अंतर्वृत्तियों, रूप-व्यापार के वैचित्र्यपूर्ण चित्रों, भाषा की वंग्योगमयी शक्तियों, विरोध की चमत्कारोत्पादक उक्तियों आदि का ऐसी गंभीरता के साथ विधान किया गया है कि 'नेह की पीर' को 'हिय की आंखों' से देखनेवाले ही इसे भली भांति समझ सकते हैं । हिंदी की नवीन कविता में अंगरेजी से उधार ली हुई विदेशी लाक्षणिकता, विरोधमूलक उक्तियों, प्रच्छन्न रूपकों आदि पर निछावर होनेवाले बहुत से कलाकार, यदि उन्हें सचमुच कलाकार कहा जा सके, दिखाई देते हैं । पर वे हिन्दी के पुराने भांडार को 'हिय की आंखों' क्या, फूटी आंखों भी नहीं देखना चाहते । किंतु यदि वे अपनी किसी प्रकार की आंख से भी घनानंद की लाक्षणिकता, विरोधात्मकता, प्रच्छन्नरूपकता आदि देख लेते तो, सबकी राम जाने, जानकार तो कम से कम सात समुद्र पार जाकर उधार-व्यवहार करने की आवश्यकता न समझते । घनआनंद ने ऐसे बढ़-बढ़कर प्रयोग किए हैं जैसे प्रयोगों का साहस, साहसी से साहसी नवीन कवि बिना हिचक के नहीं कर सकता, किसी ने किया ही है कहां ?'**

घनआनंद के ऊपर पण्डित जी ने कई पुस्तकें लिखी हैं और इस सम्बन्ध में अभी हाल में ही प्रकाशित इनका घनआनंद सम्बन्धी ग्रंथ "घनआनन्द ग्रन्थावली" जो प्रसाद परिषद से प्रकाशित हुई है, इनके अकथ परिश्रम का परिणाम है जिसके लिए लन्दन के इण्डिया हाउस से फिलम मँगायी गयी थी । इनका कहना है कि घनानंद के चालीस ग्रंथ थे, जिनमें से उन्तालीस इस ग्रंथावली में हैं ।

इनकी पुस्तकों के नाम हैं--

१--सुजान हित	२१--कृष्ण कौमुदी
२--कृपाकंद निबंध	२२--धाम-चमत्कार
३--वियोगी बेलि	२३--प्रिया प्रसाद
४--इश्क लता	२४--वृन्दावन मुद्रा
५--यमुना-चारण	२५--व्रज-स्वरूप
६--प्रीति-पावस	२६--गोकुल चरित्र
७--प्रेम पत्रिका	२७--प्रेम पहेली
८--प्रेम सरोवर	२८--रसनायश
९--व्रज विलास	२९--गोकुल विनोद
१०--सरस वसंत	३०--व्रज प्रसाद
११--अनुभव चन्द्रिका	३१--मुरलिका भोद
१२--रंगबधाई	३२--मनोरथ मंजरी
१३--प्रेम पद्धति	३३--व्रज व्यवहार
१४--वृषभानुपुर-सुषमा	३४--गिरि गाथा
१५--गोकुल गीत	३५--व्रज वर्णन
१६--नाम माधुरी	३६--छन्दाष्टक
१७--गिरि पूजन	३७--त्रिभंगी छन्द
१८--विचार सार	३८--कवित्त-संग्रह
१९--दान घटा	३९--स्फुट
२०--भावना प्रकाश	४०--पदावली

व्रज-वर्णन अप्राप्य है ।

पण्डित जी ने जो कुछ इनके विषय में लिखा है वह भावना के वश में नहीं अपितु सहज सत्य है । शुक्ल जी भी उनके सम्वन्ध में लिखते समय कहीं तो यह लिखते हैं कि **"इनकी सी विशुद्ध, सरस, सत्य-शालिनी व्रज भाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ । कही यह लिखते हैं कि "प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबादानी का ऐसा दावा रखनेवाला व्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ ।" कहीं यह लिखते हैं--"प्रेम की गूढ़ अन्तरदशा का उद्‌घाटन जैसा इनमें है वैसा हिन्दी के अन्य शृंगारी कवियों में नहीं ।" कहीं यह लिखते हैं कि "यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा किसी कवि का नहीं ।"**

वाबू श्यामसुन्दर दास भी इनकी गुणगाथा गाते हुए लिखते हैं--"उनकी जैसी भाषा रीति काल के कम कवियों ने व्यवहृत की है ।" रीति काल के प्रेम-प्रगीत लेखकों में डा० भगीरथ मिश्र घनआनंद को ही सर्वोत्कृष्ट मानते हैं ।

हृदय की अनुभूति का मूर्त रूप मधुपूरित स्निग्ध भाषा में पिरोकर घनआनंद ने अपने साहित्य में जिस अभिव्यंजना-वृत्ति का सक्षम परिचय दिया है, वह अनूठा है । अर्थ

गाम्भीर्य की दृष्टि से भी वह लीक पर नहीं चले। उन्होंने नई-नई उद्भावनाएँ कीं। रूढ़ि की पगदण्डी छोड़कर अभिव्यंजना का नया मार्ग उन्होंने बनाया। कहीं-कहीं इनकी रचनाओं में ध्वनि-साम्य की भी प्रतिष्ठा हुई है। इन्होंने नये-नये प्रयोग किये। आज कल के प्रयोगवादियों की भाँति नहीं, अपितु नाड़ी पहिचानने वाले एक कला-मर्मज्ञ के रूप में। इन प्रयोगों की विचित्रता मन को लुभानेवाली है, न कि उबानेवाली। यद्यपि इन्होंने संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सुन्दर वर्णन किया है तो भी वियोग सम्बन्धी उनकी रचनाएँ अपनी शानी नहीं रखतीं। इनके वर्णनों में ऊपरी टीम-टाम नहीं, अन्तर में पहुँचने की, अन्तर-वृत्तियों को उद्घाटित करने की तथा अन्तर-सौंदर्य को मूर्त करने की अतुलनीय क्षमता है। इनके काव्य के भीतर तो उस वृत्ति का उद्घाटन हुआ है, जिसकी उपमा मृगमरीचिका में फंसे मृग के मन की मूक पुकार से दी जा सकती है। उनकी रचनाओं में शरीर का नहीं आत्मा का सौंदर्य है। उनकी रचनाओं से यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं, जो उनकी गौरव-गरिमा के परिचायक हैं।

रैन दिना घुटिबौ करैं प्रान, झरैं अखियां दुखिया झरना सी।
प्रीतम की सुधि अंतर में, कसके सखि ज्यों पसुरीन मैं गांसी॥
चौ चंद चार चबाइन के चहुँओर मचै बिरचै करि हांसी।
यौं मरिये मरिये कहि क्यों सु परौ जनि कोऊ सनेह की फांसी॥

हम सों पि सांचिये बात कहौ, मन ज्यों मन त्यों अरु नांहि कहूं।
कपटी निपटी हिय दाहत हौ, निरदै जु दई डरु नांहि कहूं॥
सबही रंग मैं घनआनंद मैं बसं जाल परे घरु नांहि कहूं।
उतरौ, बरसौ, सरसौ, दरसौ, सब ठौर वसी घरु नांहि कहूं॥

पर कारज देह को धारे फिरौ पर जन्य! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही बिधि सुन्दरता सरसौ॥
घनआनंद जीवनदायक हौ, कबौं मेरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूं वा बिसासी सुजान के आंगन मो अंसुवान कौ, लै बरसौ॥

अति सूधो सनेह को मारग है, जहं नैकु सयानप बांक नही।
नहं साचे चलें तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जो निसांक नहीं॥
घनआनंद प्यारे सुचान सुनौ, इत एक तु दूसरो आंक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहु पै देहु छटांक नहीं॥

बोधा

प्रेम में विभोर कवियों में बोधा का नाम भी बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्म सं० १८०४ माना है। कुछ लोग १८०४ उनका काव्य-काल मानते हैं। उपस्थित और उत्पन्न का यह झगड़ा कोई विशेष महत्व नहीं रखता। कवि बोधा राजापूर (बांदा) के सरजपारीण ब्राह्मण थे तथा पन्ना दरबार

के रत्न थे । संस्कृत और फारसी का भी इन्हें ज्ञान था । वहीं दरबार में 'नवयौवन बनिता निपुण शुभ गुण सदन' सुभान नाम की वेश्या पर आशक्त हो गये और अपनी समझ से कुछ खोटा काम कर गये । भय वश पन्ना से नौ दो ग्यारह हो गये । पर सुभान की स्मृति इन्हें चिढ़ाती रही और अन्तोगत्वा छः महीने के बाद पुनः वापस लौटे और प्रवास में इन्होंने 'विरह-वारीश' की रचना की । कुछ लोग छः महीने की अवधि को एक वर्ष मानते हैं । यह भी साहित्य की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता । विरह-वारीश प्रेम संबंधी आख्यान काव्य है और उसमें 'माधवा नल कामंद' कला की प्रेम-कथा वर्णित है । यह काव्य ६ खण्डों में है । बोधा लौकिक और अलौकिक प्रेम में कोई अन्तर नहीं मानते थे और ये ब्रजराज कृष्ण को अपना प्रियतम मानते थे । विरह-वारीश के अतिरिक्त इश्कनामा नाम की इनकी एक और पुस्तक प्रसिद्ध है । इनके संबंध में शुक्ल जी ने लिखा है कि:––

"बोधा एक रसोन्मत्त कवि थे, इससे इन्होंने कोई रीतिग्रंथ न लिखकर अपनी मौज के अनुसार फुटकल पद्यों की ही रचना की है । ये अपने समय के एक प्रसिद्ध कवि थे । प्रेममार्ग के निरूपण में इन्होंने बहुत से पद्य कहे हैं । 'प्रेम की पीर की व्यंजना भी इन्होंने बड़ी मर्मस्पर्शिनी युक्तियों से की है । यत्र-तत्र व्याकरण-दोष रहने पर भी भाषा इनकी चलती और मुहावरेदार होती थी । उससे प्रेम की उमंग छलकी पड़ती है । इनके स्वभाव में फक्कड़पन भी कम नहीं था । 'नेजे', 'कटारी' और 'कुरबान' वाली बाजारी ढंग की रचना भी इन्होंने कहीं कहीं की है ।"

पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की राय में "बोधा कुछ नया रंग-ढंग लेकर चलनेवाले स्वच्छंद गायक थे । इनकी अधिकतर रचनाएँ प्रेममार्ग का निरूपण करनेवाली हैं, फिर भी 'प्रेमपीर' की वह सचाई इनमें पाई जाती है जो उन्मुक्त कवि के लिए अपेक्षित है । जैसे कुछ रीतिबद्ध करनेवाले फारसी की बाजारू प्रेमपद्धति से प्रभावित हुए वैसे ही रीतिमुक्त बोधा भी । इनकी रचना में घनानंद, ठाकुर आदि की सी गहराई तो नहीं मिलती किंतु भाव बहुत ही सीधे और सरल ढंग से व्यक्त किये गए हैं ।"

इनकी कुछ रचनाएँ यहाँ दी जा रही हैं ।

अति खीन मृनाल के तारहू तें, तेहि ऊपर पांव दै आवनो है ।
सुई-बेह कै द्वार सकै न तहां परतीति को टांड़ो लदावनो है ।।
कवि बोधा अनी घनी नेजहु तें चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है ।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है ।।

:o: :o: :o:

'कबहूं मिलिबो, कबहूं मिलिबो' यह धीरज ही में धरैबो करै ।
उर तें कढ़ि आवै, गरे तें फिरैं, मन की मन ही में सिरैबो करै ।।
कवि बोधा न चांड़ सरी नितही हरवा सो हिरैबो करे ।
सहते ही बनै कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै ।।

––––––

राष्ट्रीय कवि परम्परा

जिस समय हिन्दी के प्रायः सभी प्रसिद्ध कवि केशव, चिंतामणि, और मतिराम के पथ पर अलंकार, रस और साहित्य के निर्माण में जुटे हुए थे तथा शृंगारी रचनाओं द्वारा नायिकाओं का नख-सिख वर्णन और उनके हाव-भाव प्रदर्शन में अपनी सारी प्रतिभा एड़ी-चोटी का पसीना एक कर लगा रहे थे, उस समय तीन ऐसे कवि हिन्दी साहित्य में उत्पन्न हुए, जिनका नाम सदैव ही गर्व के साथ लिया जायगा। इस कवित्रयी में भूषण, सूदन और लाल आते हैं। जिस समय हिन्दुओं पर प्रबल प्रहार हो रहा था, नाना प्रकार के धार्मिक व्यवधान वश अत्याचार ढहाये जाते थे, उस समय महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश में इस भयंकर मानवी अत्याचार के प्रति भयंकर उत्तेजना मात्र ही व्याप्त नहीं थी अपितु कुछ ऐसे महान दृढ़कर्मी राष्ट्र नायक एवं साधु-संत उत्पन्न हुए, जिन्होंने इस बात का वीड़ा उठाया कि इन अत्याचारों को दफनाकर वे ऐसे समाज की सर्जना करेंगे जिसका आधार विशुद्ध भारतीय होगा। इन मानव कल्याण के पथ-प्रदर्शकों में समर्थ रामदास, शिवाजी और बुन्देलखंड के छत्रपति छत्रसाल का नाम अत्यंत श्रद्धा के साथ लिया जाता है। शिवाजी और छत्रसाल ने न केवल अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह किया अपितु उसे नष्ट करने में भी अनेक अर्थों में समर्थ हुए। जिन कवियों ने इन राष्ट्र नायकों को अपने काव्य का विषय बनाया, उनमें भूषण और लाल की सेवाएँ कवि के रूप में सदैव ही सम्मान के साथ स्मरण की जायेंगी।

भूषण

आचार्य रामचंद्र शुक्ल इनका जीवन-काल संवत् १६७० और मत्यु १७७२ मानते हैं तथा इन्हें चिंतामणि और मतिराम का भाई वताते हैं। इनके असली नाम का प्रामाणिक रूप से अभी तक पता नहीं चलता है। **पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र इनका नाम घनश्याम मानते हैं।** 'भूषण' इनकी उपाधि थी। जिसे हृदयराम सोलंकी के पुत्र रुद्रराम सोलंकी ने इन्हें दी थी। यह शिवराज भूषण के नीचे लिखे दोहे से प्रकट होता है:—

कुल सुशंकि चितकूट पति साहस सील समुद्र।
कवि-भूषण पदवी दयी हृदयराम-सुत रुद्र ॥

यह कई राजाओं के आश्रय में पले थे। पन्ना के महाराजा छत्रसाल ने तो इनकी पालकी पर ही कंधा लगाकर अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया और स्वयं इनको कहना पड़ा—'शिवा को वखानों कै वखानों छत्रसाल को।' अन्त में यह महाराज शिवा जी के दरवार में रहे और शिवाजी ने न केवल इनका सम्मान किया अपितु इनके एक-एक छंद पर इन्हें लाखों रुपये पुरस्कार के रूप में दिये।

इन्होंने कवि-शिक्षा ग्रहण की थी क्योंकि परम्परानुसार उस समय कवि-शिक्षा ग्रहण करना काव्य निर्माण का एक आवश्यक अंग समझा जाता था। शिवराज भूषण की यह कह कर कि 'समझ कविन को पंथ' इन्होंने रचना की। यद्यपि राजाश्रयों में इनका साहित्य निर्मित हुआ किंतु लोक-रंजन और लोक-कल्याण की जो भावना इनके भीतर पायी जाती है वह इस बात का प्रतीक है कि कलि के कविराजों की कलई से ये परिचित थे। वे अत्यन्त जीवट के व्यक्ति तथा अनुभूतियों से परिचित मौलिक रचना करने वाले साहित्यिक थे। इनके कुछ शृंगारी पद भी आचार्य पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की भूषण ग्रन्थावली में दिये गये हैं। जिनकी संख्या ११ है। डा० बड़थ्वाल ने अपने एक निबंध 'भूषण की शृंगारी कविता' में इनके २२ और नये पदों की चर्चा की है। इतना तो मानना ही होगा कि प्रारम्भ में इन्होंने शृंगारिक रचनाएँ की किन्तु जब ये युग-चेतना से परिचित हुए और इन्हें यह लगा कि इन्होंने कोई सामाजिक पाप किया है तो इनके काव्य की दिशा ऐसी मुड़ी जो युग की काव्य-गंगा का प्रतीक बन बैठी जिसमें स्वयं इन्होंने अपने पूर्व पाप धोये।

"भूषण यों कलि के कविराजन राजन के गुण गाय हिरानी।
पुण्य चरित्र सिवा-सरजे सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी।।

इनकी उन कविताओं को शुक्ल जी गिनती के योग्य नहीं मानते। फिर भी वे यदि भूषण की रचनाएँ हैं तो उनका अध्ययन होना ही चाहिये और वे रचनाएँ भी, सामान्यतः अच्छी हैं। उदाहरण के रूप में यहां दो रचनाएँ दी जा रही हैं जिनमें पहली भूषण ग्रन्थावली से ली गई है और दूसरी डा० बड़थ्वाल के पूर्व उल्लिखित उल्लेख से ली गयी है।

मेरु को सोनो कुबेर को संपति ज्यों न घटै विधि रात अमा की।
नीरधि नीर कहै कवि भूषन छीरध छीर छमाहें छमा की।।
प्रीति महेस उमा को महारस रीति निरंतर राम रमा की।
एन चलाए चले भ्रम छोड़ि कठोर क्रिया जो तिया अधमा की।।

और के भाम में स्याम बसे सिगरी रतिया तिय जागि बिताई।
आजु सषी लषि ललान सों हठ सी बतियां करि हौ कठिनाई।।
आयौ हरी कबि भूषन भोर तौ दूषन देन को है ढिग ठाई।
राषि उसासि कही न कछू अँसुवा जल सों अँखियाँ भरि आई।।

जिन रचनाओं के कारण भूषण का नाम लोगों के जबान पर रहता है अथवा जिन कृतियों के कारण वे हिन्दी के महाकवि समझ जाते हैं वे उनकी वीर रस की कविताएँ हैं। उनकी रचनाएँ न केवल भावनाओं की दष्टि से अपने युग से बिलकुल अलग हैं अपितु इस दष्टि से भी वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं कि जहाँ उस युग के कवि साधारण आश्रयदाताओं की चाटुकारिता में शब्दों की होली जलाया करते थे, वहीं पर इन्होंने ऐसे आश्रयदाताओं की शरण ली जो न केवल लोकनायक थे अपितु उनके प्रति आज भी

हिन्दू जनता में इतना सम्मान व्याप्त है कि कोई भी विशेषण वह उनके प्रति प्रयुक्त करने में अतिशयोक्ति का अनुभव नहीं करतीं। उनको इन्होंने अपने काव्य का नायक बनाया। उनकी इन्होंने चाटुकारिता नहीं की अपितु उन युग 'विधायक पुरुषों की ऐसी प्रशस्ति' की जिसे जनता चाहती थी। वह झूठी खुशामद नहीं, सत्य की अभिव्यक्ति थी। शुक्ल जी के इस मत से, वे हिन्दू जाति के प्रतिनिधि कवि थे, मैं सहमत नहीं हूँ। यह उनके लिए छोटी बात होगी। वे हमारे राष्ट्र के तुलसीदास के पश्चात् दूसरे राष्ट्रीय कवि थे। इनके ६ ग्रन्थ–शिवराज भूषण, शिवा बावनी, छत्रसाल–दशक, भूषण उल्लास, दूषण उल्लास और भूषण हजारा–बताये जाते हैं। 'शिवराज भूषण' इनका सबसे वृहद ग्रन्थ है जिसमें रीतिकाल की परम्परा के अनुसार अलंकारों का उदाहरण दिया गया है। इस अलंकार ग्रन्थ में लक्षण के बाद पद्यों में शिवाजी की प्रशंसा के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। यह युग का प्रभाव था। यद्यपि उनके लक्षण सुन्दर नहीं बन पाये हैं फिर भी उदाहरण में दी गई कविताएँ काफी अच्छी हैं। शिवाबावनी भी इनके बावन छंदों का संग्रह है। छत्रसाल दशक बुन्देल राजपूत शासक छत्रसाल की प्रशस्ति में रचा गया है। शेष उनकी तीन पुस्तकों का उल्लेख शिवसिंह सरोज में किया गया है किन्तु वे रचनाएँ अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी हैं।

यह ऐसे जीव थे जो स्वयं युद्ध के मोर्चे पर जाते थे। वहां की परिस्थितियों को अपनी आंखों से देखते थे और फिर उसे छंदों में पिरोते थे। अतएव उनमें सत्य निरीक्षण, ओज और वीरता का परिपाक होना स्वाभाविक ही है। उनकी कविता का बड़ा व्यापक प्रचार चारो ओर हुआ। शिवाबावनी की रचनाएँ उनकी इतनी ओजस्विनी हैं कि उन्हें पढ़ते-पढ़ते रोम-रोम से ओज टपक पड़ता है। यद्यपि इनकी भाषा अव्यवस्थित है, यत्रतत्र व्याकरण और वाक्य रचना की गड़बड़ियाँ हैं तथा शब्द बहुत तोड़े-मरोड़े गये हैं फिर भी उस युग में लिखी गयी उनकी रचनाएँ इतनी ओजपूर्ण हैं जिसकी समता का दूसरा कोई कवि दिखायी ही नहीं देता। इनकी रचनाओं में से कुछ उदाहरण यहाँ दिय जा रहे हैं।

इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज है।
पौन बारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगझुंड पर,
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ-वंस पर सेर सिवराज है।
डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद जस हद्द हिंदुवाने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कलक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।

लालकवि

बुन्देलखंड के महाराज छत्रसाल के दरबारी कवि थे और उन्हीं के आदेश से इन्होंने 'छत्रप्रकाश' प्रबंध काव्य जिसे छत्रसाल का जीवन चरित्र भी कह सकते हैं, लिखा है। इसमें वर्णित घटनाएँ ऐतिहासिक सत्य पर आधृत हैं तथा केवल चाटुकारिता प्रदर्शन के लिये इसका निर्माण नहीं हुआ है बल्कि सत्य की अभिव्यंजना इसका प्रधान गुण है। डा० श्यामसुन्दर दास ने इन्हें अपने युग का सर्वाधिक तत्वग्राही प्रवृत्तिवाला कवि माना है। 'छत्रप्रकाश' में बुन्देलवंश की उत्पत्ति, चम्पत राय का शौर्य, मुगलों की विजय, बुन्देलखंड का छत्रसाल द्वारा पुनरुद्धार तथा बार-बार मुगलों की हार का बड़ा अनठा वर्णन है। छत्रसाल की हारोंका उल्लेख भी इस ग्रंथ में है। इस कवि की राष्ट्रीय दृष्टि इतनी व्यापक थी कि राष्ट्र-निर्माण की भावना का कितना बड़ा तत्व इनके काव्य म है यह इस बात से ही जाना जा सकता है कि न केवल व्याप्त दशा का ही वर्णन कवि का ध्यान आकृष्ट करता है अपितु कवि छत्रसाल का आश्रित होकर भी शिवाजी की राष्ट्रव्यापी महत्ता प्रगट करने में तथा छत्रसाल की शिवाजी के प्रति भक्ति और उन दो राष्ट्रनायकों के सम्मेलन का भी दृश्य अत्यन्त सुन्दता और सचाई पूर्वक वर्णित करने से पीछे नहीं हटा है। संवत् १७६४ तक का ही वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है। इससे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि संवत् १७६५ के कुछ बाद ही छत्रसाल के समय में ही इस कवि का पर्यवसान हो चुका था। इस ग्रन्थ में स्वाभाविकता है और है प्रबंध कौशल। मुक्तक रचनाओं के उस युग म तुलसीदास के बाद यह पहला ग्रन्थ है, जिसमें प्रबंध-पटुता स्वाभाविक रूप में दिखाई पड़ती है। इसका प्रकाशन नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा हुआ है। इन्होंने बरव छंद में नायिका भेद के नाम से विष्णु विलास नामक एक और पुस्तक लिखी है। किन्तु, यह पुस्तक सामान्य है। इनके संबंध में शुक्ल जी का यह कथन अत्यन्त समीचीन है कि काव्य और इतिहास दोनों ही दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी म अपन ढंग का अनूठा है। छत्रप्रकाश से इनकी कुछ चौपाइयाँ नमूने के रूप में उपस्थित की जा रही हैं:—

सूबा ह्वै सुभकरन सिधायौं। हित सौं पातसाह पहिरायौं।
संग बाइस उमराउ पठाए। लै मुहीम चंपति पै आए।
जोरि फौज सुभकरन बुंदेला। ऐरछ पर कीन्हौ बगमेला।
बाजत सुनै जूध के डंका। उमड़ि चल्यौ चंपति रन बंका।
माची मार दुहूं दिस भारी। रचनहार की मुसकिल पारी।
उतकट मठ बखतर घर मारे। कूटे हय गय पक्खर वारे।
सूखे कढ़े रुधिर नहि छीवैं। लागत प्रान परन के पीवैं।
ठिल्यौ कटक सुभकरन की, ठिल्यौ खवास अडोल।
रन उमंग में उमड़ि कै, नच्यौ तुरंग अमोल॥

सूदन

ये मथुरिया चौबे थे। इनका रचना-काल अनुमानतः संवत् १८२० माना जाता है। इन्होंने भरतपुर के जाट राजा सुजान सिंह के ऊपर सुजान चरित्र नामक प्रवंध काव्य लिखा है जो ऐतिहासिक रचनाओं पर आधृत है। रचना वर्णन का अत्यन्त व्यापक विस्तार, फिजूल की बातें तथा खिचड़ी भाषा (व्रज, पंजावी और खड़ी बोली का अटपटा मेल) इस ग्रन्थ को सामान्य साहित्यिक स्तर की रचना बना देती है, यद्यपि इसके अनेक स्थल सुन्दर बन पड़े हैं। यह ग्रन्थ सात अध्यायों में लिखा गया है। अनेक छंदों का प्रयोग किया गया है। अधिकांश वर्णन युद्ध के ही हैं। प्रारंभ में इन्होंने पौने दो सौ कवियों के नाम का उल्लेख किया है। उनकी अटपटी और वीहड़ रचना में से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

बखत बिलंद तेरी दुंदभी धुकारन सों,
दुंद दवि जात देस देस सुख जाही के।
दिन दिन दूनों महिमंडल प्रताप होत,
सूदन दुनी में ऐसे बखत न काही के।
उद्धत सुजान-सुत बुद्धि बलवान सुनि,
दिल्ली के दरनि बाजैं आवज उछाही के।
जाही के भरोसे अब तखत उमाहीं करे,
पाही से खरे है जो हिपाही पातसाही के।

दब्बत लत्थिनु अब्बत इक्क सुखब्बत से,
चब्बत लोह, अचब्बत सोनित गब्बत से।
चुट्टित खुट्टित केस सुलुट्टित इक्क मही,
जुट्टित फुट्टित सीस, सुखुट्टित तंग गही।
कुट्टित घुट्टित काय बिछुट्टित प्रान सहीं,
कुट्टित आयुध, हुट्टित गुट्टित देह दही।

धड़धद्धरं, धड़धद्धरं भड़भब्भरं भड़भब्भरं,
तड़तत्तरं तड़तत्तरं कड़कक्करं कड़कक्करं।
घड़घग्घरं घड़घग्घरं, झड़झज्झरं झड़झज्झरं,
अररर्ररं अररर्ररं सरर्ररं सरर्ररं।

पद्माकर ने भी अवध के हिम्मत वहादुर नामक एक सामान्य व्यक्ति को लेकर हिम्मत वहादुर विरदावली नामक वीर काव्य की रचना की जिसके संवंध में अन्यत्र विचार किया गया है।

चन्द्रशेखर बाजपैयी

फतेहपुर के कवि पंडित मनीरामजी के ये पुत्र थे तथा इन्होंने अपने जीवन का प्रारम्भिक काल जोधपुर के राजा मानसिंह के दरबार में व्यतीत किया था और जीवन के अन्तिम दिनों पटियाला के राजा कर्मसिंह के यहाँ रहे। इन्होंने 'हमीर हठ' नामक काव्य की सृष्टि की इसके कारण इनकी ख्याति हुई। 'हमीर हठ' के अतिरिक्त विवेक विलास, रसिक विनोद, हरिभक्ति-विलास, नखसिख, वृन्दावन-शतक, गुहपंचाशिका, ताजक ज्योतिष और माधवी बसंत भी इनके द्वारा रचित ग्रन्थ हैं जो विशेष प्रसिद्ध नहीं हैं। इन्होंने परम्परा से प्राप्त काव्य-धारा में श्रृंगार की रचनायें कीं। किन्तु इनकी प्रतिष्ठा का आधार हमीर हठ ही है। इस ग्रन्थ में पूर्ण व्यवस्थित भाषा सुन्दर साहित्यिक योजना, ओज पूर्ण युक्तियों का ऐसा सुन्दर समन्वय हुआ है कि यह ग्रंथ हिन्दी की वीर काव्य परम्परा में सदैव स्मरण किया जायेगा। सर्वत्र सुन्दर तथा विषय के अनुसार पद-विन्यास की योजना अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। कवि केवल साहित्य का मर्मज्ञ ही नहीं था अपितु पंडित भी था।

इस काव्य का नायक हमीर उन वीरों में गिना जाता है जिसने बराबर मुसलमानों से मोर्चा लिया। जिसके संबंध में यह उक्ति विख्यात है "तिरिया तेल हमीर हठ चढ़े न दूजी बार" इस ग्रन्थ में अपभ्रंश और वीरगाथा काल की वीर श्रृंगार परम्परा का अनुसरण किया गया है तथा जायसी के पद्मावत में वर्णित नर्तकी के घायल होने की घटना का वर्णन भी इसमें वहां से लिया गया है। अलाउद्दीन को अत्यन्त डरपोक और क्लीव भी इस काव्य में दिखाया गया है फिर भी यह ग्रन्थ शुक्ल जी के शब्दों में हिन्दी साहित्य का एक रत्न है। यहाँ पर इस कवि की रचना का उदाहरण दिया जा रहा है।

भागे मीरजादे पीरजादे औ अमीरजादे,
भागे खानजादे प्रान मरत बचाय कै।
भागे गज बाजि रथ पथ न संभारें, परैं,
गोलन पै गोल, सूर सहमि सकाय कै।
भाग्यो सुलतान जान बचत न जानि बेगि,
बलित वितुंड पै बिराजि बिलखाय कै।
जैसे लगे जंगल में ग्रीषम की आगि,
चलै भागि मृग महिष बराह बिललाय कै।
थोरी थोरी वैसवारी नवल किसोरी सबै,
भोरी भोरी बातन बिहंसि मुख मोरती।
बसन विभूषन विराजत विमल घर,
मदन मरोरनि तरकि तन तोरती।
प्यारे पातसाह के परम अनुराग-रंगी,
चाह भरी चायल चपल दृग जोरती।
काम-अबला सी, कलाधार की कला सी,
चारु चंपक-लता सी चपला सी चित चोरती।

—:०:—

नवयुग

हिन्दी-गद्य

यद्यपि इस काल में खड़ी बोली का बड़े व्यापक पैमाने पर प्रयोग आरम्भ हुआ, पर यह परम्परा अभिनव नहीं। भारतवर्ष में भी समय-समय पर गद्य-लेखन का कार्य होता रहा। यह निश्चय ही सत्य है कि इसके पूर्व तक हमारे यहाँ गद्य-साहित्य का निर्माण उल्लेख्य योग्य श्रेयस्कर पैमाने पर नहीं हुआ।

गद्य की परम्परा

रीति-काल में गद्य की कृतियों के सम्बन्ध में स्थान-स्थान पर उल्लेख किया जा चुका है। ब्रज-भाषा के साहित्य में या तो वैष्णव वार्ताएँ गद्य में मिलती हैं या टीकाएँ। कहीं-कहीं रीति-काल में रीतिग्रन्थों में भावों को स्पष्ट करने के लिये भी गद्य का प्रयोग किया गया है। साम्प्रदायिक रूप से निर्मित, ब्रजभाषा के गद्य का प्रथम आभास, गोरखनाथ द्वारा रची रचना में मिलता है। कुछ लोग इसे गोरखनाथ की रची रचना नहीं मानते।

वैष्णव-सम्प्रदाय में भी गद्य का प्रयोग भक्ति-युग की रचनाओं में मिलता है। बिट्ठलनाथजी की रचना शृंगार-रसमंडन अव्यवस्थित ब्रजभाषा में लिखी पहली कृति मानी जाती है। उसके बाद 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' का वैष्णव-साहित्य में, जो ब्रजभाषा और राजस्थानी के सम्पुट से अभिभूत है, उल्लेख किया जाता है। इन ग्रंथों के निर्माण-कर्ता गोकुलदास बताये जाते हैं। इनमें पर्याप्त प्रौढ़ता भी है। इसके पश्चात् टीकाओं का युग आता है और यह क्रम बिहारी सतसई की टीकाओं से आरम्भ होकर संवत् १९१० तक चलता रहता है। इन में प्रमुख टीकाओं का नाम और संवत् दिया जा रहा है:—

हरिचरनदास—बिहारी सतसई की टीका—संवत् १८३४।

राजमन-टीका संयुक्त वचनिका—सं० १८३९।

रामचरण—रामचरित मानस की टीका—सं० १८५०।

असनी के ठाकुर—बिहारी सतसई की देवनाइनी टीका—सं० १८५७।

लक्षिमन राव—कवि-प्रिया की लक्षिमन चन्द्रिका टीका—सं० १८६३।

लल्लूलाल—बिहारी सतसई की लालचंद्रिका टीका—सं० १८६५।

काष्ठजिह्वास्वामी—मानसपरिचर्या—सं० १८९५।

ईश्वरीनारायण सिंह—मानस परिचर्या परिशिष्ट—सं० १९०२।

प्रतापसिंह—रसराज की टीका—सं० १८९६।

सरदार कवि—रसिक प्रिया—सं० १९१०।

इन टीकाओं के अतिरिक्त अनेक टीकाएँ और भी लिखी गईं। स्वतंत्र ग्रन्थों का, जो साहित्य की सीमा के भीतर आ सकते हैं, निर्माण भी इस युग में हुआ। उनकी अनुसूची नीचे दी जा रही है।

प्रियादास—सेवक चन्द्रिका–सन् १७६६ ई०।

नवनीतजी—सेवा-विधि सन् १७६५ ई०।

हीरालाल—आइने अकबरी, भाषावचनिका सन् १७६५ ई०।

मणिलाल ओझा—सोमवंशन वंशावली सन् १८२८ ई०।

बोलियों में भी गद्य-साहित्य का निर्माण हुआ। राजस्थानी में भी ख्यात, बात और वार्ता साहित्य का निर्माण हुआ। दरबारों में किस्सा-कहानियों का निर्माण चलता रहा। बघेलखण्डी में महाराज विश्वनाथ सिंह रींवा ने कबीर पर टीका लिखी। रीति-ग्रन्थों में आये गद्य का उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। मैथिली भाषा में भी गद्य की रचना इतस्ततः मिलती है। यद्यपि देखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि किसी न किसी रूप में गद्य की परम्परा हमारे देश में बनी रही, पर वास्तव में ब्रजभाषा में पद्य-साहित्य की ही व्यापकता है, कभी-कभी गद्य लिख दिया जाया करता था। गद्य के अनुरूप स्थिति का निर्माण ही नहीं हुआ था। गद्य में जिससे शैली का प्रवर्त्तन हुआ, व्यापक रूप से जिसके कारण यह कहा जा सकता है कि गद्य के युग का निर्माण जिस बोली के द्वारा हुआ, वह खड़ी बोली है। इस खड़ी बोली की प्रतिष्ठा व्यापक रूप से इस युग में आरम्भ हुई। साहित्य में ऐसी परम्परा रही है कि अतीत के प्रयत्नों का उल्लेख भी कर दिया जाता है, अतएव यहाँ पर खड़ीबोली तथा उसके निकट की परम्परा में प्राप्त रचनाओं का उल्लेख करना आवश्यक-सा है। यह इसलिये भी आवश्यक है कि हमारे भीतर यह धारणा भी बैठा दी गई है कि अंग्रेजों के कारण खड़ीबोली के गद्य का प्रचलन आरम्भ हुआ। गद्य का विकास व्यापक रूप से निश्चय ही अंग्रेजी शासन में अनुकूल परिस्थितियों और वातावरण के कारण बढ़ा, पर इसे अंग्रेजी की देन मानना बहुत बड़ी भूल होगी। संतों की बनियों में, सिद्धों के ग्रन्थों में खड़ीबोली का हलका आभास निश्चित रूप से मिलता है। यह उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की गयी उन रचनाओं में देखा जा सकता है, जो उस युग की चरचा में इस पुस्तक में उदाहरण स्वरूप दी गयी हैं। मुगलों के समय के पूर्व ही खड़ीबोली का काफी प्रचलन था। खुसरो की मुकरियाँ और पहेलियाँ, औलियों द्वारा रचा हिन्दवी-भाषा का साहित्य इसके उदाहरण हैं। दक्षिण में भी शाह मीरान बीजापुरी, शाह बुरहान खान, सैयद मुहम्मद गैशूद राज द्वारा रचित खड़ी बोली के गद्य के नमूने अब भी उपलब्ध हैं।

मुगल काल में लिखित कहे जानेवाले गंग कवि का 'चन्द छन्द वर्णन की महिमा' नाम की खड़ीबोली की रचना प्राप्त हो चुकी है। उसके बाद विकास की यह परम्परा क्षीणप्राय लगती है। १८वीं शदी के पश्चात् खड़ी बोली का व्यापक प्रचार चारों ओर होता दीख पड़ता है। सं० १७६८ में रामप्रसाद निरंजनी और सं० १८१८ में पं० दौलतराम की रचनाएँ क्रमशः योग-वशिष्ठ तथा रवीषेणाचार्य कृत जैन

पद्म-पुराण का हिन्दी अनुवाद सामने आता है । प्रथम की भाषा अत्यन्त परिमार्जित है । दूसरे में ब्रजभाषा का ही प्रभाव है । निरंजनी की भाषा अपने समय से बहुत आगे है । यहाँ तक तो हिन्दी गद्य की परम्परा का उल्लेख हुआ । इसके पश्चात् वास्तविक गद्य-साहित्य का निर्माण आरम्भ होता है । इन सभी प्रकार के गद्यों का उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है ।

हिन्दी-गद्य-विकास की झाँकी

"इतना सुनके पातसाह जी श्री अकबर साहिजी आध सेर सोना नरहरदास चारन को दिया । इनके डेढ़ सेर सोना होगया । रास बंचना पूरन भया । आमखास बरखास हुआ ।

(गंग)

"ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्ता हुए भी निर्लेप रहोगे । और हर्ष शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय, क्रोध से रहित, रहोगे । ० ० ० जिसने आत्मतत्व पाया है वह जिसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो । इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्त्व को देखो तब विगत ज्वर होगें और आत्मपद को पाकर फिर जन्ममरण के बंधन में न आवोगे. . . . .।"

(रामप्रसाद निरंजनी)

"अवल में यहां मांडव्य रिसी का आश्रम था । इस सबसे इस जगह का नाम मांड-व्याश्रम हुआ । इस लफ्ज का बिगड़ कर मंडोवर हुआ है ।"

(मंडोवर का वर्णन सं० १८३०-४०)

"यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं । जो बात सत्य हो उसे कहना चाहिये, कोई बुरा माने कि भला माने । विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है वह प्राप्प हो और उससे निज स्वरुप में लय हूजिये । इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को वहकाइये और फुसलाइये और सत्य छिपाई व्यभिचार कीजिये और सुरापान कीजिए और धन द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए ।"

(मुंशी सदासुखलाल)

"एक दिन बैठे २ यह वात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिला । वाहर की बोली और गंवारी कुछ उसके वीच में नहीं । ० ० ० अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़े लिखे, पुराने धुराने, डांग, बूढ़े घाग यह खटराग लाये. . .और लगे कहने, यह बात होते दिखाई नहीं देती । हिंदवीपन से भी मिले और भाखापन भी न हो । बस, जैसे भले लोग-अच्छे से अच्छे-आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छांव किसी की न हो । यह नहीं होने का ।"

(इंशा अल्ला)

इतना कह महादेव जी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय, नीर में नहाय अति लाड़ प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनन्द में मग्न हो डमरू बजाय बजाय, तांडव नाच नाच संगीत शास्त्र की रीति गाय गाय लगे रिझाने।"

(लल्लूलालजी)

"इस प्रकार से नासिकेति मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किये से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता पिता, मित्र, बालक, स्त्री, वृद्ध, गुरू इनका जो बध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते हैं झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं, अपनी भार्या को त्याग दूसरे की स्त्री को व्याहत औरो की पीड़ा देख प्रसन्न होत और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते हैं वो माता पिता हीं हित बात को नहीं सुनते, सब से वर करते हैं, ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।"

(सदल मिश्र)

"गोरा बादल की कथा गरू के बस, सरस्वती के मेहरबानगी से, पूरन भई। तिस वास्ते गुरू कँ सरस्वती कूं नमस्कार करता है। य कथा सावन से असी के साल में फागुन सदी पूनम क रोज बनाई। ये कथा में दो रस हैं–वीर रस व सिंगार-रस है, सो कथा मोरछड़ो नांव गांव का रहनेवाला कबसर। उस गांव के लोग बहुत सुखी थे घर घर में आनंद होता है, कोई घर में फकीर दिखता नहीं।"

(गोरा बादल की बात–सं० १८८१)

"यीशु ने उसको उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे क्योंकि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिये।"

(इसाइयों का गद्य–सं० १८७५)

"परंतु सोलन की इन अत्युत्तम व्यवस्थाओं से विरोध भंजन न हुआ। पक्षपातियों के मन का क्रोध न गया। फिर कुलीनों में उपद्रव मचा और इसलिये प्रजा की सहायता से पिसिसट्रेटस नामक पुरुष सबों पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियों को दबाकर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अनाचारी कहाया, तथापि यह उस काल में दूरदर्शी और बुद्धिमानों में आग्रगण्य था।"

(मर–सं० १८९६)

"जो सब ब्राह्मण सांग वेद अध्ययन नहीं करते तो सब व्रात्य है, यह प्रमाण करने की इच्छा करकरके ब्राह्मण धर्म-परायण श्री सुब्रह्मण शास्त्रीजी ने जो पत्रसांग-वेदाध्ययन हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप उठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है वेदाध्ययनहीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने सकता नहीं।"

(बंगदूत–सं० १८८६)

हिन्दी-गद्य

नवनिर्माण के अनुष्ठान-कर्त्ता

रामप्रसाद निरंजनी द्वारा लिखा गद्य एक स्वस्थ दिशा का संकेत अपने समय के बहुत पूर्व ही करता है। पर ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होने लगा, देश के शासक इस बात का अनुभव करने लगे कि प्रचलित लोक-भाषा की शिक्षा की व्यवस्था जन-सामान्य से सम्पर्क स्थापित करने के लिये परम आवश्यक है। अंग्रेजों के इस दिशा में दृष्टिपात के पूर्व ही मुँशी सदासुखलाल और इंशा अल्ला खां इस क्षेत्र में उतर चुके थे। संवत् १८६० में अंग्रेजों के क्लर्क तैयार करने के प्रमुख कारखाने फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता में हिन्दी-उर्दू के अध्यापक जान गिल क्राइट न लोक-प्रिय पौराणिक पुस्तकों के निर्माण का आयोजन किया। साथ ही उक्त व्यवस्था में हिन्दी और उर्दू के लिये अलग-अलग प्रवन्ध किया गया। वहीं पर खड़ीबोली में लल्लूलाल जी ने 'प्रेम सागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। इस युग में गद्य के नव-निर्माण के वृहद् आयोजन में जिन सज्जनों ने भाग लिया उनमें मुँशी सदासुखलाल, सय्यद इंशा अल्ला खां, लल्लूलाल और सदल मिश्र ऐतिहासिक महत्व के हैं।

मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज'

(सं० १८०३–सं० १८८१)

मुँशीजी दिल्ली-निवासी थे, चुनार में सरकारी पद पर थे और इनके जीवन के अन्तिम दिन प्रयाग में भगवत्-भजन में व्यतीत हुए। भाषा की दृष्टि से इनका अत्यन्त महत्व है। उर्दू और फारसी के शायर होते हुए भी हिन्दी-गद्य में इन्होंने तत्कालीन पंडिताऊ भाषा को, जो वास्तविक लोक-प्रचलित भाषा थी, व्यवहृत किया। भाषा में निखार एवं संस्कृत के तत्सम शब्दों का ग्रहण भविष्य के पथ-निर्माण में सहायक हुआ।

सुखसागर के अतिरिक्त मुँशीजी की एक अधूरी कृति और मिलती है, जो विष्णु-पुराण के आधार पर लिखित है।

मुंशीजी के निर्माण की सबसे बड़ी विशेषता—जहाँ तक भावना का प्रश्न है—उनकी स्वतः प्रेरणा थी। स्वतः प्रेरणा द्वारा भाषा और साहित्य की सेवा करना निश्चय ही बहुत बड़े निर्माण-कर्ता होने का प्रतीक है।

(शैली का उदाहरण पूर्व अध्याय में)

मुन्शी इंशाअल्ला खाँ

(मृत्यु सं० १८७५)

फोर्ट विलियम कालेज के बाहर उन्मुक्त रूप से निर्माण के अनुष्ठान-कर्त्ताओं में इंशाअल्ला खाँ ने अपना योगदान-उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी–लिखकर किया। वे ऐसी सहज भाषा का चलती पद्धति पर निर्माण करना चाहते थे, जिसमें फारसी और संस्कृत से दूर जन-सामान्य में प्रचलित भाषा को साहित्य की भाषा बनायी जाय। उक्त पुस्तक द्वारा उस कार्य के लिये उन्होंने अपनी भावनाओं को मूर्त्त किया। जहाँ तक सफलता का प्रश्न है भविष्य में उनका पथ नहीं ग्रहण किया गया क्योंकि उसमें सहज-स्निग्ध-प्रवाहमयी भाषा की जीवनी शक्ति नहीं।

जीवन का प्रारम्भ इन्होंने दिल्ली में किया। शायर के रूप में इनकी देन अपने ढंग की है। लखनऊ में भी इनके दिन अच्छी तरह व्यतीत हुए, पर अन्त के दिन अत्यन्त दुःख-दायी थे। उनके गद्य का नमूना यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिंदवी छूट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जब कि मेरा जी फूल की कली के रूप खिले। बाहर की बोली और गंवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने डांग, बूढ़घाग यह खटराग लाये। सिर हिलाकर मुंह थुथाकर, नाक भी चढ़ाकर, आंखें फिराकर लगे कहने––यह बात होते दिखाई नहीं देती : हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जैसे भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते-चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छांह किसी की न हो, यह नहीं होने का। मैंने कहा, मैं कुछ ऐसा बहु बोला नहीं जो राई को परबत कर दिखाऊँ और झूठवसच बोल कर उंगलियां नचाऊँ, और बसिर बे-ठिकाने की उलझी-सुलझयी बातें सुनाऊँ। जो मुझसे न हो सकता, तो यह बात मुंह से क्यों निकालता ? जिस ढब से होता, इस बखेड़े को टालता।

यद्यपि भविष्य के साहित्य में इनकी शैली ग्राह्य नहीं हुई पर इनका ऐतिहासिक महत्व है। मुहावरों का इन्होंने व्यापक रूप से प्रयोग किया। उर्दू का चुलबुलापन भी इनमें मिलता है।

लल्लूलालजी

(सं० १८२०––सं० १८८२)

फोर्टविलियम कालेज के संरक्षण में व्रजभाषा से प्रभावित गद्य-रचनाकार के रूप में लल्लूलाल जी का स्मरण किया जाता है। इन्होंने सं० १८६० में 'प्रेम सागर' की रचना की। 'प्रेम-सागर' भागवत दशम स्कन्ध की कथा पर आधृत है। देशी शब्दों से इन्होंने अपने गद्य को बनाया है। पर फारसी और तुरकी के शब्द भी बीच-बीच में आ गये हैं। व्यासों की अतिरंजना शैली में ऊबा देनेवाला गद्य इनके द्वारा निर्मित हुआ।

पंडित सदल मिश्र

फोर्ट विलियम कालेज में लल्लूजी के साथ ही बिहार-निवासी पं० सदल मिश्र का योग भी हिन्दी-गद्य-निर्माण के लिये लिया गया। इन्होंने व्यावहारिक खड़ी बोली का रूप लिया, पर इनके प्रभुओं को लल्लूलालजी की भाषा अधिक पसन्द आयी। पूरबी बोली तथा ब्रजभाषा के प्रभाव से ये अपने को पूर्णतया न बचा पाये। उनका प्रभाव इनके गद्य पर इतस्ततः है।

इन चार-कृतिकारों में नव-निर्माण की दिशा में बाद के लेखकों ने कुछ अंशों तक मुंशीजी और सदल मिश्र के गद्य का संस्कृत रूप ग्रहण किया। उनकी शैली का उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है।

श्री शुकदेव मुनि बोले कि महाराज ! ग्रीष्म की अति अनीति देख नृप पावस प्रचंड पशु, पक्षी, जीव, जन्तुओं की दशा विचार चारों ओर से दल बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बाजता था और वर्ण की घटा जो घिर आई थी, सोई शूर वीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की-सी चमकती थी, बगपांत ठौर-ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी, दादुर, मोर, कड़खेतों की-सी भांति यश बखानते थे और बड़ी-बड़ी बूंदों की झड़ी बाणों की-सी झड़ी लगी थी। इस धूमधाम से पावस को आते देख, ग्रीष्म खेत छोड़ अपना जी ले भागा, तब मेघ पिया ने वर्षा, पृथ्वी को सुख दिया। उसने जो आठ महीने पिय के वियोग में योग किया था, तिसका भोग भर लिया। उस काल वृन्दावन की भूमि ऐसी सुहावनी लगती थी कि जैसे श्रृंगार किये कामिनी और जहाँ-तहाँ नदी, नाले, सरोवर भरे हुए तिन पर हंस, सारस शोभा दे रहे ऊँचे-ऊँचे रूखों की डालियाँ झूम रही उनमें पिक चातक कपोत कीर बैठे कोलाहल कर रहे थे और ठांव-ठांव सूहे कुसुम्भे जोड़े पहरे गोपी ग्वाल झूलों पर झूल-झूल ऊँचे सुरों से मलारें गाते थे। उनके निकट जाय जाय श्रीकृष्ण बलराम भी बाल-लीला कर कर अधिक सुख दिखाते थे।

(लल्लूलालजी)

राजा रघु ऐसे कहते हुए वहां से तुरन्त हर्षित हो उठे। वो भीतर जा मुनि ने जो आश्चर्य की बात कही थी सो पहिले रानी को सब सुनाई। वह भी मोह से व्याकुल हो पुकार-पुकार रोने लगी। वो गिड़गिड़ा-गिड़गिड़ा कहने लगी कि महाराज ! जो यह सत्य हैं तो अब ही लोग भेज लड़के समेत झट उसको बुला ही लीजिये क्योंकि अब मारे शोक के मेरी छाती फटती है। अब मैं सुन्दर बालक सहित चन्द्रावती के मुंह कि जो वन में रहने से भोर के चन्द्रमा-सा मलीन हुआ होगा देखूंगी। देखो यह कर्म का खेल कहां-कहा नना भांत भोग-विलास में वो फूलन्ह के बिछौने पर सुख से जिसके दिन रात बीतत थे सो अब जंगल में कन्दमूल खा काट, कुश पर सोकर स्यारों के चहुंदिशि डरावन शब्द सुनि कैसे विपत्ति को काटती होगी।

(सदल मिश्र)

नव-निर्माण की व्यापक दिशा

इसके पश्चात् संवत् १९१५ तक गद्य के क्षेत्र में कोई ऐतिहासिक महत्व का कार्य होता नहीं दीखता। ईसाई धर्म-प्रचारक सं० १८६० से ही गद्य का उपयोग अपने धर्म-प्रचार के कार्य में करते रहे। बाइबिल के अनुवाद में विशेष दिलचस्पी दिखाई गई। विलियम केरे ने इंजील का तथा बाइबिल का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया! ईसाई-ग्रन्थ के अनुवाद का क्रम संवत् १८७५ तक चलता रहा और उनका आदर्श मुँशी सदासुख लाल और लल्लूलाल की भाषा रही। अंग्रेजी की शिक्षा व्यापक हो गई थी। उसका परिणाम यह हुआ कि संवत् १८९० में आगरे में पादरियों ने बुक सोसाइटी की स्थापना की और इन्होंने अनेक शिक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित किये। ये सभी पुस्तकें शिक्षा सम्बन्धी थीं। स्कूल के लिये रीडरें भी इन्होंने प्रकाशित कीं।

ईसाइयों के इस व्यापक आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप हिन्दुओं में व्यापक चेतना की जाग्रति हुई और अपने धर्म की रक्षा करने के लिये युग के अनुरूप नये आलम्बनों का सहारा लिया गया। संवत् १८७२ में वेदान्त-सूत्रों का हिन्दी-भाष्य प्रकाशित हुआ तथा संवत् १८८६ में बंगदूत नाम का एक संवाद-पत्र भी निकला।

इनके अलावा सर्वाधिक महत्व इस युग का इस माने में है कि हिन्दी पत्रकारिता इसी युग से आरम्भ होती है! आरम्भ में देशी भाषाओं में बंगला में पत्र निकले। हिन्दी में इसका प्रवर्त्तन कलकत्ते में पंडित युगलकिशोर शुक्ल द्वारा हुआ। संवत् १८८३ में हिन्दी का पहला संवाद पत्र 'उदण्ड मार्तण्ड' नाम से निकला। यह हिन्दी का पहला समाचार पत्र था। संवत् १८८६ में राजा राममोहनराय की प्रेरणा से 'बंगदूत' नामक एक पत्र और निकला जिसमें बंगला का प्रभाव स्पष्ट दीखता है। पहला पत्र साप्ताहिक था और एक वर्ष के भीतर ही वन्द हो गया। इसके पश्चात् संवत् १८९१ में 'प्रजामित्र' और संवत् १९०१ में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का 'बनारस' नामक पत्र प्रकाशित हुआ। 'बनारस' का उद्देश्य भाषा का प्रचार था। इसके सम्पादक तारा-मोहन मित्र थे। इसके बाद के पत्रों पर आगे विचार किया जायगा।

उधर अंग्रेजों की भेद-भाव की नीति के कारण तथा सर सैय्यद अहमद खां के प्रयत्नों के फलस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी पर व्यापक प्रहार हुआ। यह क्रम चलता रहा।

संवत् १८९३ में अदालती काम प्रचलित भाषाओं में करने के लिये इस्तहारनामे निकले। अरबी और फारसीवालों का प्रभाव यह हुआ कि हिन्दी के विरुद्ध ऐसे कुचक्र रचे गये जिससे अन्ततोगत्वा उत्तर प्रदेश की सरकार ने पुनः यह घोषणा की कि अब से उर्दू हमारे प्रान्त के सब दफ्तरों की भाषा होगी। यह घोषणा संवत् १८९४ में हुई। इसका परिणाम यह हुआ, यह स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्दगुप्त के शब्दों में इस प्रकार है:—

"जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे, फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी भाषा हिन्दी न रहकर उर्दू बन गई।....हिन्दी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।"

नव युग का आभास

इसका परिणाम यह हुआ कि लोग अरबी, फारसी की ओर निरन्तर झुकते गये। किन्तु इस दिशा में एक नवीन चेतना का सन्देश लेकर संवत् १९०२ में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द आये। उन्होंने बड़े मनोयोग से इस दिशा में कार्य किया। उनकी ही प्रेरणा से 'बनारस' अखबार निकला जिसकी चरचा पहले ही की जा चुकी है। यद्यपि 'बनारस' अखबार देवनागरी लिपि में निकला था, तो भी उसकी भाषा हिन्दुस्तानी ढर्रे की थी। उर्दू के भक्तों ने हिन्दी के ऊपर जो जुल्म ढाये उसका परिणाम यह हुआ कि रोजी और रोटी के लिये प्रत्येक भारतीय को उर्दू और फारसी पढ़ना पड़ा। ऐसे ही समय में राजा शिवप्रसाद का 'आगमन' हिन्दी के क्षेत्र में हुआ उन्होंने देवनागरी के प्रसार देने के लिये व्यापक प्रयत्न किया। 'बनारस' की भाषा का नमूना यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है:—

"यहाँ जो नयी पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बना है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है। . . . देखकर लोग उसे पाठशाले के किले के मकानों की खूबियाँ अक्सर बयान करते हैं और उनके बनने के खर्च की तजबीज करते हैं कि जमा से जियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के है। सो यह सब दानाई साहब ममदूह की है।"

ऐसे ही समय राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द संवत् १९१३ में शिक्षा-विभाग में नियुक्त हुये।

गद्य-साहित्य का निर्माण

राजा शिवप्रसाद

राजासाहब जिस समय शिक्षा-विभाग में आये, उस समय हिन्दी का व्यापक विरोध था। अंग्रेज भी उर्दू परस्त थे। अंग्रेज फूट का बीज डालकर अपने शासन को दृढ़ बना रहे थे। भाषा का विभेद इस दृढ़ता का आलम्बन बनाया जा रहा था। राजासाहब सरकार के खैरख्वाहों में से थे। यद्यपि उर्दू का रंग उनपर भी था तो भी देवनागरी लिपि के वे प्रेमी थे। पर सम्भवतः उनमें इतना साहस न था कि अंग्रेजों की नीति का विरोध कर सकें। अतएव उनमें उर्दू-फारसी परस्ती तो थी ही, भले ही यह शासकों को प्रसन्न करनेवाली नीति के कारण रही हो। सरकारी पद, राजा का व्यामोह सभी कुछ उनको सत्य-मार्ग पर चलने से रोक रहा था। परिस्थितियों के बन्धन को तोड़ना बड़े आदमियों का काम हुआ करता है। इस अर्थ में राजासाहब सामान्य व्यक्तियों की भांति थे। उनका भाषा पर ऐसा अधिकार था कि प्रवाहपूर्ण सहज हिन्दी में रचना कर सकते थे, उन्होंने किया भी कुछ अंशों में वैसा ही, पर उनमें नायक होने की माद्दा नहीं थी। 'मानव-धर्म सार' 'योगवाशिष्ठ के चुने हुए श्लोक', 'उपनिषद-सार', 'भूगोल-हस्ता-मलक', 'आलसियों का कोड़ा', 'वर्णमाला', 'राजा भोज का सपना', 'और 'विद्यांकुर' आदि रचनाएँ उनके पूर्व कथित शक्ति की परिचायिका हैं।

दिनोत्तर उनका झुकाव उर्दू और फारसी की ओर होता गया। देवनागरी लिपि में उर्दू लेखन का कार्य उन्होंने अपना लिया। उर्दू को ही वे देश की मुख्य भाषा मानते थे। परिणाम यह हुआ कि 'इतिहास-तिमिर-नाशक' नामक उनके बाद लिखे गये ग्रन्थ में फारसी शब्दों की प्रधानता है। यद्यपि उनके इस ग्रन्थ में भी उनकी पुरानी लेखन-शैली कहीं-कहीं मिल जाती है, तो भी उर्दू परस्ती का जादू राजासाहब के सर पर चढ़कर बोलता नजर आता है। फारसी वाक्य-विन्यासों से भी वे भाषा को भरने लगे। कहना न होगा कि राजा शिवप्रसाद अंग्रेजों के इंगित पर नाच रहे थे। उनके आयोजन को सफल बनाने में प्राण-पण से सचेष्ट थे। यहाँ उनके गद्य के नमूने विभिन्न शैलियों के दिये जा रहे हैं।

हिन्दी शैली

राजा की आंखों में नींद छा रही थी। उठकर रनिवास में गया। जड़ाऊ पलंग और फूलों की सेज पर सोया।

स्वप्न में क्या देखता है कि वह संगमरमर का मन्दिर बनकर तैयार हो गया। देखते ही मारे घमंड के फूलकर मश्क़ बन गया। कभी नीचे, कभी ऊपर, कभी दाहिने, कभी

बायें निगाह करता और मन में सोचता कि क्या अब इतने पर भी मुझे कोई स्वर्ग में घुसने से रोकेगा या पवित्र पुण्यात्मा न कहेगा ? इसी अरसे में वह राजा सपने में उस मन्दिर में क्या देखता है कि एक जोत-सी उसके सामने आसमान से उतरी चली आती है । उस प्रकाश हजारों सूर्यों से भी अधिक है । राजा उसे देखते ही कांप उठा और लड़खड़ाती जबान से बोला--हे महाराज ! आप कौन हैं ? और मेरे पास किस प्रयोजन से आये हैं ? उस पुरुष ने उत्तर दिया--मैं सत्य हूँ और अन्धों की आंखें खोलता हूँ । उनके आगे से धोखे की टट्टी हटाता हूँ और मृग-तृष्णा में भटके हुओं का भ्रम मिटाता हूँ तथा सपने में भूले हुओं को नींद से जगाता हूँ । रे भोज ! यदि कुछ हिम्मत रखता है तो आ, हमारे साथ आ और हमारे तेज के प्रभाव से मनुष्य के मन का भेद ले । इस समय हम तेरे ही मन का भेद ले तेरे ही मन को जांच रहे हैं ।

उर्दू शैली

"यहां जो नया पाठशाला जनाब किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मद से बनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है ।"

:o: :o: :o:

नीचे लिखी शर्तें अहदनामेकी जिनका कायम रखना दोनों तरफ वारिश और जानशीनों पर फर्ज होगा, दरमियान राजा रनजीत सिंह और चार्ल्स थियाथिलस मेटकाफ साहिब की मार्फत सरकार अंग्रेजी की अमल में आई । --इतिहास तिमिर नाशक

इस अनैसर्गिक भाषा के लिये राजासाहब की पीठ भी अंग्रेजों द्वारा ठोकी गयी । हिन्दी-ज्ञाता अंग्रेज उनमें प्रमुख थे । राजासाहब ने उर्दू के प्रचार और प्रसार में सहायता पहुँचायी--इस तथ्य को अंग्रेज लोगों ने राजासाहब के प्रसंग में अनेक बार उल्लिखित भी किया ।

फिर भी राजा साहब देवनागरी के प्रचार में सहायक हुए--इसमें सन्देह नहीं ही किया जा सकता ।

प्रतिक्रिया

'बनारस' के अनगढ़ प्रयत्नों तथा राजासाहब की उर्दूपरस्ती की प्रतिक्रिया हुए बिना न रही । इन प्रयत्नों को, जो राष्ट्र-हित तथा हिन्दी-हित विरोधी थे, आगे बढ़ने देना समाज के स्वस्थ विकास के लिये हानिप्रद ही नहीं, उसका गला घोटनेवाला था । ऐसी परिस्थिति में एक व्यापक जाग्रति का उद्भव लोगों के बीच हुआ । सरकारी शिक्षाविभाग में भी इसकी प्रतिक्रिया वीरेश्वर चक्रवर्ती के ऊपर हुई और उन्होंने राजासाहब का मार्ग ग्रहण नहीं किया । राजासाहब की भाषा भी बाद में जानदार नहीं, बनावटी रह गयी थी ।

संवत् १६०७ में 'वनारस' के उत्तर रूप में 'सुधारक' का उदय तारामोहन मित्र आदि के उद्योग से हुआ। प्रयत्न सराहनीय था; भाषा की दृष्टि से, पर तत्काल ही अर्थाभाव ने इसका गला टीप दिया। किन्तु संयोग से सं० १६०६ में आगरे से 'बुद्धि-प्रकाश!' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। उसकी भाषा अपने समय के अनुसार व्यवस्थित हिन्दी गद्य का अच्छा उदाहरण थी। यह पत्र बाद में भी कई वर्षों तक निकलता रहा। इसकी भाषा का एक अंश उदाहरण के रूप में दिया जा रहा है:—

"यह काम उन्हीं का है कि शिक्षा के कारण बाल्यावस्था में लड़कों को भूल-चूक से बचावें और सरल-सरल विद्या उन्हें सिखावें।"

सर सैय्यद अहमद खां, अंग्रेजों तथा उनके भक्तों की छाया में, व्यापक प्रयत्न इस बात का कर रहे थे कि कचहरियों से राज-भाषा के रूप में हिन्दी उखाड़ फेंकी ही गयी, अब शिक्षा के क्षेत्र से भी विलग कर दी जाय। अंग्रेजों की मशीनरी के साथ फ्रांस-स्थित हिन्दी के ज्ञाता और अध्यापक गाँसा दतासी ने भी इस कार्य में सर सैय्यद का साथ दिया। इन्होंने सं० १८६६ में हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास लिखा था जिसमें कुछ हिन्दी के प्रमुख कवियों की चर्चा की थी। उर्दू, सर सैय्यद और इस्लामियत के नाम पर, हिन्दी को भाषा के रूप में अपनी पूर्व मान्यता को भी इस फ्रांसीसी ने तिलांजलि दे डाली। पर हिन्दी तो जन-मन पर सिक्का जमा चुकी थी। उसकी साधना से जनता प्रभावित थी, वह तो उसे अपने जीवन-मरण का प्रश्न समझती थी। अतएव इसका उत्तर जनता ने दिया। यह आन्दोलन गद्य के निर्माण को लेकर था, पद्य की भाषा परम्परागत ब्रजभाषा ही रही।

राजा लक्ष्मण सिंह

ऐसे ही अवसर पर हिन्दीवालों का नेतृत्व राजा लक्ष्मण सिंह ने किया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि:—

"हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी है। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोल चाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-पारसी के। परन्तु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी, पारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी, पारसी के शब्द भरे हों।..."

राजासाहब विशिष्ट सिद्धान्तों को लेकर हिन्दी के क्षेत्र में पधारे थे। उनकी भाषा न केवल विशुद्ध हिन्दी भाषा थी, अपितु संस्कृत के सहज, सरल प्रवाहमय शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने किया। अरबी और फारसी के शब्द, जो अत्यन्त व्यापक प्रसार पा चुके थे, सीमित मात्रा में उनकी भाषा में मिलते हैं। ब्रजभाषा के प्रभाव के लक्षण भी उनके गद्य में वर्त्तमान हैं, फिर भी उनकी रचनाओं में निश्चय ही प्रारंभिक हिन्दी गद्य का वह प्रौढ़ आदर्श प्रतिष्ठित हुआ जिसने भविष्य के लिये द्वार खोल दिया। उनकी शैली भावना-प्रधान है। उनकी प्रमुख कृतियों में कालिदास-कृत मेघदूत, शकुन्तला

और रघुवंश का अनुवाद है। उनका स्वागत भी हिन्दी जगत ने जी खोलकर किया। भावना-प्रधान शैली होने के कारण अन्य सामाजिक वाङमय के उपयुक्त उनकी शैली नहीं है, फिर भी साहित्यिक दृष्टि से वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कहीं-कहीं पाठक को ऐसा आभास होने लगता है कि वास्तव में उनकी गद्यशैली राजा शिवप्रसाद की प्रतिक्रिया के रूप में उद्भूत हुई, पर इतस्ततः उनके दृष्टिकोण की व्यापकता भी झलक उठती है। क्योंकि लोक में प्रचलित और प्रतिष्ठित अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने में उन्होंने संकोच नहीं किया। साथ ही इनके गद्य का प्रभाव हिन्दी के आगामी विकास के लिये अत्यन्त लाभदायक भी प्रमाणित हुआ।

अन्य गद्यकार

इस युग में इन प्रमुख लेखकों के अतिरिक्त अन्य लोगों ने शिक्षा-प्रसार और अनुवाद के द्वारा हिन्दी गद्य को प्राणवान् बनाया। इन लेखकों की एक अनुक्रमणिका यहाँ प्रस्तुत की जा रही है:—

पंडित वंशीधर

रचनायें—१—पुष्पवाटिका (गुलिस्तां के एक अंश का अनुवाद, संवत् १६०६)
२—भारतवर्षीय इतिहास (संवत् १६१३)
३—जीविका-परिपाटी (अर्थशास्त्र संवत् १६१३)
४—जगत् वृत्तांत (संवत् १६१५)

इन्होंने हिन्दी, उर्दू दो कालमों में एक पत्र भी निकाला था जिसमें हिन्दी कालम का नाम भारत-खंडामृत और उर्दू कालम का नाम आवेहयात था। इनके अतिरिक्त पंडित श्रीलाल (संवत् १६०६) बिहारीलाल, पंडित बदरीलाल आदि लेखक हुए। साथ ही सर्वश्री रामप्रसाद त्रिपाठी, मथुराप्रसाद मिश्र, ब्रजवासी दास, शिवशंकर, काशी-नाथ खत्री आदि ने भी इस क्षेत्र में व्यापक योगदान किया। हिन्दी के लिये पंजाव के बावू नवीनचंद ने भी व्यापक आन्दोलन किया। आर्यसमाज की स्थापना की चर्चा पहले ही की जा चुकी है और स्वामी दयानन्द की महती साधना से परिचित कराया जा चुका है। कहना न होगा कि इनके द्वारा प्रवर्तित, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन जितना व्यापक हुआ, वादविवादों ने भाषा में जिस सत्य का संचार किया, वह भाषा के विकास के इतिहास में सदैव ही प्रमुख स्थान पायेगा। बावू नवीनचंद राय ने तो पत्रिकायें भी निकलवाईं। पंजाव उर्दू का सदैव से ही गढ़ रहा है। श्रद्धाराम फुलौरी ने भी हिन्दी संस्कृत और आर्यसमाज के प्रवर्तन में व्यापक योगदान किया। कहा तो यहाँ तक जाता है कि कपूरथला नरेश महाराज रणधीर सिंह इनके उपदेश के प्रभाव से धर्मच्युत होने से बच गये। उर्दू पर भी इनका व्यापक अधिकार था। गद्य-पद्य दोनों में ये रचनायें करते थे तथा वड़ा सुन्दर व्याख्यान भी देते थे। इन्होंने संवत् १६१० से ही अपना कार्य आरम्भ कर दिया था। स्थान-स्थान पर पंडित घूमता रहा और वर्णाश्रम, आर्य सभ्यता के उपदेश घर-घर में विखेरता रहा। वाणी का वह जादूगर था। स्वतंत्र विचारों का, वेदशास्त्रों का,

निरन्तर वह प्रचार करता रहा। कभी-कभी विचारों के क्षेत्र में उन्होंने जमकर दयानन्दजी से वाद-विवाद भी किया। पर जब तक वे जीवित रहे, पंजाब के सर्वाधिक आस्थाप्राप्त नेता बने रहे। इनकी रचनाओं के नाम नीचे दिये जा रहे हैं:—

सत्यामृत प्रवाह–सिद्धान्त-ग्रन्थ।

आत्मचिकित्सा–(संवत् १९२४) आध्यात्म ग्रंथ–हिन्दी अनुवाद–संवत् १९२८।

तत्वदीप, धर्मरक्षक, उपदेश संग्रह, (व्याख्यानों का संग्रह) सतोपदेश इत्यादि धार्मिक ग्रंथ।

भाग्यवती (संवत् १९३४ उपन्यास)।

१४०० पृष्ठों का आत्मचरित भी लिखा था जो कहीं खो गया। ऐसी परिस्थिति में ही ऐसे समाज-सेवियों, हिन्दी सेवियों तथा सरकार और पत्रकारों के प्रयत्नों से हिन्दी भाषा राजमार्ग पर आई, जिसका स्पष्ट आभास भारतेन्दु के समय में लगा।

स्वस्थ साहित्यका उद्भव

संवत् १९२५ से १९५०

जिन परिस्थितियों का उल्लेख किया जा चुका है उनसे यह भलिभांति मालूम होता है कि हिन्दी में गद्य की प्रतिष्ठा व्यापक रूप से प्रारंभ होने तथा साहित्यिक नव-निर्माण के लिये अभिनव आयोजन की व्यवस्था हो चुकी थी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हाथ में अबकी बार नेतृत्व आया। उन्हें संयोग से अच्छे सहयोगी भी मिल गये थे। इन सहयोगियों में प्रमुख रूप से निम्नलिखित लोग थे, जिन लोगों ने उनके साथ साहित्य के निर्माण के लिये न केवल व्यापक आयोजन किया, अपितु नवीन ढंग से प्राणपण से जुट कर हिन्दी-गद्य के साहत्यि की अभिवृद्धि में लगन, निष्ठा और आस्थापूर्वक योग दान किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०), श्रीनिवास दास (१८५१-१८८७ ई०), बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१३ ई०), प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४ई०), राधाकृष्ण दास (१८६५-१९०७ई०), स्वामी दयानन्द (१८२३-१८८३ ई०), कार्तिक-प्रसाद खत्री (१८५१-१९०४ ई०), राधाचरण गोस्वामी (१८५९-१९२५ ई०), बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५-१९२३ ई०), ठाकुर जगमोहन सिंह (१८५७-१८९९ ई०), देवीप्रसाद मुंसिफ (१८४७-१९२३ ई०), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९२३ ई०), तोताराम वर्मा (१८४६-१०९२ ई०), देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३ ई०), अम्बिकादत्त व्यास (१८५८-१९०० ई०) आदि।

इस अनुष्ठान में इस युग की पत्र-पत्रिकाओं ने भी महत्वपूर्ण योगदान व्यापक पैमाने पर किया, जिसकी एक तालिका यहां दी जा रही है। ये सभी पत्र पत्रिकाएँ इसी काल में निकलीं।

पत्र	संवत्	सम्पादक
१ अलमोड़ा अखबार	१९२८	सदानन्द सनवाल
२ हिन्दी-दीप्ति प्रकाश	१९२९	कार्तिकप्रसाद खत्री
३ बिहार-बंधु	१९२८	केशवराम भट्ट
४ सदादर्श	१९३१	ला० श्रीनिवास दास
५ शशी पत्रिका	१९३३	ला० बालेश्वरप्रसाद
६ भारत-बंधु	१९३३	तोताराम
७ भारत-मित्र	१९३४	रुद्रदत्त
८ मित्र विलास	१९३४	कन्हैयालाल

६	हिन्दी प्रदीप	१६३४	बालकृष्ण भट्ट
१०	आर्यदर्पण	१६३४	बख्तावर सिंह
११	सार सुधानिधि	१६३५	सदानन्द मिश्र
१२	उचितवक्ता	१६३५	दुर्गाप्रसाद मिश्र
१३	सज्जन कीर्त्ति-सुधाकर	१६३५	बंशीधर
१४	भारत दुर्दशा-प्रर्वतक	१६३६	गणेशप्रसाद
१५	आनंद कादम्बिनी	१६३८	बदरीनारायण चौधरी
१६	देश-हितैशी	१६३६	....
१७	दिनकर प्रकाश	१६४०	रामदास वर्मा
१८	धर्म दिवाकर	१६४०	देवीसहाय
१६	प्रयाग समाचार	१६४०	देवकीनन्दन त्रिपाठी
२०	ब्राह्मण	१६४०	प्रतापनारायण मिश्र
२१	शुभ चिंतक	१६४०	सीताराम
२२	सदाचार मार्तण्ड	१६४०	लालचन्द्र शास्त्री
२३	हिन्दोस्थान	१६४०	राजा रामपाल सिंह
२४	पीयूष प्रवाह	१६४१	अम्बिकादत्त व्यास
२५	भारत-जीवन	१६४१	रामकृष्ण वर्मा
२६	भारतेन्दु	१६४१	राधाचरण गोस्वामी
२७	रविकुल-रंजन-दिवाकर	१६४१	रामनाथ

इन पत्रों के अतिरिक्त अन्य प्रमुख पत्रिकाएँ भी बराबर प्रकाशित होती रहीं । उनकी सेवायें अमूल्य हैं तथा उनका वर्णन यथा स्थान किया जायगा । यहां तो केवल इतना ही अभीष्ट है कि ऐसी संभावनाओं के बीच भारतेन्दु का हिन्दी-साहित्य में उदय हुआ ।

भारतेन्दु-मण्डल

भारतेन्दु

जीवन में उदार होना और उदार होकर ज्योति जगाना विरले पुरुषों का काम हुआ करता है। 'यदा यदाहि धर्मस्य' के अनुसार समय पर ईश्वर का अवतरण होता है। उसी प्रकार युग की माँग पर कभी महाराणा प्रताप, कभी तुलसी और कभी राजा राममोहन राय उत्पन्न हुआ करते हैं। भारत में युग-निर्माता समय-समय पर अनेक होते रहे हैं जिन्होंने युग को दृष्टि-दान दिया है। भारतेन्दुजी भी ऐसे ही युग-विधायक साहित्यकारों में से एक थे।

आपका जन्म काशी में संवत् १९०७ की ऋषि पंचमी को एक संभ्रांत कुल में हुआ था। आपके पूर्वज दिल्ली से कलकत्ता आकर रहने लगे थे। कम्पनी के शासन-काल में ही ऐसा हुआ था। यहाँ वे व्यापार करते थे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिताजी का नाम गोपालचन्द था। ये ब्रज भाषा के अच्छे कवि थे। गिरधरदास इनका उपनाम था। ये परम वैष्णव थे। इनके दो ही प्रिय कार्य थे, कविता बनाना और पूजा-पाठ करना। कहा जाता है कि ये पाँच भक्ति-पद बनाये बिना खाना नहीं खाते थे। ऐसे ही विद्वान् भक्त कवि की संतान थे, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी।

भारतेन्दुजी प्रतिभा-सम्पन्न बालक थे। होनहार बिरवान के होत चीकने पात की भाँति उनकी विलक्षण प्रतिभा बचपन में ही उस समय दिखाई पड़ी जब उन्होंने ५ वर्ष की ही अल्पावस्था में अपने पिताजी को निम्नलिखित दोहा पढ़कर सुनाया।

ले ब्योढ़ा ठाढ़े भये श्री अनिरुद्ध सुजान।
बानासुर की सैन्य को हनन लगे भगवान॥

पिता को अपने बालक की प्रतिभा पर प्रसन्नता हुई। वह उसे कुल-उजागर समझने लगे, किन्तु अपने पुत्र का भविष्य देखने के पूर्व ही वे विदा हो चुके थे। ९ वर्ष की ही अवस्था में उन्होंने अपने पुत्र का यज्ञोपवीत किया और उसके बाद वह उसे (हरिश्चन्द्र को) सदा के लिए छोड़कर चले गये। आपकी माता चार वर्ष पहले ही आँखें मूंद चुकी थीं। अल्पावस्था में ही माता-पिता के प्यार से वंचित हो भारतेन्दुजी कुछ स्वतंत्रता का अनुभव करने लगे। उन्होंने अपने वास्तविक जीवन में माता-पिता के प्यार से वंचित होकर ही प्रवेश किया। इनके वियोग से उन्हें दुख होने के बजाय एक विचित्र बेफिक्री का अनुभव हुआ। चिन्ता की एक हल्की रेखा भी अब उनके चेहरे पर न दिखायी देती थी।

पिता के संरक्षण में उनकी शिक्षा बाल्यावस्था में घर पर ही आरंभ हुई । प्रमुख विद्वान् आपको हिन्दी और संस्कृत पढ़ाते थे । मौलवी ताजअली आपके उर्दू और फारसी के अध्यापक थे । आप पंडित नन्दकिशोर जी से अंग्रेजी की शिक्षा पाते थे । पिता की मृत्यु के पश्चात् आपने क्वींस कालेज में भी नाम लिखाया था, पर वहाँ आपका जी न लगा । आप तो मस्तमौला थे, स्वतंत्र थे, बेफिक्र थे, कालेज का बंधन आपको स्वीकार न था और कविता में दिनों दिन आपकी रुचि बढ़ती गई । परिणाम यह हुआ कि एक दिन आपने कालेज छोड़ दिया । १३ वर्ष की अवस्था में आपका विवाह शिवाले के रईस लाला गुलाबराय की सुपुत्री मन्नादेवी से बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ । इसके बाद ही सपरिवार जगन्नाथपुरी की यात्रा की । पढ़ना, लिखना छूट गया । इस यात्रा में उनका परिचय बंगाल के कुछ नये कलाकारों से भी हुआ । उस समय बंगाल के सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन में एक विचित्र आन्दोलन था । साहित्य के विविध अङ्गों का निर्माण हो रहा था । भारतेन्दुजी इससे बहुत प्रभावित हुए । हिन्दी में नवयुग की चेतना का सूत्रपात अभी नहीं हुआ था । संवत् १६२३ में बुलन्द शहर, चुनार, लखनऊ, मसूरी, हरिद्वार, कानपुर, लाहौर, अमृतसर, दिल्ली आदि स्थानों का भी पर्यटन किया । इन यात्राओं के बाद ही आपने बड़ी द्रुत-गति से साहित्य-सेवा आरम्भ कर दी ।

आपने १७ वर्ष की अवस्था में ही 'कवि-वचन-सुधा' नाम की पत्रिका निकाली । उन दिनों पत्रिका निकालना कोई आसान कार्य न था । जनता में खरीदकर पढ़ने की आज जैसी रुचि का भी अभाव था । इस पत्रिका में पुराने कवियों की रचनाएँ छपती थीं । बाद में इसमें हिन्दी गद्य भी छपने लगा । कुछ अंक निकलने के बाद इस पत्रिका का नाम भी हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका हो गया । इसी पत्र में ही हरिश्चन्द्र की परिमार्जित हिन्दी प्रथम बार दिखायी पड़ी । आपने एक पत्रिका और हरिश्चन्द्र मैगजीन नाम की निकाली थी ।

जिस प्रकार काशी तीन लोकों से न्यारी है, उसी प्रकार भारतेन्दु का व्यक्तित्व भी तीन लोक से न्यारा था । उन्होंने अपने जीवन में किसी बात की परवाह न की । बेफिक्र थे, अपने मन के राजा थे, दिल के बादशाह थे । सरस्वती की पूजा करते थे, पर लक्ष्मी को दोनों हाथ से उड़ाते थे । वे कहते थे कि धन ने मेरे परिवार को खाया है, अब मैं इसे खाऊँगा । जो गरीब उनके दरबार में गया वह कभी खाली नहीं लौटा । ये हरिश्चन्द्र युग के महान व्यक्ति थे । राह चलते हुए मार्ग के दीन-दुखियों को अपने वस्त्र तक उतारकर देने की कहानी तो उनकी रोज की घटना थी । एक बार आप विश्वनाथ जी का दर्शन करके लौट रहे थे । आपके कन्धे पर दो दिनों का ही खरीदा कीमती दुशाला था । आपने देखा कि गली के किनारे एक भिखारी जाड़े में थरथरा रहा है । उन्होंने तत्क्षण दुशाला उतार कर दे दिया । इस महान् कलाकार के लिये कठिन शीत में थरथराने की पीड़ा के सम्मुख दुशाले का मूल्य कुछ भी नहीं था । किसको क्या दिया, यह वह कभी सोचते नहीं थे । जीवन के अन्तिम दिनों में उनकी आर्थिक स्थिति खराब हो गयी थी । उन्होंने

एक बार किसी कार्यवश बाबू जगत्नारायण गौड़, श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़, वेढब बनारसी के पिता से २) रुपया उधार लिया था। रुपया आने पर उन्होंने उसे तुरन्त लौटा दिया। और विचित्र बात तो यह है कि एक बार नहीं कई बार लौटाया। जब कभी उनका और गौड़ जी का मिलन हो जाता, तो बाबू साहब कहते—हाँ भाई तुम अपना रुपया लेलो। एक बार तो गौड़जी ने इनकार भी किया और कहा, आपसे मैं रुपया पा गया हूँ, किन्तु वे नहीं माने और कहते रहे कि गलत कह रहे हो। इस प्रकार उन्होंने जिससे लिया भी उससे एक बार लेकर कई बार दिया।

आपकी मित्रमंडली भी संस्कृत-साहित्यकार बाण की तरह बड़ी विचित्र थी। उसमें राजे, रंक, फकीर सभी थे। तुक्कड़, सम्पादक, हिन्दी-हितैषी, लेखक, कवि, गुंडे, भी थे। भारतेन्दु जी का परिचय सज्जन-असज्जन दोनों से था। उनके विलक्षण व्यक्तित्व के कारण ही महलों से लेकर कुटियों तक के लोग उनके पास आते थे। उनके व्यक्तित्व के प्रधान लक्षण थे, उनके हृदय की उदारता, रसिकता, विनोद-प्रियता तथा स्वच्छन्दता। उनके व्यक्तित्व के निर्माण में उनके कुल की परम्पराओं और परिवार की परिस्थितियों ने अच्छा हाथ बटाया था। सं० १६२७ में उनके छोटे भाई गोकुलचन्दजी ने सम्पत्ति का बटवारा करा लिया। उन्हें डर था कि कहीं सारी सम्पति ही बाबूसाहब उड़ा न डालें। फिर क्या था, बाबू साहब और भी स्वतंत्र हो गये, दोनों मुट्ठी भर कर लुटाने लगे। हफ्तों उनके घर पर कवि-दरबार होता। लोग आते थे कविता सुनाते थे, भोजन करते थे, मौज लेते थे। काशी के प्रसिद्ध गायक और गायिकाएँ भी जुटती थीं। रात-दिन गाना-बजाना भी होता था। बड़े-बड़े राजाओं के दरबार भी इस दरबार के सामने मात खा जाते थे। हँसी-मजाक, हाहा-हूहू में जिन्दगी बीतती थी। बाबू साहब अपनी विनोद-प्रियता के लिए बड़े प्रसिद्ध थे। काशीवासी आपके पहली अप्रैल के विनोद को आज तक याद करते हैं। पहली अप्रैल को उन्होंने डुग्गी पिटवा दी कि एक आदमी विदेश से आया है और वह खड़ाऊँ पहनकर ६ बजे सन्ध्या को गंगा पार करेगा। फिर क्या था, संध्या को निश्चित समय तक घाट पर एक अच्छा मेला लग गया। अन्त में बाबू साहब आये और उन्होंने कहा कि आज पहली अप्रैल है—मजाक का दिन है। सभी हँसते-हँसते घर वापस आये।

बाबू साहब में कविता लिखने की विलक्षण प्रतिभा थी, अपूर्व शक्ति थी। उनपर कविता का जादू सवार रहता था। वह बात-चीत करते जाते थे, कविता बनती जाती थी। हृदय में उठनेवाली कविता की वास्तविक तरङ्ग को वह रोक नहीं पाते थे, जहाँ कहीं हुआ कविता लिख डालते थे। घर की दीवारों पर मिट्टी से कविता लिख डालना आपके नित्य के कार्य थे। उनमें भाव-प्रभाव इतना अधिक थी कि उसका उद्रेक वह कभी रोक नहीं पाते थे। कविता की तरङ्ग के आगे वह खाना-पीना तक भूल जाते थे।

उनके व्यक्तित्व की भांति ही उनका साहित्य भी कई विचार धाराओं, कई भावनाओं का सम्मिश्रण है। उनके काव्य-साहित्यको हम भावके अनुसार चार भागों में बाँट सकते हैं।

१—भक्ति-प्रधान २—शृंगार-प्रधान ३—देश-प्रेम की भावना-प्रधान ४—सामाजिक समस्या-प्रधान। बाबू साहब कृष्ण के भक्त थे। वे पुष्टि सम्प्रदाय के माननेवाले थे। उनके साहित्य का एक बड़ा अंश वैष्णव साहित्य के अन्तर्गत आता है। उनकी धार्मिक भावना को परखने के लिए निम्नलिखित पद दिये जा रहे हैं।

हम तो मोल लिये या घर के।
दास दास श्री वल्लभ कुल के चाकर राधा वर के।
सम्हारहु अपने को गिरधारी।
मोर मुकुट सिर पाग-पेच कसि राखहु, अलक सँवारी।
हिय हलकत बनमाल उठावहु, मुरली धरहु उतारी॥
चक्रादिकन सान दै राखौं, कंचन फसन निवारी।
नूपुर लेहु किंकिनी खीचहु, करहु तयारी॥
हम नहीं उनमें जिन को सहजहि दीनों तारी।
बानो जुगवो नीकें अबकी 'हरिचन्द' की बारी॥

साधना मन्दिर में कवि ने सूर और मीराँ के भी दर्शन किये थे। घनानन्द और रसखानि से भी उसने अच्छा परिचय किया था। वह उन्हीं के अनुराग भरे पथ पर गाता था। उसमें उनकी मोहक रागिनी भी थी, अन्तर की वेदना का गहन प्रभाव भी था। जरा देखिये तो कैसी मस्ती, कैसी प्रेम की पीर है।

हम हूँ सब जानती लोक की चालनि, क्यों इतनी बतरावती हो?
हित जामें हमारों बनै सो करौ, सखियाँ तुम मेरी कहावती हो॥
'हरिचन्द जू' या में न लाभ कछु हमें बातिन क्यों बहरावती हो?
सजनी मन हाथ हमारे नहीं तुम कौन को का समझावती हो॥

उनकी कसक भरी आँखों में में प्रेम की पीर आप देखिये।—

इन दुखियान को न सुख सपने हू मिल्यौ,
योंहीं सदा व्याकुल विकल अकुलायेगी।
प्यारे 'हरिचन्द जू' की बीती जानि औधि जौपै,
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायेंगी॥
देख्यौ एक बार हूँ न नैन भरि तोहिं भातें
जौंन जौंन लोक जहें तहीं पछितायँगी।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तुम्हारे हाय,
देखि लीजौ आँख ये खली रह जायँगी॥

एक ओर आपकी कविता में प्राचीन, रीति कालीन परम्परा का निर्वाह था, तो दूसरी ओर प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ने का महान आग्रह भी। एक ओर आपने मीरा, सूर, रसखानि तथा घनानन्द जैसी प्रेम की पीर से भरी, अनुराग और वियोग की कवितायें लिखीं और दूसरी ओर आपने जन-साहित्य का भी निर्माण किया। कजली और लावनियाँ भी लिखीं। आपकी लावनी का एक नमूना देखिये, वर्षा के वर्णन का आनन्द लीजिये।

खड़ी अकेली राह देखती बरस रहा है पानी ।।
अधरी छाय रही भारी ।
सूझत कहुँ न पन्थ सोच करै मन-मन में नारी ।।
न कोई समझावन हारी ।
चौंकि चौंकि के उझकि झाँकि रही प्यारी ।।
बिरह से व्याकुल अकुलानी ।
खड़ी अकेली राह देखती बरस रहा है पानी ।।

सन सन करके रात खनकती झींगुर झनकारैं ।
कभी कभी दादुर रट कर जिय व्याकुल करि डारैं ।।
साँप खँडहर पर ठनकारैं ।
गिरे करारे टूट टट कर नदी छलक मारे ।
पिया बिनु सबहीं दुखदानी ।

पिय बिन को जो गा लावै ।
'हरीचन्द' बिनु बरसा में को कसक मिटावै ।
कहाँ विल म, को बन मानी ।
खड़ी अकेली राह देखती बरस रहा है पानी ।

इन लावनियों की भाषा अबतक की कविताओं की भाषा से भिन्न थी । कविता की भाषा जन-सम्पर्क की भाषा से भिन्न हो ही जाती है । भाषा की कुछ विशेष शब्दावलियाँ, कुछ विशेष टेकनिक एक दिन में नहीं बनती । उनके निर्माण में अनेक वर्ष लगते हैं । जब टेकनीक और उसका विधान पूर्ण हो जाता है तब तक जनवर्ग की भाषा बहुत आगे बढ़ जाती है । उसमें अनेक परिवर्तन हो जाते हैं । इसीसे कविता की भाषा सदा जनता की भाषा से पीछे रहती है । किन्तु प्रत्येक वस्तु की एक सीमा होती है । अपनी सीमा पर पहुँच जाने पर इस प्रकार की भाषा से जनता बहुत दूर चली जाती है तभी क्रांतिकारी कलाकारों का प्रादुर्भाव होता है और वे जन-साहित्य का निर्माण करते हैं । ऐसे ही क्रान्तिकारी कलाकार थे बाबू हरिश्चन्द्र । उन्होंने एक नये युग का नेतृत्व किया था। अतीत की परम्पराएँ क्षीण हो रही थी, वर्तमान अपने पर असंतुष्ट था । नयी-नयी समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं थीं । नयी-नयी परम्पराएँ आरंभ हो रही थीं । विगत युग आगन्तुक युग से विलग हो रहा था । ऐसे सन्धिकाल में भारतेन्दु बाबू का व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य को एक दूसरी दिशा की ओर मोड़ ले गया । उनके साहित्य में सामाजिक दशा का बड़ा ही सजीव चित्र है । उनकी 'अंधेर नगरी', 'भारत-दुर्दशा' आदि नाटक हमारी समस्याओं को ही सामने लाते हैं ।

आपने देश-प्रेम की उस समय आवाज उठायी जब अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध एक शब्द भी कहना अपराध था । आपका यह साहस इतिहास में सदा ही सराहनीय रहेगा ।

खड़ी बोली की कविता का प्रादुर्भाव आपके द्वारा ही हिन्दी में हुआ । खड़ी बोली की कविता में रोमाण्टिक तथा स्वच्छन्दतावादी धारा पन्त और निराला के पहले ही भारतेन्दु की कल्पना के सूक्ष्म संकेतों द्वारा ही आरंभ हो चुकी थी ।

अपने व्यक्तित्व और परिश्रम के बल पर भारतेन्दुजी ने जो कुछ किया, उसपर आश्चर्य हो रहा है । १६, १७ वर्ष के साहित्य-जीवन में आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की । इससे आपकी लगन, आपकी प्रतिभा तथा अध्यवसाय का पता चलता है । आपने साहित्य का ही निर्माण नहीं किया, आपने नये-नये साहित्यकार भी बनाये । आपके युग में एक साहित्यकार-मण्डल तैयार हो गया था । उपाध्याय पण्डित बदरीनारायण चौधरी, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, लाला श्रीनिवासदास, पण्डित बालकृष्ण भट्ट, पण्डित केशवराम भट्ट, पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, पण्डित राधाचरण गोस्वामी इत्यादि कई प्रौढ़ और प्रतिभाशाली लेखकों का एक सुदृढ़ मण्डल उनके ही समय में तैयार हो चुका था । साहित्य-निर्माण से इनका यह कार्य महान् था । जिस प्रकार किसी बड़े नक्षत्र के इर्द-गिर्द छोटे नक्षत्र रहते हैं उसी प्रकार भारतेन्दु के चारों ओर साहित्यकारों का जमघट लगा रहता था ।

इतना होने पर भी भारतेन्दु बड़े सरल स्वभाव के थे । वे गुणियों के सेवक थे, कवियों के मित्र थे, सज्जनों के लिए सज्जन थे, दुर्जनों के लिए वे बाँके थे । उनमें किसी प्रकार की चाह नहीं थी । वह प्रेम के दीवाने थे और राधा रानी के गुलाम थे । उनमें स्वाभिमान न था, लेकिन अभिमानियों के सामने कभी झुकते न थे । अपने सिद्धान्त के पक्के थे, शिव प्रसाद सितारे हिंद उनके गुरु थे, किन्तु भाषा के प्रश्न पर वे अपने गुरु के समक्ष भी न झुके । उनके ही शब्दों में उनके व्यक्तित्व का चित्र देखिये ।

> **सेवक गुनी जन के, चाकर चतुर के हैं,**
> **कविन के मीत, चित हित गुनी ज्ञानी के ।**
> **सीधेन सो सीधे, महा बांके हम बांकन सो,**
> **'हरिश्चन्द' नगद दमाद अभिमानी के ।।**
> **चाहिये की चाह काहू की न परवाह, नेही,**
> **नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के ।**
> **सरबस रसिक के सुदास-दास प्रेमिन के,**
> **सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा राँनी के ।।**

गद्यकार-भारतेन्दु

भारतेन्दु ने काव्य के क्षेत्र में नये विचारों, नये मनोभावों को जन्म तो दिया ही है, व्यापकता की दृष्टि से कबीर की पद्धति से लेकर तत्कालीन लोक-काव्य तक काव्य का विस्तार किया । उनकी लावानियाँ इसका स्वस्थ उदाहरण है ।

गद्यकार के रूप में उनकी महत्ता कवि की अपेक्षा और भी बड़ी है, क्योंकि उस समय न केवल भाषा के परिष्कार का, हिन्दी के व्यापक प्रसार का तथा लोक-जीवन में हिन्दी की प्रतिष्ठा की आवश्यकता थी, अपितु स्वस्थ वृत्ति के साहित्य के निर्माण की आवश्यकता का भी अनुभव होने लगा था। व्यापक दृष्टि से भारतेन्दु ने गद्य के क्षेत्र में अटूट लगन और निष्ठा के साथ दोनों कार्य सम्पन्न किया। यद्यपि वय की दृष्टि से उनकी आयु बहुत थोड़ी हुई तो भी उन्होंने उस व्यापक अनुष्ठान की पूर्णाहुति की जो युगों से इस कार्य की अपेक्षा रखता था। इनके पूर्व तक हिन्दी में एक भी ऐसा लेखक न था जिसके साहित्यिक आदर्श के पीछे चलने वालों का एक जमघट जुट सके। भारतेन्दु के पीछे तो समर्थ साहित्य निर्माण-कर्ताओं का एक दल था जो उनकी भाषा को साहित्य-निर्माता के रूप में आदर्श मानता था। कहना न होगा कि भारतेन्दु ने परिष्कृत हिन्दी का व्यापक प्रयोग कर उसे साहित्यिक निर्माण के उपयुक्त बनाया। वे अपने युग के महानेता थे। सामाजिक से लेकर दार्शनिक भित्ति उनके साहित्य की आधार-शिला बनी। नाटकों के द्वारा उन्होंने तत्कालीन जीवन-दर्शन को समाज-गंगा के रूप में प्रवाहित करने का भगीरथ प्रयत्न किया। उनके पूर्व तक केवल निम्नांकित नाटक मात्र लिखे गये थे, जिन्हें नाटक की संज्ञा देना साहित्यिक दृष्टि से समीचीन नहीं, क्योंकि वे तो पद्य में लिखी रचनाएँ मात्र हैं। उनमें नाटकीय तत्त्वों का सर्वथा अभाव है।

जैन कवि बनारसीदास का 'समयसार-नाटक', प्राणचंद चौहान का 'रामायण महा' नाटक, व्यासजी के शिष्य देव कृत 'देवमाया प्रपंच', अन्तर्वेद निवासी ब्राह्मण नेवाज का 'शकुंतला', रघेराम नागर का 'सभासार', 'कृष्ण जीवन' लछीराम कृत, 'करुणाभरण', लल्लूलालजी के वंशधर हरिराम का, 'जानकी राम-चरित नाटक' बांधवनरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंद-रघुनंदन नाटक', बाबू गोपालचन्द्र का 'नहुष' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

भारतेन्दु ने स्वयं भी अपने पूर्ववर्ती नाटकों का उल्लेख किया है और उन्होंने केवल महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द-रघुनन्दन' और अपने पिता बाबू गोपालचन्द के 'नहुष' नाटक मात्र को वास्तविक नाटक माना है। उनके संबंध में डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का यह अभिमत है कि वे भी शुद्ध नाटक नहीं हैं। उनका यह भी कहना है कि इन दोनों रचनाओं में प्रथम तो नाटकीय पद्धति पर लिखा काव्य है और द्वितीय कृति अपूर्ण होने के कारण विचार क्षेत्र में नहीं आती।

अतएव निश्चय ही भारतेन्दु हिन्दी नाटक के आदि प्रवर्तक हैं। हिन्दी नाटकों के इतिहास का एक धारावाहिक विकास उनकी रचनाओं से प्राप्त हो जाता है। उन्होंने नाटकों का अनुवाद किया, अपने संरक्षण में अनुवाद करवाया तथा स्वयं मौलिक कृतियाँ लिखीं। यद्यपि उनके नाटक पूर्ववर्ती साहित्य के लेखकों से प्रभावित हैं तो भी कहना न होगा कि वे केवल प्रभाव तक ही हैं। लेखक की मौलिकता सत्य हरिश्चन्द्र और विद्यासुन्दर में स्वयं बोल लेती हैं। भावों के क्षेत्र में उन्होंने न केवल युग में व्याप्त अंधेर,

कुशासन, बैर-भाव, सामाजिक विपन्न स्थिति की अभिव्यक्ति मात्र प्रस्तुत की है, अपितु अंग्रेज सरकार की कड़ी आलोचना भी की है। यदि उस समय की उनकी रचनाएँ उठाकर देखी जायं तो ऐसा आभास लगता है कि उनके जैसा सुधारक नेता एवं साहित्य-स्रष्टा उस युग में कोई हुआ ही नहीं। यदि रोमांटिक रचनाओं की ओर विशेष ध्यान से देखा जाय तो यह मानना पड़ता है कि चन्द्रावली न केवल उनकी हिन्दी की प्रथम रोमांटिक नाटिका है, अपितु उसमें एकोन्मुखी प्रेमाकुल चित्तवृत्तियों की सजीव अभिव्यक्ति भी है। कहना न होगा कि यह कृति लेखक के व्यक्तित्व की व्यापक अभिव्यक्ति का आभास देती है। उनके अनूदित नाटकों में रत्नावली (प्रारम्भिक अंश), 'पाखण्ड विमण्डन', 'प्रवोध चन्द्रोदय का तृतीय अंश', 'धनंजय विजय', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमंजरी', 'भारत जननी 'दुर्लभ बंधु' हैं। उनके विभिन्न नाटकों का कालक्रम इस प्रकार है। इनमें प्राकृत बंगला–अंग्रेजी से अनेक अनूदित हैं। श्री परुशराम चतुर्वेदी ने सत्यहरिश्चन्द्र को चण्डकौशिक पर आधृत माना है। विद्यासुन्दर द्वितीय सं० १८८२', रत्नावली 'अपूर्ण' '१८६८', पाखंड विडंवन '१८७३', वैदिकी हिंसा न भवति '१८७३'ई०, धनजंय विजय '१८७३', मुद्राराक्षस '१८७५–७७', सत्यहरिश्चन्द्र '१८७५', प्रेमजोगिनी 'काशी के छायाचित्र या दो भले-वुरे फोटोग्राफ' नाम से '१८७४', विषस्य विषमौषधम् '१८७६', कर्पूरमंजरी '१८७६', चन्द्रावली '१८७६', भारतदुर्दशा '१८७६', भारत-जननी '१८८७', नीलदेवी '१८८०', दुर्लभबंधु '१८८०', अंधेरनगरी '१८८१' और सतीप्रताप '१८८४'।

निवंधकार के रूप में भी हिन्दी-निबंधों का इन्हें प्रवर्तक मानते हैं। इन्होंने उस समय अपने द्वारा प्रवर्तित पत्रों––कविवचन-सुधा, हरिश्चन्द्र-सुधा, वालबोधिनी में निबंध लिखे जब दयानन्द सरस्वती और पं० श्रद्धाराम फुलौरी के अतिरिक्त किसीने भी निबंधों की रचना न की थी। पर उन दोनों की रचनाएँ धार्मिक और साम्प्रदायिक खंडन-मंडन की अभिव्यक्ति भाषा मात्र में हैं। साहित्यिक दृष्टि से निबंध-प्रवर्तक का कार्य वाबू साहव ने ही किया। भाषा में जिस समय राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह में शैली की मान्यता के प्रश्न पर द्वन्द चल रहा था, उस समय इन्होंने मध्य मार्ग अपनाकर व्यापक रचना के लिये द्वार खोला था। यद्यपि इनके निबंध साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के नहीं थे, फिर भी ये उनके जनक हैं। उनकी शैली के उदाहरण रूप में निम्नलिखित अंश उद्धृत किये जाते हैं।

"हरि०––प्रिये ! हरिश्चन्द्र की अर्द्धांगिनी होकर तुम्हें ऐसा कहना उचित नहीं है। हा ! भला तुम ऐसी बात मुंह से निकालती हो ! स्वप्न किसने देखा है ? मैंने न। फिर क्या ? स्वप्न, संसार अपने काल में असत्य है, इसका कौन प्रमाण है ? और जो अब असत्य कहो, तो मरने के पीछे तो यह संसार भी असत्य है, फिर उसमें परलोक के हेतु लोग धर्माचरण क्यों करते हैं ? दिया सो दिया, क्या स्वप्न में, क्या प्रत्यक्ष ?

रानीः:—(हाथ जोड़कर) नाथ ! मा जिये, स्त्री को बुद्धि ही कितनी !

हरि०—(चिन्ता करके) पर मैं अब करूं क्या ! अच्छा ! प्रधान ! नगर में डौड़ी पिटवा दो कि राज्य को सब लोग आज से अज्ञातनाम गोत्र ब्राह्मण का समझें, उसके अभाव में हरिश्चन्द्र उसके सेवक की भाँति उसकी थाती समझ के राजकार्य करेगा और दो मुहर राजकाज के हेतु बनवा लो, एक पर अज्ञातनाम गोत्र ब्राह्मण महाराज का सेवक हरिश्चन्द्र और दूसरे पर राजाधिराज अज्ञातनाम गोत्र ब्राह्मण महाराज खुदा रहे और आज से राज-काज के सब पत्रों पर भी यही नाम रहे। देश के राजाओं और बड़े-बड़े कार्याधीशों को भी आज्ञा-पत्र भेज दो कि महाराज हरिश्चन्द्र ने स्वप्न में अज्ञातनाम गोत्र ब्राह्मण को पृथ्वी दी है, इससे आज से उसका राज्य हरिश्चन्द्र मंत्री की भाँति सँभालेगा।"

"उनकी भावावेश की शैली दूसरी है, और तथ्य निरूपण की शैली दूसरी। भावावेश की भाषा में वाक्य बहुत छोटे-छोटे होते हैं, पदावली सरल बोलचाल की होती है, जिसमें बहु प्रचलित साधारण अरबी फारसी के शब्द भी कभी-कभी, पर बहुत कम, आ जाते हैं। जहाँ चित्त के किसी स्थायी क्षोभ की व्यंजना और चिंतन के लिए कुछ अवकाश है, वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गंभीर तथा वाक्य कुछ बड़े हैं, पर अन्यत्र जटिल नहीं है।"—शुक्लजी

उनके सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी की मान्यताएँ सर्वमान्य हो चुकी हैं। यहाँ उनके संबंध में उनके हिन्दी साहित्य से एक और उदाहरण दिया जा रहा है।

"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर वंग देश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्त माल गूंथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हंसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए नए या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।"

भारतेन्दु ने भारती के मन्दिर में केवल अपना ही उत्सर्ग नहीं किया, अपितु उन्होंने साहित्य के निर्माणकर्ताओं का एक ऐसा दल भी प्रेरणा संवलित किया जो उनके द्वारा उठाए हुए कार्य को प्राण-पण से, उनके जीवनकाल में और तदनन्तर भी श्रद्धापूर्वक करता रहा। मण्डल की चर्चा पहले की जा चुकी है। अब संक्षेप में समकालीन लेखकों का अलग-अलग उल्लेख किया जायगा।

प्रतापनारायण मिश्र

(संवत् १९१३—१९५१)

अलमस्त, मनमौजी व्यक्तित्व के मजेदार व्यक्ति मिश्रजी थे। उन्नाव उनकी जन्मभूमि थी और कानपुर उनका वासस्थान। व्यंग और विनोद से भरी गद्य-लेखन की अपनी इनकी अलग मौलिक शैली थी। बैसवाड़े की मजेदार लोक-प्रचलित उक्तियों, कहावतों से विनोदपूर्ण व्यंग भरी वक्रता उत्पन्न करने में इन्होंने कमाल कर दिखाया। मनोयोग से लेकर देश-दशा तक और नागरी हिन्दी प्रचार तक पर लिख गये। इनके द्वारा ब्राह्मण पत्र के निकलने की बात पहले ही कही जा चुकी है। ये निबंधकार के अतिरिक्त नाटककार के रूप में भी प्रकट हुए। इनके नाटकों के नाम हैं, संगीत शाकुन्तल खड़ीबोली के पद्य में शंकुतला का अनुवाद, भारत दुर्दशा, भारतेन्दु धरामृत, हठी हम्मीर, गोसंकट, कलि प्रभाव, कालिकौतुक रूपक। इन्होंने एक प्रहसन भी लिखा जिसका नाम जुआरी-पुआरी है। इनके अब तक निबंधों के तीन संग्रह प्राकाशित हो चुके हैं जिनके नाम हैं प्रताप-पियूष, निबंध नवनीत, प्रताप-समीक्षा। इनकी गद्य-शैली का नमूना यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

इन महापुरुष का वर्णन करना सहज काम नहीं है। यद्यपि अब इनके किसी अंगमें कोई सामर्थ्य नहीं रही, अतः इनसे किसी प्रकार की ऊपरी सहायता मिलना असंभव है, पर हमें उचित है कि इनसे डरें, इनका सम्मान करें, और इनके थोड़े से बचे-खुचे जीवन को गनीमत जानें, क्योंकि उन्होंने अपने बाल्यकाल में विद्या के नाते चाहे काला अक्षर भी न सीखा हो, युवावस्था में चाहे एक पैसा भी न कमाया हो, तथापि संसार के ऊँच-नीच का इन्हें हमारी अपेक्षा बहुत अधिक अनुभव है। इसी से शास्त्र की आज्ञा है कि वयोधिक शूद्र भी द्विजाति के लिये माननीय है। यदि हममें बुद्धि हो तो इनसे पुस्तकों का काम ले सकते हैं, वरंच पुस्तक पढ़ने में आँखों को तथा मुख को कष्ट होता है, न समझ पड़ने पर दूसरों के पास दौड़ना पड़ता है, पर इनसे केवल इतना कह देना बहुत है कि हाँ बाबा, फिर क्या हुआ? हाँ बाबा, ऐसा हो तो कैसा हो? बस, बाबा साहब अपने भार का आन्तरिक कोष खोलकर रख देंगे। इसके अतिरिक्त इनसे डरना इसलिये उचित है कि हम क्या हैं, हमारे पूज्य पिता, दादा, ताऊ, भी इनके आगे के छोकड़े थे। यदि यह बिगड़ें, तो किसकी कलई नहीं खोल सकते। किसके नाम पर गट्टा-सी नहीं सुना सकते? इन्हें संकोच किसका है? बक्की के सिवा इन्हें कोई कलंक हो क्या लगा सकता है? जब यह आप ही चिता पर एक पाँव रखे बैठे हैं, कब्र में पाँव लटकाये हुए हैं, तब इनका कोई कर क्या सकता है? यदि इनकी बातें-कुबातें हम न सहें तो करें क्या? यह तनिक भी बात में कष्टित और कुंठित हो जायंगे और असमर्थता के कारण सच्चे जी से शाप देंगे, जो वास्तव में बड़े से बड़े तीक्ष्ण शस्त्रों की भाँति अनिष्टकारक होगा। जब कि महात्मा कबीर के कथनानुसार "मरी खाल की ल्साँस" से लोहा तक भस्म होता है तो इससे यही न उचित है कि इनके अन्तःकरण के आशीर्वाद लाभ करने का उद्योग करें,

क्योंकि समस्त धर्म ग्रन्थों में इनका आदर करना लिखा है, सारे राजनियमों में इनके लिये पूर्ण दण्ड की विधि नहीं है, और सोच देखिये, तो यह दया के पात्र जीव हैं, क्योंकि सब प्रकार पौरुष से रहित हैं, केवल जीभ नहीं मानती, इससे आयं-बायं शायं किया करते हैं। हां, इस दशा में दुनिया के झंझट छोड़ के भगवान का भजन नहीं करते, वृथा चार दिन के लिये झूठी हाय-हाय में कुढ़ते-कुढ़ाते हैं। यह बुरा है, पर इसके लिये क्यों इनकी निंदा की जाय? आज-कल बहुतेरे मननशील युवक कहा करते हैं कि बुड्ढे खबीसों के मारे कुछ नहीं होने पाता, वे अपनी पुरानी अकिल के कारण प्रत्येक देश-हित-कारक नवविधान में विघ्न खड़ा कर देते हैं। हमारी समझ में यह कहनेवालों की भूल है, नहीं तो सब लोग एक से ही नहीं होते? यदि हिकमत के साथ राह पर लाये जामयँ, तो बहुत से बुड्ढे ऐसे निकल आवेंगे, जिनसे अनेक युवकों को अधिक भाँति की मौखिक सहायता मिल सकती है। रहे वे बुड्ढे, जो सचमुच अपनी सत्यानाशी लकीर के फकीर अथवा अपने ही पापी पेट के गुलाम हैं, वे पहले हई कै जने? दूसरे, अब वह समय नहीं रहा कि उनके कुल क्षण किसी से छिपे हों। फिर उनका क्या डर है? चार दिन के पाहुने, कछुवा मछली अथवा कीड़ों की परसी हुई थाली, कुछ अमरोती खाके आये हैं नहीं, कौवे के बच्चे हई नहीं, बहुत जियेंगे दस वर्ष।

बालकृष्ण भट्ट

प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में संस्कृत के अध्यापक, हिन्दी-प्रदीप के संपादक पं० बालकृष्णभट्ट हिन्दी गद्य-कर्ताओं में स्टील की भाँति स्मरण किये जाते हैं। इन्होंने स्थान-स्थान पर सुन्दर मुहावरों और कहावतों का अपने निबंधों में प्रयोग किया है तथा हिन्दी-प्रदीप द्वारा ३२ वर्षों तक निरन्तर हिन्दी-गद्य-साहित्य को ढर्रे पर लाने के लिये व्यापक प्रयत्न किया। व्यंग और वक्रता की दृष्टि से उनके निबंध अच्छे बन पड़े हैं। प्रतापनारायणमिश्र की पद्धति के लेखकों के अन्तर्गत इनकी गणना शुक्लजी ने की है। पर जहाँ तक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, सर्वत्र इनकी शैली में एक निराले ढंग से वह अभिव्यक्त हुआ है। जहाँ पूरवी शब्दों तथा अंग्रेजी के शब्दों का व्यवहार करते हुए पाये जाते हैं वहीं इनके व्यंग में एक मजेदार झझक और चिड़चिड़ाहट का मजा भी मिलता है। यदि निबंधकार की दृष्टि से देखा जाय तो अपने पूर्ववर्ती लेखकों में इनका स्थान सर्वोत्तम है। इनके निवन्धों में इनकी विद्वत्ता का भी दर्शन होता है। इन्होंने सैकड़ों निवन्ध लिखे, किन्तु सब अभीतक पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हो सके। उनकी गद्यशैली का एक नमूना यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

वात्सल्य रस की शुद्ध मर्ति माता के सहज स्नेह की तुलना इस जगत् में, जहां केवल अपना स्वार्थ ही प्रधान है, कहीं ढूंढ़ने से भी न पाइयेगा।

दादी, दादा, चाचा, ताऊ आदि का स्नेह बहुधा औचित्य-विचार और मर्यादा-परिपालन के ध्यान से देखा जाता है; किन्तु माता या पिता का स्नेह पुत्र में निरे वात्सल्य

भाव के मूल पर है। आज अब इन दोनों में भी विशेष आदरणीय, सच्चा और निःस्वार्थ प्रेम किसका है? लोग कहते हैं, लाड़-प्यार से लड़के बिगड़ते हैं, पर सूक्ष्म विचार से गुरु और उस्ताद जितना हमें पाठशालाओं में भय, ताड़ना दिखाकर वर्षों में सिखा सकते हैं, उतना अपने घर में हम सुत-वत्सला मा के अकृत्रिम सहज स्नेह से एक दिन में सीख लेते हैं। मा के स्वाभाविक, सच्चे और बेबनावटी प्रेम का प्रमाण इससे बढ़कर और क्या मिल सकता है कि लड़का कितना ही रोता हो या चिरचिरा हुआ हो, मा की गोद में जाते ही चुप हो जाता है।

प्रेमघन

(संवत् १९१२—सं० १९८६)

उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी नाटककार लेखक और कवि के रूप में भारतेन्दु मंडल में प्रतिष्ठित थे। तबीयत तो उनकी रईसों-सी थी, पर उनकी शैली शिल्पी की भाँति थी। उन्होंने अनेक नाटक लिखे जिनमें एक १८८८ के कांग्रेस के अधिवेशन में खेला गया। उनकी भाषा में भी रंगीनी की झलक मिलती है। विनोदपूर्ण प्रहसनों की भी उहोंने रचना की। आनन्दकादम्बिनी का इन्होंने संपादन किया तथा इनकी रचनाओं से ही वह भरी रहती थी। भट्टजी और चौधरी साहब ने हिन्दी में आलोचना का आरम्भ भी किया। भावना-प्रधान शैली के लेखकों में अपने युग के एक अच्छे लेखक थे।

लाला श्रीनिवास–(संवत् १९०८से १९४४)—हिन्दी के नाटककार तथा उपन्यासकार के रूप में विख्यात हैं। साफ-सुथरी भाषा संयत रूप मे लिखने का इन्होंने प्रयत्न किया। नाटकों में तथा उपन्यासों में इन्होंने नयी दिशा का संकेत दिया।

ठाकुर जगमोहन सिंह–(सं० १९१४ से १९५६)—राघवगढ़ के राजकुमार, संस्कृत के ज्ञाता और भारतेन्दुजी के मित्रों में से थे। भारतेन्दु दल के कवियों या साहित्यकारों में यह सर्वाधिक प्रकृति के प्रेमी साहित्यकार के रूप में प्रकट हुए। भावना-प्रधान मधुर शैली में गद्य और पद्य दोनों की इन्होंने रचना की और इस दृष्टि से इनका महत्व अपने युग के साहित्यकारों में बहुत बड़ा है।

राधाचरण गोस्वामी—संपादक और नाटककार थे। संपादक **बाबू तोताराम** अपने युग के सामान्यतः अच्छे लेखक तथा नाटककार थे। केशवराम भट्ट, मोहन लाल, विश्वनाथ पण्डया, भीमसेन शर्मा, काशीनाथ खत्री, काशीप्रसाद खत्री, फ्रेडरिक पिनकाट, पंडित सुधाकर द्विवेदी सभी के सभी इस युग के लिखनेवाले थे। इनमें राधाकृष्ण दास सं० १९६४ का काल ऐतिहासिक महत्व का है। इन्होंने उपन्यास और नाटक की रचना की, साथ ही पुराने साहित्य के सम्बन्ध में भी अन्वेषण-कार्य किया तथा तत्सम्बन्धी लेख लिखे।

युग की कविता

इस युग में भी रीतिकाल की पुरानी परिपाटी पर रचना होती रही । रचनाकारों में किसी नवीन जीवन दर्शन का उद्बोधन नहीं, उनमें वही पुरानी पिटी हुई लकीर पर चलने की प्रवत्ति मिलती है । ऐसे लेखकों में सेवक (सं० १८७२ से १९३८), सरदार (१९०२ से १९४०), रघुराजसिंह रीवानरेश (सं० १८८० से १९३६), ललित किशोरी (कुन्दनलाल १९१३ से १९३०), राजा लक्ष्मण सिंह, गोविन्द गिल्लाभाई, नवीन चौबे आदि की गणना की जाती है ।

काव्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा का व्यापक राज्य सम्पूर्ण युग में रहा । गद्य के रूप में खड़ीबोली अपने नये परिष्कृत रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी, किन्तु इस युग के अधिकांश लेखक काव्य के लिये ब्रजभाषा को ही अधिक उपयुक्त मानते थे । इस युग में प्रायः सभी कलाकारों ने खड़ीबोली में पद्य की रचना की, पर भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र आदि ब्रजभाषा को ही काव्य की भाषा मानते थे और इस चीज को लेकर एक बड़ा व्यापक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ, जिसमें खड़ीबोली की प्रतिष्ठा के लिये श्रीधर पाठक का प्रयत्न अत्यन्त स्तुत्य तथा सराहनीय है । इस सम्बन्ध में सन् १८८८ के "हिन्दोस्थान" की यह राय सर्वथा सत्य प्रमाणित हुई ।

"यह बात दूसरी है कि चिरकाल के परिचय और अभ्यास तथा कुछ स्वरादिकों की कोमलता के कारण हिंदी के उस रूप की कविता जिसको हम ब्रजभाषा कहते हैं, हमको अधिक सुन्दर, मनोहर और प्यारी लगती है, किंतु कालांतर में प्रचलित भाषा की कविता भी हमको वैसी ही मधुर और मनोहर लगेगी ।"

युग के अन्त तक खड़ीबोली को लेकर निरंतर वाद-विवाद व्यापक रूप से चलता रहा; पर अन्ततोगत्वा विजय 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ ही खड़ीबोली की रही ।

इस युग की कविताओं में एक व्यापक परिवर्तन का आभास दिखाई पड़ता है । विषय की दृष्टि से इस युग के कवियों ने रीतिकालीन काव्य परम्परा को व्यापक दृष्टि दान दिया । इस युग का कलाकार देश की सामाजिक , राजनीतिक, आर्थिक सभी समस्याओं पर व्यापक दृष्टिकोण रखनेवाला था । समस्त विषय काव्य की परिधि के भीतर प्रतिष्ठित हो गये साथ ही यथार्थवादी दृष्टिकोण से काव्य की उद्भावना इस युग में कवियों की बहुत बड़ी देन थी ।

यह युग काव्य की दृष्टि से नवीन चेतना का प्रतीक था अतएव कुशल कला का दर्शन तो दूर की बात है काव्य की मधुरता के स्थान पर कर्कशता और कटुता का दर्शन होता है । विचारों का संक्रांतिकाल तथा तत्कालीन परिस्थितियाँ उसके लिये दायी है । पत्रकारिता के कारण तथा सामाजिक आन्दोलन के कारण व्यंगपूर्ण रचनायें भी इस युग में की गयीं । इस युग की रचनाओं में समाज को आशा का कोई बहुत बड़ा व्यापक सन्देश नहीं मिलता ।

समस्या पूर्ति की धूम भी दिखाई पड़ती है । लोक में प्रचलित छंद-पद्धति भी व्यापक रूप से अपनायी गयी ।



भारतेन्दु



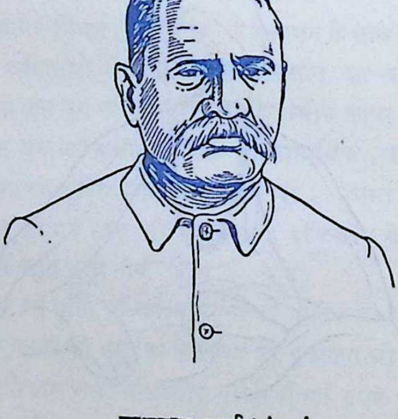
गोविन्द नारायण मिश्र



राधाकृष्ण दास



पद्मसिंह शर्मा



नाथराम शर्मा 'शंकर'

आशा का सन्देश इस युग की रचनाओं में ढूंढ़ना गलत होगा। क्योंकि तत्कालीन समाज में जिस रूप में देश-सेवा, समाज-सेवा, राजनीतिक जागरण का प्रयत्न इन कवियों ने किया, उससे अधिक किया भी नहीं जा सकता था। ऐतिहासिक दृष्टि से इस काव्य का निश्चय ही नयी दिशा-निर्देशन के कारण बहुत बड़ा महत्व है। भले ही काव्य के मौलिक गुणों का अभाव इस युग में दीखे। एक बात यह स्मरणीय है कि प्राय: नयी परिपाटी पर रचना करनेवाले कवियों ने भी रीतिकालीन काव्य परम्परा पर रचनाएँ कीं। प्रकृति की ओर आँख उठाकर देखनेवाले कवियों में ठाकुर जगमोहन सिह और पं० श्रीधर पाठक का नाम विशेष सम्मान के साथ लिया जायेगा।

नयी धारा के रचनाकारों में भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, ठाकुर जगमोहन सिंह, तथा सर्वाधिक पं० श्रीधर पाठक का नाम लिया जायेगा। वास्तव में यह युग गद्य का ही था, यद्यपि बड़े, व्यापक पैमाने पर पद्य की रचनाएँ इस युग में की गयीं। यहाँ पर उस युग की विभिन्न रचनाएँ उदाहरण के रूप में दी जा रही हैं।

हरिश्चन्द्र

रहै क्यों एक म्यानि असि दोय।
जिन नैनन में हरि रस छायो तेहि भावै कोय।।
जा तन में रमि रह मोहन तहाँ ज्ञान क्यों आवै।
चाहो जितनी बात प्रबोधो ह्याँ को जो पतियावै।।
अमृत खाइ अब देखि इनारुन मूरख जो भरमावै।

श्रीधर पाठक—काश्मीर सुषमा

प्रकृति यहां एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
पल-पल पलटति लेत तनिक छबि छिन छिन धारति।।
विमल-अंबु-सर मुकुरन महँ मुख-बिंब निहारति।
अपनी छबि संमोहि आपही तन मन वारति।।
सजति सजावति सरसति, हरसति, दरसति प्यारी।
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तरसारी।।
विहरति विविध-विलास भरी जोबन के मदि सनि।
ललकति किलकति पुलकति निरखति थिरकति बनि ठनि।।
मधुर मंजु छबि पूंज छटा छिरकति बन-कुंजन।
चितवति रिझवति हंसति डसति डसति मुसिक्याति हरति मन।।

इस युग में नाटक, उपन्यास, निबन्ध सभी दृष्टियों से व्यापक कार्य किया गया और कहना न होगा कि बीसवीं शताब्दी के साहित्यिक निर्माण का बीजारोपण इसी युग किया गया।

भारतेन्दु के बाद

संवत् १९५० से १९५५ का काल वह सन्धिकालीन युग माना जा सकता है जब सभी क्षेत्रों में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। भारतेन्दु तथा नये युग के बीच इसे संधियुग के रूप में स्मरण किया जा सकता है। इस युग में भाषा की व्यवस्था की ओर तो लोगों का ध्यान गया ही, अनुवाद का कार्य बड़ी तेजी से आरम्भ हुआ। अंग्रेजी, बंगला, गुजराती, मराठी, सबके उच्चकोटि के साहित्य का हिन्दी में व्यापक रूप से अनुवाद हुआ। नाटक, उपन्यास, निबन्ध सभी कुछ इस युग में दिखाई पड़ा। लघु कहानियाँ इसके पूर्व तक लिखी ही नहीं गयी थीं। अब नीचे एक अनुसूची दी जा रही है जो उक्त संकेतों को स्पष्ट करने में सहायक होगी।

नाटक-अनुदित

रामकृष्ण वर्मा–वीरनारी, कृष्णकुमारी, पद्मावती। गोपालराम गहमरी–वभ्रूवाहन, देशदसा, विद्याविनोद, चित्रांगदा। रूपनारायण पाण्डेय–पतिव्रता, दुर्गादास। पुरोहित गोपीनाथ–रोमियो जुलियट, एज यू लाइक इट, बेनिस का व्यापारी। मथुराप्रसाद चौधरी–साहसेन्द्र साहस, 'मैकबेथ'। लाला सीताराम बी० ए०–मेघदूत, नागानंद, मृच्छकटिक, महावीर चरित्र, उत्तर रामचरित्र, मालती माधव, मालविकाग्नि मित्र। ज्वाला-प्रसाद मिश्र–वेणी-संहार, अभिज्ञान शाकुन्तल। **बाबू बालमुकुन्द गुप्त**–रत्नावली नाटिका सत्यनारायण कविरत्न–मालतीमाधव, उत्तर रामचरित्र।

मौलिक––पंडित किशोरीलाल गोस्वामी–चौपट चपेट-मयंक मंजरी। हरिऔध–रुकमिनी परिणय, पद्मुमविजय व्यायोग। ज्वालाप्रसाद मिश्र–सीतावनवास। बलदेवप्रसाद मिश्र–प्रभाष मिलन, मीराबाई नाटक, लल्ला बाबू 'प्रहसन'। शिवनन्दन सहाय–सुदामा नाटक, चन्द्रकला भानुकुमार। रायदेवीप्रसाद–पूर्णझंकृति।

इन नाटक में मीराबाई, प्रभाष मिलन ऐतिहासिक महत्व के हैं तथा रायदेवीप्रसाद का फूल वाला नाटक इतिहास के साथ ही साथ सामाजिक दष्टिकोण के कारण अपना अच्छा स्थान रखता है। अनुवादकों में रूपनारायण पाण्डेय, लाला सीताराम बी० ए० तथा बालमुकुन्दजी के अनुवाद अच्छे बन पड़े हैं।

कथा साहित्य

अनुवाद––रामकृष्ण वर्मा-ठगवृतान्तमाला–संवत् १९४६, कुलिष वृतान्तमाला संवत् १९४३, अकबर १९४८, अमला वृतान्तमाला–१९५१, चित्तौर चातिकी १९५२, कार्तिकप्रसाद खत्री–इला, प्रमिला, जया और मधुमालती का अनुवाद १९५२ से १९५५। गोपालराम गहमरी––चतुरचंचला, भानुमती, नये बाब, बड़ाभाई, देवरानी-जेठानी, दो बहिन, जून पतोहू और सास पतोहू––सबका अनुवाद काल सं० १९५७ से १९६१। इनके अतिरिक्त बंकिम, रमेशचन्द्र, शरतबाबू, रवीन्द्र की कृतियों का अनुवाद भी आ। अंग्रेजी से लन्दन-रहस्य का भी अनुवाद हुआ।

इस अनुवाद कार्य में भारतेन्दु युग के लेखक तो लगे ही हुए थे, नये लेखक भी लगे। बाबू गोपालराम गहमरी के अनुवाद सुन्दर बन पड़े। उर्दू, अंग्रेजी, बगला, मराठी सभी के अनुवाद प्रस्तुत किये गये।

जहाँ तक मौलिक उपन्यासों का प्रश्न है उसका सूत्रपात भी यहीं से आरम्भ होता है। हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास लेखक बाबू देवकीनन्दन खत्री माने जाते हैं। तब तक इनके नरेन्द्र मोहिनी, कुसुमकुमारी, वीरेन्द्र-वीर उपन्यास प्रकाश में आ चुके थे। हिन्दी-जगत से व्यापक परिचय कराने वाला उपन्यास चन्द्रकान्ता इन्होंने इसी समय लिखा। ऐयारी उपन्यासों का मूल उद्देश्य घटना वैचित्र्य मात्र होता है तथा जन-रंजन ऐसे कार्य से होता है। साहित्यिक मापदंड की अपेक्षा उसमें नहीं की जाती। इस दृष्टि से ही चन्द्रकान्ता को देखना चाहिये। चन्द्रकान्ता की लोकप्रियता इसी बात से जानी जा सकती है कि चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिये कितनों ने हिन्दी पढ़ी और कितने उसे पढ़कर उस ढंग के लेखक बनने का प्रयास करने लगे। वह तिलस्म और ऐयारी उपन्यासों के हिन्दी में प्रवर्तक थे। भाषा उनकी सामान्य हुआ करती थी। उसे बोलचाल की भाषा कह सकते हैं, साहित्यिक हिन्दी नहीं। बाद में उनके रास्ते पर अनेक लेखक चले जिनमें बाबू दुर्गाप्रसाद, हरिकृष्ण जौहर तथा निहालचन्द्र वर्मा का नाम उल्लेखनीय है।

मौलिक उपन्यास

पंडित किशोरीलाल गोस्वामी (संवत् १९२२ से १९८६ तक) मौलिक उपन्यास लेखक थे। इनके उपन्यास अपने सजीव चित्रों के कारण, मनमोहक वर्णन के कारण, चरित्र-चित्रण के कारण, तथा वासनाओं के उद्दाम चित्रों के कारण काफी जनप्रिय हुए। इन्होंने बहुत से उपन्यास लिखे तथा संवत् १९९५ में इन्होंने उपन्यास नामक एक मासिक पत्रिका निकाली। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इन्हें हिन्दी का पहला साहित्यिक उपन्यासकार मानते हैं तथा शुक्लजी इनके सम्बन्ध में यह भी है कि "इस द्वितीय उत्थान काल के भीतर उपन्यासकार इन्हीं को कह सकते हैं। और लोगों ने भी मौलिक उपन्यास लिखे, पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामीजी वहीं घर कर के बैठ गये। एक क्षेत्र में उन्होंने अपने लिये चुन लिया और उसी में रम गये। यह दूसरी बात है कि उनके बहुत से उपन्यासों का प्रभाव नवयुवकों पर बुरा पड़ सकता है, उनमें उच्च वासनाएँ व्यक्त करनेवाले दृश्यों की अपेक्षा निम्न कोटि की वासनाएँ प्रकाशित करनेवाले दृश्य अधिक भी हैं और चटकीले भी। इस बात की शिकायत 'चपला' के सम्बन्ध में अधिक हुई थी। अश्लीलता के कारण तथा उद्दाम वासना के प्रचार और उर्दू की ओर झुकाव होने के कारण बाद में इनकी भर्त्सना भी हुई।

अन्य

हरिऔध ने भाषा का जादू दिखाने के लिये बेनिस का बाँका तथा ठेठ हिन्दी का ठाट और अधखिला फूल लिखा। प्रथम ग्रन्थ अत्यन्त क्लिष्ट संस्कृत के शब्दों से भरे बनावटी

ढंग का है और अन्य दोनों कृतियां एकदम ठेठ बोल-चाल की भाषा में लिखी गयीं । पं० लज्जाराम मेहता ने पत्रकार की भाँति आदर्श की प्रतिष्ठा के निमित्त धूर्त्त रसिक लाल, हिन्दू गहस्थ, आदश दम्पति, बिगड़े का सुधार और आदर्श हिन्दू नामक उपन्यास संवत् १५५६ से सं० १६७२ के बीच लिखा । पर दोनों की गणना केवल उपन्यासकारों के नाम गिनाने मात्र के लिए की जा सकती है। भावना--प्रधान उपन्यासों का आरम्भ भी उस युग में ब्रजनन्दन सहाय द्वारा हुआ । सौंदर्योपासक और राधाकान्त इनके उपन्यास हैं ।

इस प्रकार यह स्पष्ट ही देखा जा सकता है कि इस युग में उपन्यास के नाना प्रकार के बीजों का रोपण साहित्य के क्षेत्र में हुआ जिसका पल्लवन भावी युग में भी होता रहा ।

कहानियाँ

आधनिक ढंग की कहानियाँ भारतेन्दु युग में न लिखी गयीं, आख्यायिकाएँ लिखी गयीं । अन्य भाषा-भाषी अंग्रेजी के सम्पर्क में आ चुके थे, विशेषकर बंगलावाले । मौलिक, अनुवाद की रचना वहाँ होने लगी । हिन्दी में गिरजाकुमार घोष, लाला पारवती नन्दन तथा पूर्णचन्द्र की स्त्री बंग महिला ने बंगला से कुछ अनुवाद किया। बंग महिला ने मौलिक कहानियाँ भी लिखने का प्रयत्न किया, किन्तु वे बंगला के कहानियों के प्रभाव से अछुती नहीं । मौलिक कहानियों के विकास की अनुसूची--आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नीचे लिखे ढंग से दी है।

इंदुमती–'किशोरीलाल गोस्वामी' सं० १६५७, गुलबहार 'किशोरीलाल गोस्वामी' सं० १६५६ । प्लेग की चुड़ैल–'मास्टर भगवानदास मिर्जापुर' सं० १६५६, ग्यारह वर्ष का समय–'रामचन्द्र शुक्ल' १६६०, पंडित और पंडितानी 'गिरजादत्त वाजपेयी १६६०, दुलाईवाली–'बंग महिला' १६६४ ।

इन्हीं दिनों विद्यानाथ शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त की क्रमशः विद्यावहार और निन्यानवे का फेर उपदेशात्मक कहानियाँ प्रकाशित हुईं। माधवप्रसाद मिश्र आख्यायिकाएँ ही लिखते रहे । विश्वम्भरनाथ जिज्जा तथा वृन्दावन लाल वर्मा की कहानियाँ भी इसी समय छपीं, पर सभी दृष्टियों से न सभी कहानियों में साहित्य और कला की दृष्टि से कोई ऐसी अभिनव बात नहीं हुई, जिनके कारण इनका विशेष महत्व हो, अपितु इन्हें प्रयोग-कालीन रचना ही मानना श्रेयस्कर होगा । दुलाईवाली कहानी जीवन की सामान्य अभिव्यक्ति के कारण हिन्दी की अत्यन्त महत्वपूर्ण कहानी है । इसके पश्चात् तो हिन्दी कहानियों की एक झड़ी ही लग गयी । इन कहानियों का महत्व केवल ऐतिहासिक मात्र ही समझना चाहिये ।

समालोचना

पश्चिम में गद्य में न केवल आधुनि ढंग की कहानियाँ लिखी जा रही थीं, अपितु गद्य के सभी क्षेत्रों में बहुत बड़े पैमाने में साहित्य के वर्तमान विभिन्न अंगों का स्वस्थ

प्रणयन भी हो रहा था। बाबू हरिश्चन्द्र के समय में ही हिन्दी में आलोचना के सम्बन्ध में प्रेमघन का उल्लेख किया जा चुका है। यद्यपि उनकी आलोचना सुन्दर और सूक्ष्म थी, तो भी पुस्तकाकार किसी कृति का प्रकाशन भारतेन्दु के समय में आलोचना के क्षेत्र में नहीं हुआ था। इस सम्बन्ध में सबसे पहली कृति पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रकाशित हिन्दी कालिदास की आलोचना है। उन्होंने ही विक्रमांक चरित्र, देव चर्चा और नैषध चरित्र चर्चा आलोचना की प्रशंसात्मक पुस्तकें भी लिखी। ये आलोचना के क्षेत्र में प्रारम्भिक कृति ही मानी जा सकती है। द्विवेदी जी की कालिदास की निरंकुशता नामक पुस्तक आलोचना के क्षेत्र में तीसरी पुस्तक है। ये तीनों कृतियाँ प्रशंसात्मक तथा परिचयात्मक ही हैं। इनमें गम्भीर आलोचना का आरोप करना समीचीन तथा न्याय-संगत न होगा। इनके सम्बन्ध में केवल इतना मात्र कहा जा सकता है कि भाषा के सम्बन्ध में जिस मेघावी नियंत्रण का परिचय भविष्य में द्विवेदीजी ने दिया था, उसका इनमें बीजारोपण मात्र है। इनके सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने यह मत प्रकट किया है—"जो हो, इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्लेवालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिये, स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं।"

इस काल में मिश्र-बन्धुओं का उदय भी हुआ। हिन्दी नवरत्न और मिश्रबन्धु-विनोद द्वारा उन्होंने हिन्दी जगत् को अपना परिचय दिया। मिश्र-बन्धु-विनोद ऐतिहासिक महत्व की कृति है, भले ही वह गम्भीर न होकर इतिवृत्तों का संग्रहमात्र हो। इस वहद् ग्रंथ से हिन्दीवालों का, विशेषकर समीक्षा-लेखकों का उपकार ही हुआ। यद्यपि इस ग्रन्थ में किसी गम्भीर आलोचना-शैली का निदर्शन नहीं, तो भी हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा के प्रारम्भ का श्रेय मिश्र-बन्धुओं को है, क्योंकि इन्होंने देव को हिन्दी का सबसे बड़ा कवि मात्र ही उसमें नहीं बतलाया था, अपितु बिहारी से श्रेष्ठ कवि के रूप में चित्रित करने के लिये बिहारी और देव के सम्बन्ध में अनेक ऊटपटांग अनर्गल बातें भी लिख डालीं। मार्मिकता की दृष्टि से नहीं, आलोचना के विकास की दृष्टि से ऐसी समीक्षा-पद्धति का ऐतिहासिक महत्व तो है ही, भले ही वह बेसिर-पैर की हो।

पंडित पद्मसिंह शर्मा भी इस समय आलोचक के रूप में बिहारी सम्बन्धी अपनी कृति लेकर आये। आलोचना की दृष्टि से तुलनात्मक समीक्षा की यह विशिष्ट कृति है, किन्तु प्रस्तुत आलोचना इस बात के लिये लिखी गई थी कि बिहारी देव से बड़े हैं। इनकी पद्धति निराली और अनुठी है, पर शुक्लजी इन्हें भी रूढ़ि से अलग नहीं मानते। इनकी पुस्तक के कारण हिन्दी साहित्य में देव और बिहारी को श्रेष्ठ समझनेवाले लेखकों के दो अखाड़े बन गये। उन अखाड़ों में अनेकों ने कसरत की, दाव-पेंच दिखाया, किन्तु दो प्रमुख आलोचक पंडित कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन ने क्रमशः देव और बिहारी और बिहारी और देव नामक कृतियाँ प्रस्तुत कीं, जिनके कारण हिन्दी-समीक्षा-शैली को बल ही मिला। तुलनात्मक आलोचना इस युग की देन मानी जा सकती है। पर गम्भीर आलोचना का आरम्भ इसके बादवाले युग में हुआ।

निबन्ध

भारतेन्दु के समय ही से निबन्ध-लेखन का कार्य हिन्दी का आरम्भ हो चुका था। उस युग में वर्णनात्मक, भावात्मक, सामयिक तथा अन्य ढर्रे के निबन्ध लिखे गये। बेकन तथा चीतूलकर की पुस्तकों का अनुवाद क्रमशः पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी और पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने बेकन-विचार-रत्नावली और निबन्धमालादर्श के नाम से किया। इस युग के प्रमुख निबन्ध-लेखकों में पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी, पं० माधवप्रसाद मिश्र, गोपालराम गहमरी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० गोबिन्दनारायण मिश्र, बाबू श्यामसुन्दर दास जी, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सरदार पूर्णसिंह आदि मुख्य ह । इनके सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा।

आगामी युग जिन संभावनाओं और संकल्पों का आभास देता है वे निश्चय ही बहुत बड़ी आशा का संकेत हैं। इस बीजारोपण-काल में हिन्दी के लिये, हिन्दी साहित्य के विकास के लिये जो कार्य सम्पन्न हुआ वह निश्चय ही समय को देखते हुए बहुत बड़ा था।

बीसवीं शताब्दी
नई चेतना

बीसवीं सदी (ईसा) के आरम्भ में एक नई सामाजिक चेतना की जाग्रति भारतवर्ष में हुई। सन् १६०४ में जापान जैसे छोटे देश ने रूस पर विजय पा ली जिसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा। एशियाई राष्ट्र होने के कारण भारतवर्ष के लोगों के भीतर आशा और विश्वास की एक लहर उठी। उसी समय सन् १६०५ में काशी में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, जिसमें तिलक ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। कांग्रेस में राष्ट्रीय तत्वों को बल मिलने लगा। बंग-भंग और होमरूल आन्दोलन नयी स्फूर्ति जगाने में सफल हुए। लोगों के भीतर नया आत्मबल, नयी स्फूर्ति और स्वतंत्रता के लिये नयी चेतना, जाग्रत होने लगी। क्रान्तिकारी वीर युवकों के समय-समय पर किये गये साहसिक कार्यों की प्रतिक्रिया लोगों के मन पर नयी चेतना बनकर छा गयी। आवागमन के साधन, जो अंग्रेजों के शासन को दृढ़ करने के प्रमुख उपकरण समझे गये थे, वे ही समस्त भारत में बिखरे विशाल जनसमूह को एक आदर्श, एक भावना और एक आवश्यकता-स्वतंत्रता-के लिये एक सूत्र में बाँधने लगे। देश में पत्र-पत्रिकाओं के व्यापक प्रसार तथा कांग्रेस के संगठन ने लोगों में जान फूंक दी। विदेशी बायकाट और स्वदेशी आन्दोलन से जनता को बड़ा बल मिला।

हिन्दी के प्रसार और प्रचार का आन्दोलन भी व्यापक रूप ग्रहण करने लगा। नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना की बात पहले ही कही जा चुकी है। यहाँ से 'सरस्वती' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। आगे चलकर इस संस्था ने हिन्दी के लिये व्यापक आन्दोलन करनेवाली संस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन को भी जन्म दिया। इन दो संस्थाओं ने न केवल देश में बिखरी समस्त हिन्दी-प्रेमी जनता को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया, अपितु हिन्दी-प्रेमियों को उत्पन्न भी किया। सभा ने तो उस युग में जब कि खड़ी बोली किशोरावस्था में थी, ऐसे अनेक कार्य किये जो आज भी आश्चर्यचकित कर देते हैं। सम्मेलन ने अपनी परीक्षाओं आदि के द्वारा हिन्दी का जो व्यापक प्रभाव देश में उत्पन्न किया, वह उसी प्रकार का है जिस प्रकार का प्रभाव कांग्रेस ने राजनीति के क्षेत्रमें किया। सभा से सरस्वती का प्रकाशन एक बहुत बड़ी घटना के रूप में प्रकट हुआ। तीन वर्ष तक बाबू श्यामसुन्दरदास उसके संपादक रहे। फिर कार्याधिक्यके कारण उन्होंने पुराने सधे लेखक पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी को सौंप दिया। द्विवेदी जी ने सरस्वती के द्वारा अपने मनोभावों को मूर्त्त रूप दिया। सरस्वती द्वारा की गयी सेवाएँ सदैव स्वर्णाक्षरों में लिखी जायगी। भारतेन्दु जी के साथ चलनेवाले प्रायः उनके मित्र तुल्य थे, पर द्विवेदीजी के पीछे चलनेवाले उन्हें आदर्श और गुरु मानते थे। यह कहना गलत न होगा कि द्विवेदी जी के अनुगामी लेखक उनके बनाए हुए तथा उन्हीं के द्वारा हिन्दी में प्रतिष्ठित

किए गये हैं । उन्होंने लोगों के प्रतिभा की जड़ जमा दी । इस प्रकार उन्हें साहित्य में स्थापित किया कि तुकबन्दी करनेवाले भी आज तक पोथियों में बहुत बड़े कवि के रूप में स्मरण किये जाते हैं । कहना न होगा कि द्विवेदी जी अधिनायकवादी मनोवृत्ति के व्यक्ति थे। मराठी से वे विशेष प्रभावित थे । मराठी ही उनका आदर्श था। लोग उन्हें संस्कृत के महान् आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित करते रहे हैं, पर वास्तविकता यह है कि मराठी ही वे अधिक जानते थे। संस्कृत का आचार्य मानना उनके साथ अन्याय करना होगा । उन्हें संस्कृत का ज्ञाता अवश्य समझना चाहिये । जो कुछ भी हो, हिन्दी में बीस वर्षों तक उनका एकछत्र राज्य था । गद्य के क्षेत्र में उन्होंने खड़ीबोली की भाषा का संस्कार किया, नये लेखक पैदा किये उनकी रचनाओं को संवारा, सुधारा और कविता के क्षेत्र में भी उन्होंने वही कार्य किया। यदि उस समय की उनके द्वारा संशोधित रचनाएँ देखी जायँ, तो स्पष्ट ऐसा लगता है कि पूरी की पूरी रचना को भरसक अपने आदर्श से लेखक के भावोंका सामंजस्य करते हुए उन्होंने अपने ढंग से लिख डाला और उन्हें प्रकाशित किया। सभा में वे सब रचनाएँ रखी हैं, जो आज भी देखी जा सकती हैं । देश प्रेम की व्यापक चेतना का जो बीज भारतेन्दु युग में रोपित किया गया था वह सभी दृष्टियों से इस युग में पल्लवित हुआ ।

अब अलग-अलग इस युग के साहित्य के विभिन्न अंगों की रचनाओं पर विचार किया जायगा ।

भारतेन्दु युगकी रचना

भारतेन्दु-युग में ही गद्य के क्षेत्र में खड़ीबोली का आधिपत्य स्थापित हो चुका था पर बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक काव्य के क्षेत्र में ब्रज और खड़ीबोली के प्रश्न पर विद्वानों में मतान्तर चलता रहा। यद्यपि भारतेन्दु-मण्डल के प्रायः सभी कवियों ने प्रयोग रूप में खड़ीबोली में रचनाएँ कीं, तो भी वे अपनी असफलता को खड़ीबोली के मत्थे मढ़ते रहे । वे मान बैठे थे कि खड़ीबोली में काव्य की सृष्टि हो ही नहीं सकती । जो लोग खड़ीबोली में काव्य-रचना के पक्षपाती थे, उनकी भर्त्सना इस मंडल के अनेक सदस्यों ने समय-समय पर की और एक बहुत बड़ा विवाद इस प्रश्न पर छिड़ा । पर जीत खड़ीबोली की ही रही। खड़ीबोली को काव्य की भाषा बनाने का प्रयत्न प्रमुख रूप से सर्वश्री श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद, नाथूरामशंकरशर्मा आदि ने किया। खड़ी बोली के प्रति उनकी सतत निष्ठा का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी में नवागत खड़ी बोली में रचना करने के लिये परिकरबद्ध हुए । कभी-कभी फिर भी विरोध के दर्शन हो ही जाते थे ।

काव्य में खड़ीबोली की प्रगति की कहानी 'सरस्वती' के प्रकाशन से आरम्भ होती है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी सरस्वती द्वारा प्रारंभिक दशा की खड़ीबोली को काव्य का रूप देने के लिये प्रयोगकर्त्ता के रूप में दीख पड़ते हैं ।

यद्यपि भारतेन्दु-कालीन साहित्य में शृंगार-काल की विलासपूर्ण भाव-धारा के



महावीर प्रसाद द्विवेदी



श्याम सुन्दर दास



हरिऔध



रामचन्द्र शुक्ल



सुमित्रानन्दन पन्त



प्रेमचन्द

प्रति विद्रोह का स्पष्ट आभास मिलता है, सामाजिक पतन से निवृत्ति के लिये उस युग का भावशिल्पी विह्वल दीख पड़ता है, धार्मिक एवं दार्शनिक मनोवृत्तियों में भी नव-संस्कार, युक्त मानवीय चेतना के दर्शन होते हैं, तो भी उस युग का काव्य सामाजिक चेतना से अनुप्राणित खण्डनात्मक-मण्डनात्मक अधिक है और उसमें गद्य से भी अधिक नीरसता है। देश-दुर्दशा, विधवा-विवाह, वाल-विवाह आदि काव्य के नये सामाजिक उपकरण, १९ वीं शताब्दी में ही वन चुके थे । अनैसर्गिक मानवेतर कामुक भावनाओं से हिन्दी-काव्य का पिण्ड छूटा, पर खड़ीबोली अपने मनोभावों के उद्गार भाषा की असम्पन्नता के कारण व्यक्त करने में सर्वथा जीवनविहीन दीखती थी ।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी इसी बात के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहे। मराठी का प्रभाव उनपर था और वे संस्कृत के ज्ञाता थे, इसलिये प्रयोग रूप में संस्कृत-वृत्तों पर ही खड़ीबोली को ढालने का प्रयत्न वे कर रहे थे। तब तक अनेक सशक्त कवि इस क्षेत्र में आ चुके थे, जिनकी प्रथम दशक की खड़ीवोली की रचनाओं में निष्प्राण काव्य-तत्त्वों का दर्शन स्पष्ट लक्षित होता है, पर उनमें काव्य की नयी चेतना का उद्रेक निश्चित रूपसे दृष्टिगत भी होता है। वह है१९वीं शदी की प्रतिक्रियामूलक ध्वंसात्मक भावनाओं का सर्जनात्मक परिधान धारण करना । काव्य में भाव-प्रवणता की मात्रा बढ़ती दीख पड़ती है । यह स्मरणीय है कि भाषा के प्रयोग में द्विवेदी जी के साथ ही साथ सर्वश्री देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूरामशंकर शर्मा, "हरिऔध", गोपालशरणसिंह और मैथिलीशरण गुप्त आदि जुटे थे । खड़ी बोली को कुछ लोग उर्दू-छन्द शैली पर भी ढालने का प्रयोग कर रहे थे । इस प्रकार भावना एवं भाषा दोनों दृष्टियों से इस शताब्दी का प्रथम दशक प्रयोगात्मक रहा है।

हरिऔध तथा अन्य

छोटी-छोटी प्रबन्ध की रचनाओं, अनुवादों आदि के अतिरिक्त श्री मैथिलीशरण गुप्त का जयद्रथ-बध प्रकाशित हो चुका था। पर तब तक के सभी प्रयोग अर्द्ध सफल ही माने जा सकते हैं । ऐसी ही प्रयोगात्मक स्थिति के बीच हरिऔधजी का "प्रिय-प्रवास" हिन्दी संसार के सम्मुख आया । प्रिय-प्रवास का प्रकाशन खड़ीबोली के काव्य के इतिहास की एक घटना है, जो खड़ीवोली के विरोधियों के लिये चुनौती बनकर आयी । अपनी भूमिका में 'हरिऔध' जी स्वयं लिखते हैं कि"... मातृभाषा की सेवा करने का अधिकार सभी को तो है, बने या न बने, सेवा-प्रणाली सुखद या हृदय-ग्राहिणी होवे या न होवे, परन्तु एक लालायित-चित्त अपनी लालसा को पूरी किये बिना कैसे रहे ?

"यदि स्वान्त:सुखाय मैं ऐसा कर सकता हूँ तो अपनी टूटी-फूटी भाषा में एक हिन्दी काव्य-ग्रन्थ भी लिख सकता हूँ; निदान इसी विचार के वशीभूत होकर मैंने 'प्रिय-प्रवास' नामक काव्य की रचना की है ।" (प्रिय प्रवास की भूमिका पृष्ठ १)

'प्रिय-प्रवास' के वन जाने से खड़ीबोली में एक महाकाव्य की न्यूनता दूर हो गई ।"

(प्रिय-प्रवास भूमिका पृष्ठ २)

"इस समय खड़ीबोली में कविता करने से अधिक उपकार की आशा है। इसलिये मैंने भी "प्रिय-प्रवास" को खड़ीबोली ही में लिखा है।"

(भूमिका पष्ठ २६)

प्रायोगिक अवस्था का प्रबन्ध काव्य होने पर भी तत्कालीन प्रबन्ध काव्यों से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। सभी दृष्टियों से यह प्रबन्ध-काव्य समय से अत्यन्त आगे था। यदि यह कहा जाय कि 'कामायनी' के प्रकाशन के पूर्व तक अपने ढंग का यह महत्वपूर्ण मौलिक प्रबन्ध काव्य है तो अत्युक्ति न होगी।

प्रिय-प्रवास ने इस क्षेत्र में मानववादी आदर्शों की प्रतिष्ठा कर नयी चेतना का उद्बोध कराया। प्रिय-प्रवास के पूर्ववर्ती साहित्यिक अभियान में ब्रजभाषा के काव्य की एक छिन्न धारा का दर्शन निश्चय ही होता है, किन्तु तब तक खड़ीबोली की पूर्ण प्रतिष्ठा हिन्दी में हो चुकी थी। प्रिय-प्रवास ने प्रबन्ध-काव्यों के क्षेत्र में एक नई दिशा का संकेत किया।

प्रिय-प्रवास के पूर्व हरिऔध जी के साथ ही अन्य अनेक कवि साहित्य की रचना में जुटे हुए हैं, जिनपर द्विवेदी जी का प्रभाव नहीं था, उनमें रायदेवीप्रसाद, पं० नाथूराम शंकर शर्मा, पं० गया प्रसाद शुक्ल, पं० सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन, पं० रामनरेशत्रिपाठी आदि थे। द्विवेदी जी के आदर्श से प्रभावित कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय, पं० लोचल प्रसाद पाण्डेय आदि प्रमुख थे।

इन कवियों में पं० श्रीधर पाठक का नाम सबसे पहले लिया जायगा। उन्होंने सर्व प्रथम खड़ीबोली में काव्य की रचना की तथा नये भाव के उद्घाटन में कवि के रूप में सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन सभी प्रारम्भ में ब्रजभाषा में रचना करते रहे, किन्तु नये विषयों के लिये खड़ीबोली का व्यापक क्षेत्र ही इन्होंने अपनाया। पूर्व की रचनाएँ प्रकृति-निरीक्षण दार्शनिक मनोभावों के कारण अपने समय के अनुसार अच्छी बन पड़ी है। शंकर की रचनाएँ समस्या-पूर्तियों तथा उद्दाम जातीय और राष्ट्रीय भावनाओं के कारण मूल्यवान हैं। भाषा की सफाई तथा काव्यत्व की दृष्टि से पं० रामनरेश त्रिपाठी की रचनाएँ इन दो दशकों में किसी भी कवि से कम सुन्दर नहीं है। लाला भगवानदीन की रचनाएँ विशेषकर वीरपंचरत्न की रचनाएँ खड़ीबोली की दृष्टि से अपना प्रमुख स्थान रखती हैं। बाद के प्रायः सभी अच्छे कवियों की रचनाएँ इस युग में प्रकाश में आयीं। जिनका आगे वर्णन होगा। किन्तु प्रिय-प्रवास के पूर्व सन् १६१२ में भारत-भारती का प्रकाशन एक नये उल्लास का सूचक काव्य के क्षेत्र में बनकर आया। भारत-भारती ने जन-जागरण करने में बड़ी महती सेवा हिन्दी काव्य के द्वारा की है। उसका सामयिक महत्व ऐतिहासिक हो चुका है और गुप्त जी के प्रचार का बहुत बड़ा कारण भी वही रचना है। राष्ट्रीयता की भावना जगाने का कार्य उस समय की स्थिति में भारत-भारती ने बड़े ही सुन्दर ढंग से किया।

रामचरित उपाध्याय की रचनाएँ भी द्विवेदीजी के आदर्शों को मानकर लिखी गयी थीं। गद्य की इतिवृत्तात्मक प्रवत्ति उनकी सभी रचनाओं में पाई जाती हैं, क्योंकि द्विवेदी

जी का आदर्श भी वही था। उपाध्याय जी का रामचरित चिंतामणि अच्छी पुस्तक है किन्तु सामान्य कोटिकी। पं० लोचनप्रसाद पांडेय भी सरस्वती की दनहै। इन्होंने प्रबन्ध तथा स्फुट रचनाएँ कीं। किन्तु इन दो दशकों में सर्वाधिक महत्व के ऐतिहासिक कवि हरिऔधजी हुए। हरिऔधजी वास्तव में अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। यद्यपि भाषा की दृष्टि से उनके प्रियप्रवास में कहीं-कहीं व्रज भाषा का प्रभाव दृष्टिगत होता है और खड़ीबोली के प्रबन्ध काव्यों के विकास में उसकी महत्ता आज भी अक्षुण्य बनी है। इस भांति बीसवीं सदी के प्रथम दो दशक में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कवि हरिऔध हुए। उनकी शैली पर लोगों ने रचनाएँ कीं तथा अभी तक अनूप जैसे विख्यात कवि उनकी शैली पर चल रहे हैं। हरिऔधजी पहले व्रजभाषा में रचना किया करते थे। किन्तु उनका विशेष महत्व हिन्दी में प्रिय प्रवास के प्रकाशन द्वारा सं० १९७१ में स्थापित हुआ, यद्यपि हिन्दी काव्य के चिरपरिचित नायक कृष्ण को उन्होंने अपने काव्य का नायक बनाया है तो भी युग की व्यापक आकांक्षाओं को उन्होंने प्रतिष्ठित किया। यद्यपि समस्त काव्य कृष्ण के 'प्रवासके' समय के सम्बन्ध में उनके प्रेमियों द्वारा व्यक्त की गई अभिव्यक्ति है तो भी उनके कृष्ण रीतिकाल के छलिया कृष्ण नहीं, अपितु लोकनायक कृष्ण हैं: प्रिय-प्रवास में कृष्ण के सम्बन्ध में घटी अनेक घटनाओं का; जो लोक में प्रचलित है, उन्होंने वर्णन किया है। यह वर्णन भी स्मृति के द्वारा उनके विरहाकुल प्रेमियों द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। पर सर्वत्र कवि ने समाज की वर्तमान परिस्थिति तथा जाग्रति का ध्यान रखा है। उनकी राधा भी लोक-सेविका राधा हैं, न कि रीतिकाल की कामुक कवियों की नायिका राधा। सामाजिक तत्वों का इतना बड़ा परिनिवेष्ठन निश्चय ही प्रवन्ध के क्षेत्र में प्रिय-प्रवास को भावना की दृष्टि से अत्यन्त उच्च स्तर पर रखता है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह बात स्पष्ट है कि यह कृति सामाजिक चेतना जगाने की अपेक्षा साहित्यिक निर्माण की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि यह खड़ीबोली का प्रारम्भिक काव्य होते हुए भी ऊँचाई में समय से बहुत आगे था।

वर्णित महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षणों का प्रयोग भी इसमें मिलता है। नायक से लेकर छंदों तक उसका आभास स्पष्ट लगता है। किन्तु जिन व्यापक संदेशों, जिन व्यापक प्रभावों, युग को जीवन देनेवाली जिस प्रेरणादायिनी अभिव्यक्ति के कारण कोई काव्य महाकाव्य की संज्ञा से अभिभूत हो सकता है उन सब की पूर्णता इसमें नहीं है। अतएव इसे महाकाव्य की संज्ञा न देना अन्याय न होगा। ऐसे तो खड़ीबोली में प्रकाशित एक भी रचना महाकाव्य कहे जाने के उपयुक्त मेरी समझ में नहीं है, किन्तु बाद में लिखे गये अत्यन्त प्रचारित कुछ तथाकथित महाकाव्यों से यह किसी माने में कम नहीं है। चरित्रचित्रण की दष्टि से प्रायः इसके प्रमुख चरित्र उच्चकोटि के अंकित किये गये हैं जिनमें राधा और कृष्ण का चरित्र तो स्मरणीय है।

संस्कृत वृत्तों में प्रियप्रवास की रचना वर्णनात्मक ढंग पर हुई है। कहीं-कहीं तो वर्णन की विशदता जी उबा देती है। महाकाव्यों के वर्णन की धुन में कहीं-कहीं

कवि ने अनेक ऐसी चीजों का वर्णन कर डाला है कि ऐसा लगता है कि जिस सूक्ष्म निरीक्षण की अपेक्षा लोक-जीवन में किसी बड़े कवि से की जा सकती है वह इनमें नहीं है । इस अर्थ में इनकी कमजोरियाँ सर्वत्र लक्षित होती हैं । जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, इनपर यह आक्षेप किया जाता है कि इन्होंने ऐसी संस्कृत-निष्ठ भाषा में रचना की है कि उसमें से क्रिया पद हटा दिया जाय तो वे रचनाएँ संस्कृत की हो जायंगी ।

ऐसे स्थल यदाकदा ही प्रिय प्रवास में हैं । अधिकांश स्थल प्रवाहमय खड़ी बोली में लिखे गये हैं, भले ही कहीं-कहीं मिठास लाने के लिये ब्रज-भाषा के शब्द भी रख लिये गये हों । दूसरा इनका प्रमुख काव्य वैंदेही बनवास है । उपन्यासवाले प्रसंग में भाषा का जो नाटक इन्होंने किया पद्य के क्षेत्र में भी ये उससे अलग नहीं ।

बोलचाल की भाषा में उन्होंने मुहावरों का प्रयोग कर विभिन्न विषयों पर रचनाएँ कीं, जिसमें चोखे चौपदे, सं० १९८९ में प्रकाशित हुआ, जो प्रचलित बोलचाल की भाषा में है। पद्य-प्रसून जिसमें दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं सं० १९८२ में प्रकाशित हुआ ।

हरिऔधजी बाद में समालोचक और लेखक के रूप में प्रकट हुए, किन्तु हिन्दी में उनकी महत्ता कवि के रूप में ही है और कवि के रूप में रहेगी ।

हरिऔधजीके समसामयिक लेखकोंमें प्राय: ब्रजभाषामें रचना करनेवाले आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की महत्ता लाइट आफ एशिया के अनुवाद बुद्ध-चरित्र को लेकर है । वियोगी हरि भी अपने ढंग से पुरानी परिपाटी पर रचना करनेवाले सामान्य ढंग के कवि हैं किन्तु जगन्नाथ दास रत्नाकर की महत्ता इनमें सर्वोपरि है ।

रत्नाकर

जन्म सं० १९२३, मृत्यु सं० १९८९

ब्रजभाषा के अन्तिम प्रसिद्धकवि बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित अग्रवाल कुल में हुआ था । आपके पिता बाबू पुरुषोत्तम दास फारसी के विद्वान, हिन्दी के प्रेमी तथा भारतेन्दु के घनिष्ठ-मित्रों में से थे । 'रत्नाकर' जी के सम्वन्ध में भारतेन्दुजी ने भविष्यवाणी की थी कि यह वालक निश्चय ही वहुत वड़ा कवि होगा । 'रत्नाकर' ने काशी में बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की । फारसी से एम० ए० भी करना चाहते थे, कालेज में पढ़ा भी, पर परीक्षा न दी । आपने विद्यालय की शिक्षा समाप्त करने पर आवागढ़ में दो वर्ष तक एक सम्मानित पद पर कार्य किया और तत्पश्चात् अयोध्या नरेश के सचिव पद पर रहे । अयोध्या नरेश की मृत्यु के पश्चात् महारानी के भी सचिव हुए और जीवन-पर्यन्त उसी पद पर बने रहे ।

रत्नाकरजी ने अपने काव्य का विषय पौराणिक गाथाओं को बनाया । अपनी प्रतिभा के बल पर उसी प्राचीन छन्द और शैली को नए मौलिक भाव दे, ब्रजभाषा में रचना की । उनका काव्य नयी उक्तियों, नयी उत्प्रेक्षाओं एवं नवीन कल्पनाओं का भण्डार है । उनकी काव्यानुभूति प्रबल एवं मार्मिक है । इनका प्रकृति निरीक्षण भी अपना ही है ।

इनकी रचनाएँ हैं, उद्धवशतक, गंगावतरण, हरिश्चन्द्र, कलकाशी, विहारी-रत्नाकर आदि । पत्रों का संपादन एवं विहारी की टीका भी आपने की ।

आपकी भाषा सरस, मधुर प्रवाहमयी व्रजभाषा है । शब्दों को तोड़ने मरोड़ने का प्रयत्न इनमें नहीं दीखता । संस्कृत के तत्सम शब्द भी उन्होंने ग्रहण किये हैं । शब्दों का चयन प्रौढ़, संगठित एवं प्रभावोत्पादक है । लोकोक्तियों एवं मुहावरों का भी प्रयोग उन्होंने किया है । उपमा, रूपक, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का आपने सुन्दरता के साथ प्रयोग किया है । आपके प्रिय छन्द, कवित्त, सवैया और रोला हैं ।

रस का पूर्ण परिपाक, शब्दों का सुगठित चयन, भाव के अनुरूप छन्दोंका वरण, उपमा, रूपक, अनुप्रास की मधुर छटा सर्वत्र दृष्टिगत होती है ।

प्रथम दो दशक के प्रमुख कवि के रूप में हरिऔधजी तथा रत्नाकरजी मात्र का उल्लेख करना आश्चर्यजनक हो सकता है, यह देखकर कि द्विवेदीजी जैसे समर्थ व्यक्ति के सर्वश्रेष्ठ शिष्य श्री मैथिलीशरण गुप्त की चर्चा यहाँ नहीं हुई । पर यह सत्य है, भले ही गुप्त जी का नाम उस समय काफी प्रचारित हो गया हो, फिर भी जिन रचनाओं के कारण उनका साहित्यिक महत्व हैं वे रचनाएँ प्रथम विश्व-युद्ध के बाद ही रची गयी हैं और उनका पूर्ण विकास भी बाद में हुआ ।

इस युग का काव्य

यदि इस युग के काव्य पर विचार किया जाय तो जहाँ तक व्यापकता का प्रश्न है वर्ण्य-विषय, भाषा एवं भाव की दृष्टि से इस युग की रचनाएँ अपने पूर्ववर्ती युग के विकास की बहुत बड़ी कहानी अपने भीतर समेटे हुए है । देशप्रेम, समाजसुधार, हिन्दी-प्रेम, राजनीतिक जागर्ति के साथ-साथ सामाजिक विषयों को काव्य में लिया गया है । अंग्रेजी की प्रशस्ति भी की गयी है और यह प्रशस्ति प्रायः सभी कवियों ने की है । इस सम्वन्ध में सरस्वती में प्रकाशित उस काल के तथा बाद के कवियों की रचनाएँ देखी जा सकती हैं । जहाँ द्विवेदी जी ने अनेक लोगों को इस युग में साहित्य-निर्माण के आयोजन में प्रेरणा दी वहीं पर उनके इतिवृत्तात्मक आदर्श के कारण हिन्दी कविता में प्रारम्भ में गद्यात्मकता तथा तुकबन्दी के भी दर्शन होते हैं । भाषा के विकास की दृष्टि से इस युग में काव्य की भाषा खड़ी बोली हो गयी, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता । इस युग की काव्य-भमि तथा इसकी इतिवृत्तात्मकता ने उज्ज्वल भविष्य के लिये व्यापक भावभूमि तैयार की । साथ ही इस युग के काव्य ने उन सभी वृत्तियों का बीजारोपण किया जो बाद में सरस रसमय काव्यधारा के रूप में फूटी या इनकी प्रतिक्रिया के रूप में व्यापक रूप में दीख पड़ी ।

मैथिलीशरण गुप्त

द्विवेदी जी के समय म ही जिन कवियों का हिन्दी में व्यापक प्रचार हुआ, उनमें मैथिलीशरणजी का स्थान कई दृष्टि से सर्वोपरि है । यद्यपि वह सन् १९०६ में ही सरस्वती द्वारा द्विवेदी जी की छत्रछाया में हिन्दी काव्य के क्षेत्र में आये तो भी उनके साहित्य की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही हुई । जहाँ तक अनुगामियों का

प्रश्न है काव्य के क्षेत्र में द्विवेदीजी की गुप्तजी सबसे बड़ी रचना हैं। १९१२ ई० में स्फूर्तिमय राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न उनकी सामयिक कृति 'भारत-भारती' द्वारा उनके काव्यका व्यापक प्रचार हिन्दी जगत् में हुआ और वे हिन्दी में निरन्तर रचना करते रहे हैं। प्रारम्भ में वे आचार्य द्विवेदी के आदर्शों पर ठीक-ठीक चले। इस कारण इनकी पहले की रचना संस्कृत पदावली में काव्य शून्य तुकबन्दियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कही जा सकती। भारत-भारती ही काव्य की दृष्टि से बहुत उच्चकोटि की रचना नहीं है। इन्होंने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में देश-प्रेम, सामाजिक चेतना को सर्वत्र व्यापक निष्ठा के साथ व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

जिस परिवार में ये उत्पन्न हुए थे, जिस वातावरण में ये पले थे, वह वातावरण और परिवार इस बात में सहायक हुआ कि इनके भीतर भारत के अतीत के प्रति तथा भारतीय संस्कृति के प्रति अपूर्व निष्ठा जागी। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्राचीन के साथ नवीन का सामंजस्य इन्होंने अपनी शक्ति भर करने का प्रयत्न किया हैं। साथ ही मैं को अभिव्यक्त करने के व्यापक व्यामोहसे बचा लिया है। जिन सिद्धान्तों और आदर्शों को इन्होंने माना, उसीमें अपनी कविता को ढाल दिया। स्व के व्यामोह से बचना या तो बहुत बड़े आदमियों का काम हुआ करता है या सामान्य व्यक्तियों का। इस अर्थ में गुप्तजी निश्चय ही बहुत बड़े आदमी हैं।

प्रायः हिन्दी के सभी आलोचक एक स्वर से यही कहा करते हैं कि गुप्तजी जैसा महान कवि कोई भी इधर नहीं हुआ। क्योंकि वे सदैव युग के साथ रहे, अपने काव्य को उसी ओर मोड़ा, जिस दिशा में हिन्दी के काव्य की धारा प्रवाहित हुई। नदीकी धारा में अपनी नौका लहरों के अनुरूप प्रायः सभी माझी खे लेते हैं। ऐसे थोड़े लोग होते हैं, जो नदी की धारा मोड़ देते हैं और अपने मन के अनुसार उस धारा को प्रवाहित कर भगीरथ कहलाते हैं। गुप्तजी प्रथम कोटि के अर्न्तगत आएंगे, इसमें दो मत नहीं हो सकता। गुप्तजीके काव्य का वास्तविक मूल्यांकन तो समय ही करेगा, किन्तु यह कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिये कि किसी भी युग में उनके द्वारा किसी ऐसे काव्य का प्रणयन नहीं हुआ जिसे आदर्श मानकर चलनेवालों का एक मेला लग गया हो। उन्होंने सभी प्रकार की रचनाएँ कीं, पर किसी भी प्रकार के काव्य का उनके द्वारा युगप्रवर्तनकारी कार्य नहीं हो सका।

जितनी कविता-पुस्तकें गुप्तजी ने लिखीं, उतनी कविता-पुस्तक इस युग का कोई भी समर्थ कवि न लिख सका, इस अर्थ में वे निश्चय ही महान हैं। प्रायः कुछ लोग उन्हें सच्चे अर्थ में राष्ट्रकवि मानते हैं। राष्ट्रीय रचनाओं के निर्माण मात्र से ही कोई कवि राष्ट्र-कवि नहीं हो सकता। सत्य तो यह है कि तुलसीदासके पश्चात् हिन्दी में आजतक कोई ऐसा कवि हुआ ही नहीं जिसे राष्ट्र-कवि माना जा सके। राष्ट्रीय कवि और महान राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरणजी हैं यह कहने में मुझे संकोच नहीं। पर राष्ट्र-कवि उन्हें मानने में इसलिये संकोच का अनुभव करता हूँ कि उनकी रचनाएँ यदि पाठ्यग्रंथों से निकाल दी जायें, तो उनमें कोई ऐसे महान व्यापकचिरस्फूर्तिदायक तत्वों का दर्शन नहीं होगा जो जनता को युग-युग तक भारतीय राष्ट्र की आत्मा का परिचय और उद्बोध करा सकें।

इस अर्थ में तुलसीदास एकमात्र ऐसे व्यक्ति ठहरते हैं। ये भावनाएँ कुछ लोगों को मान्य न हों, किन्तु यह बात भूलने की नहीं है, विशेषकर उनलोगों को जो हिन्दी के शिक्षक हैं कि आज के छात्रों को ुप्तजी की रचनाएँ प्रभावित नहीं कर पातीं। यदि यह सत्य है तो निश्चय ही जिस स्थायी काव्य-जीवन की बात गुप्तजी के सम्बन्ध में कही जाती है वह ऐसे आधारो पन आघृत हैं जिसे समय और काल की सीमा बहुत व्यापक परिधि में ले जा सकेगी। पर एक बात निर्विवाद रूप से सत्य है कि हिन्दी में बीसवीं शताब्दी के कवियों में उनका काव्य सर्वाधिक जन-प्रचारित है इस पर दो मत नहीं हो सकते।

गुप्तजी ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ढंग के काव्य लिखे। उनके काव्य की व्यापकता बड़ी विशाल है। काबा-कर्बला से लेकर जहाँ एक ओर वह हिन्दू तक आते हैं, वहीं पर रामायण और महाभारत के प्राचीन आख्यानों को भी आधुनिक रूप से अभिव्यक्त करते हैं। उनकी रचनाओं में विविध छंदों का प्रयोग मिलता है किन्तु उनकी सफलता प्रबन्ध काव्यों में ही अधिक निहित है। प्रारम्भिक रचनाएँ उनकी जैसी हैं वह व्यक्त ही किया जा चुका है किन्तु बाद की रचनाओं में साकेत, यशोधरा, पंचवटी, तथा जय भारत के कुछ अच्छे अंश बन पड़े हैं। उनकी सर्वाधिक सफलता साकेत पर आधृत है।

रवीन्द्र बाबू ने अपने एक निबन्ध में काव्य की उपेक्षिता उर्मिला की ओर ध्यान आकृष्ट किया। तत्कालीन कुछ कवियों ने और हिन्दी के कवियों ने उधर ध्यान दिया। हरिऔध जी की भी सरस्वती में एक लम्बी रचना उर्मिला के सम्बन्ध में प्रकाशित हुई जो अधिक महत्वपूर्ण नहीं। गुप्त जी का साकेत, जिसकी प्रधान नायिका उर्मिला है, उनकी ख्याति का कारण बना।

गुप्तजी सरल स्वभाव के मानवता वादी श्रमसाध्य कविता करनेवाले बड़े कवि हैं। सर्वदा मर्यादा का वे ध्यान रखते हैं। यही बात साकेत के सम्बन्ध में भी है। साकेत भी महा-काव्य की कोटि में उन्हीं कारणों से नहीं रखा जा सका जिस कारण से प्रियप्रवास नहीं रखा गया है। जहाँ तक प्रबन्ध काव्य में कथावस्तु के गठन का प्रश्न है, साकेत में उसकी कमी है। साकेत के द्वारा उन्होंने निश्चय ही राम के लोक-जीवन में प्रतिष्ठित करने का नये युग के अनुरूप प्रयत्न किया। इस काव्य में नवीन और प्राचीन दोनों परिपाटी की रचनाएँ खड़ीबोली में समन्वित ढंग से रखी गयीं हैं।

साकेत खड़ीबोली का प्रमुख प्रबन्ध काव्य है, जिसमें रामायण की सम्पूर्ण कथा संस्मरण या घटना द्वारा वर्णित है। प्रायः वर्णनों में वर्तमान आन्दोलनों का प्रभाव दीख पड़ता है। सत्याग्रह, विश्वबन्धुत्व, आधुनिक युग के किसान, और श्रमजीवी, पौराणिक कथा के भीतर अपना अलग-अलग रूप लिये मिलते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है।

"किसी पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र के परम्परा के प्रतिष्ठित स्वरूप को मनमाने ढंग पर विकृत करना हम भारी अनाड़ीपन समझते हैं।'

इस सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त है। एक बात चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में, जो विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है, वह यह है कि कैकयी का जैसा चित्र गुप्तजी ने

उपस्थित किया है, वह अत्यन्त मोहक, सुन्दर तो है ही, अपने ढंग का अनूठा भी है । साकेत के दो सर्गों में नवें दसवें में उर्मिला का विरह वर्णन छायावादी ढंग के गीतों में व्यक्त किया गया है । यद्यपि प्रबन्धतत्व की दृष्टि से वे भी अच्छे नहीं माने जायेंगे क्योंकि एक तरह के गीतों की भरमार हो गई है, पर उनमें से अनेक बड़े उच्चकोटि के बन गये हैं। छायावादी गीतों के ढंग पर रचे गये ये गीत बड़े ही सजीव और प्राणवान हैं।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है तथा रचना विधान का प्रश्न है, गुप्त जी की अधिकांश रचनाएँ कर्कश हैं तथा कहीं-कहीं तो तुक मिलाने के फेर में काव्य की हत्या तक हो गई है । यह कवि के तुक प्रेम का बहुत बड़ा परिचायक है । गुप्तजी ने पद्य रूपकों की तथा चंपू काव्य की रचना भी की । इनकी रचनाओं में छायावादी ढंग के गीत झंकार संग्रहीत हैं । प्रतीकवादी काव्य की भी इन्होंने रचना की । इस दृष्टि से इनके काव्य की परिधि बड़ी ही व्यापक है । इनकी रचनाओं का नाम निम्नलिखित हैं।

श्री मैथिलीशरण गुप्त की रचनाएँ

काव्य--१. अनघ, २. अर्जन और विसर्जन, ३. अजित, ४. काबा और कर्बला, ५. किसान, ६. कुणाल गीत, ७. गुरुकुल, ८. गुरु तेगबहादुर, ९. चन्द्रहास, १०. जयद्रथ वध, ११. जयिनी, १२ झंकार, १३. तिलोत्तमा, १४ द्वापर, १५. नहुष, १६. पत्रावली, १७. पंचवटी, १८. भारत-भारती, १९, मंगलघट, २०. यशोधरा, २१. रंग में भंग, २२. विकट भट्ट, २३. वैतालिक, २४. विश्व-वेदना, २५. वन-नैभव, २६. वक-संहार, २७. साकेत, २८. सिद्धराज, २९. सैरन्ध्री, ३०. स्वदेश संगीत, ३१. शकुन्तला, ३२. हिन्दू, ३३. हिडिम्बा, ३४. जय भारत ।

इस युग के अन्य प्रमुख कवि जो सरल, सीधे ढंग से रचना करते रहे, उनका परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

पं० बद्रीनाथ भट्ट, मुकुटधर पाण्डे आदि कवियोंने छायावाद और द्विवेदी जी के काव्यादर्श के बीच का मार्ग ग्रहण किया।

रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण'

रायदेवीप्रसाद पूर्ण ब्रज भाषा तथा खड़ी बोली में कविता करने वाली प्रमुख कवियों में से एक थे । उन्होंने रस-बाटिका नामक पत्रिका चलाई तथा रसिक समाज की स्थापना ब्रज भाषा के काव्य की उन्नति के लिए की । बाद में इन्होंने खड़ी बोली में भी रचनाएँ कीं । इनकी रचनाओं का संग्रह 'पूर्ण संग्रह' के नाम से प्रकाशित हुआ है ।

पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा

समस्या पूर्ति करने वाले प्रमुख कवियों में तथा ब्रज भाषा की सरस रचना करने वाले कवियों में इनका अपने समय में अत्यन्त सम्मान था । इनका सर्वत्र सत्कार होता था । ये आर्य समाजी थे तथा अत्यन्त निर्भीक जीव । इनकी रचनाएँ बाद में खड़ी बोली में भी लोगों के सामने आई । वे सामाजिक व्यंग लिए होती थी । उसे आर्य समाज का प्रभाव

समझना चाहिए । गर्भ-रंडा-रहस्य नामक इन्होंने एक प्रवन्ध काव्य भी लिखा है जिसमें विधवाओं की दयनीय स्थिति का वर्णन तो है ही मंदिरों आदि में ढहने वाले अनाचार औरअन्याय का भी वर्णन है । इनका जन्म सं० १६१६ और मत्यु १६८६ में हुई थी ।

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' त्रिशूल

उर्दू और हिन्दी दोनों में भाव पूर्ण सरस रचना करनेवालों में इनका काव्य निरंतर सम्मान पाता रहेगा । पहले यह व्रज भाषा में रचना करते थे किन्तु बाद में इन्होंने खड़ी बोली में भी रचनाएँ कीं । यह कानपुर के उन कवियों में माने जाते हैं जिन्होंने सरस काव्य के साथ ही साथ काव्यकारों के निर्माण में भी महान योगदान किया । प्रेम पचीसी कुसुमांजलि, कृषक क्रंदन आदि इनकी रचनाएँ अत्यन्त विशिष्ट हैं ।

पं० रामनरेश त्रिपाठी

पं० रामनरेश त्रिपाठी हिन्दी के द्विवेदी कालीन कवियों में अपनी कविता के कारण सदैव ही स्मरण किये जायेंगे । उन्होंने समय और परिस्थिति के अनुकूल अपनी भावना को मूर्त रूप देनेके लिए कथाएँ गढ़ कर देश भक्ति,कर्म और प्रेम सबके प्रति रसात्मक दृष्टिकोण उपस्थित किया । इन्होंने प्रकृति का स्वस्थ और सुन्दर रूप अपनी आँखों से देखकर काव्य के क्षेत्र में उपस्थित किया । मिलन, पथिक और स्वप्न इनकी तीनों रचनाएँ अत्यन्त उच्च कोटि की हैं । इनके कविता में प्रसाद गुण और भाषा में सफाई के सर्वत्र दर्शन होते हैं। आपने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है । जिनमें कविता कौमुदी अपने ढंग की अनूठी वस्तु है । अपने सफल आलोचनाएँ भी लिखी हैं तथा ग्राम गीतों का उद्धार भी किया है ।

हितैषी

जगदम्वा प्रसाद हितैषी भी वड़े अच्छे रचनाकार हैं । इनकी सबसे बड़ी देन यह है कि इन्होंने प्राचीन परिपाटी को खड़ी बोली में प्रयुक्त किया । इनके संबंध में आचार्य शुक्लजी का यह अभिमत है कि :—

"खड़ी बोली के कवित्तों और सवैयों में वही सरसता, वही लचक, वही भावभंगी लाए जो व्रजभाषा के कवित्तों और सवैयों में पाई जाती हैं । इस वात में इनका स्थान निराला है । यदि खड़ी बोली की कविता आरंभ में ऐसी ही सजीवता के साथ चली होती, जैसी इनकी रचनाओं में पायी जाती है, तो उसे रूखी और नीरस कोई न कहता । रचनाओं का रंग-रूप अनूठा और आकर्षक होने पर भी अजनबी नहीं है । शैली वही पुराने उस्तादों के कवित्त-सवैयों की है । जिनमें वाग्धारा अंतिम चरण पर जाकर चमक उठती है । हितैषीजी ने अनेक काव्योपयुक्त विषय लेकर फुटकल छोटी-छोटी रचनाएँ की हैं जो 'कल्लोलिनी' और 'नवोदिता' में संगृहीत हैं । अन्योक्तियाँ इनकी बहुत मार्मिक हैं ।"

अनूप शर्मा

प्रारम्भ में ये व्रजभाषा में रचना करते रहे और बाद में खड़ी बोली की ओर इनका ध्यान गया। ये बुद्ध तथा जैन चरित्रों से बहुत ही प्रभावित दीखते हैं। इन्होंने स्फुट काव्यों के अतिरिक्त कुणाल, सिद्धार्थ तथा बर्द्धमान की रचना की है। सिद्धार्थ और बर्द्धमान दोनों संस्कृत के वित्तों पर लिखे गये हैं। समान्यतः इनके काव्य अच्छे बन पड़े हैं।

ठाकुर गोपाल शरणसिंह

खड़ी बोली के प्राचीन कवियों में इनकी भी गणना की जाती है। इन्होंने भी स्फुट काव्य से लेकर प्रबन्ध काव्यों तक की रचना की है। यद्यपि विषय की दृष्टि से इन्होंने छायावादी विषयों को ही चुना है, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति अपने ढंग पर सीधी-साधी पद्धति की है। ये जीवन में काव्य की अभिव्यंजना करनेवाले व्यक्ति हैं। इनकी प्रबन्ध-काव्यात्मक रचना बापू पर अभी हाल में ही प्रकाशित हुई है। अन्य रचनाएँ हैं—

काव्य—१. आधुनिक कवि, २. कादम्बिनी, ३. ज्योतिष्मती ४. माधवी, मानवी, ६. संचिता, ७. सागरिका, ८. सुमना।

पुरोहित प्रतापनारायण, तुलसीराम दिनेश तथा सोहनलाल द्विवेदी आदि भी सीधी-साधी पद्धति पर रचना करनेवाले कवि हैं। इन तीनों में पं० सोहनलाल द्विवेदी का स्थान इस माने में सर्वोत्तम है कि उनके स्फुट और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनाओं में सरसता है। इनकी भाषा अत्यन्त ओजपूर्ण है।

सुभद्रा कुमारी चौहान

जन्म सं० १९६१, मृत्यु सं० २००५

आप जबलपुर की रहनेवाली थीं। आपके पति का नाम ठा० लक्ष्मण सिंह था। १५-१६ वर्ष की आयु से ही आपने रचना आरंभ कर दी थी। धीरे-धीरे उनकी काव्य कला विकसित हुई और हिन्दी की प्रमुख कवियित्रियों में इन्होंने अपना स्थान बना लिया।

वह राष्ट्रीय चेतना की जागरूक कवियित्री थीं। देश-प्रेम के कारण कई बार जेल यातनाएँ भी आपने सहीं। मध्यप्रदेशीय असेम्बली की सदस्या भी थीं। काव्य के साथ ही साथ कहानी और निबन्ध लेखिका भी थीं।

वे आधुनिक युग की कवियित्रियों में सर्वाधिक लोकप्रिय हुईं। 'झांसी की रानी' उसका प्रमाण है। नारी-जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति, पारिवारिक जीवन की अनुभूति, राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार, प्रसार, सोल्लास आशावादिता उनकी कविता के विषय थे। इहलौकिक नारी-हृदय का आपने सफल चित्रण किया है।

आपकी रचनाओं का नाम है 'मुकुल', 'बिखरे मोती' और 'उन्मादिनी'।

आपने खड़ी बोली में रचना की है जो प्रवाहमय, सरस तथा हृदयग्राही है। शैली स्पष्ट तथा भाव व्यंजक है। भाव एवं भाषा दोनों दृष्टियों से रचनाएँ सफल हैं।

गुरुभक्त सिंह 'भक्त'

जन्म सं० १६५०

आपका जन्म जमनिया, जिला गाजीपुर में हुआ। आपकी शिक्षा बी० ए० एल-एल० बी० तक है और हाल तक आजमगढ़ म्युनिसिपल बोर्ड में एक्जीक्यूटिव आफिसर रहे हैं।

'सरस सुमन', 'कुसुम-कुंज', 'वंशी-ध्वनि', 'नूरजहां' तथा 'विक्रमादित्य' आपके काव्य हैं।

गुरुभक्त सिंह जी की रचनाओं में प्रकृति के सौन्दर्य की मनोहर झाँकी मिलती है। वे प्रकृति के कवि हैं तथा प्रकृति के सधे हुए चित्रकार हैं। इस क्षेत्र में उन्हें अच्छी सफलता मिली है।

'नूरजहां' ने आपकी कीर्ति को अधिक प्रसारित किया है। मानव हृदय के अन्तर्द्वन्द्व, पिपासायुक्त जीवन की कसक और प्रेम की चिर-जाग्रत भावनाओं का रेखांकन (भक्त) जी के इस काव्य में बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है।

आपकी भाषा सरस चलती हुई खड़ी बोली है। मुहावरों के प्रयोग सुन्दर बन पड़े हैं। उर्दू के शब्द भी आपकी रचनाओं में आते हैं जो काव्य की शोभा बढ़ाने में सहायक होते हैं। विक्रमादित्य को वह सफलता न मिली।

पं० श्यामनारायण पाण्डेय

बहुत शीघ्र ही जिन कवियों ने लोक में व्यापक ख्याति प्राप्त की उनमें पं० श्याम-नारायण पाण्डेय का नाम सीधे साधे ढंग पर रचना करनेवालों में पहले स्मरण किया जायेगा। सन् १६३१ में यह हिन्दी जगत के सम्मुख आये। हरिऔध, पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी तथा बेढब जी के कारण बहुत शीघ्र ही इन्होंने व्यापक ख्याति प्राप्त कर ली। संस्कृत के महान् वांगमय के काव्य-तत्वों से इनका परिचय है। हिन्दू प्राणोंको अनुप्राणित करनेवाली व्यापक घटनाओं और चरित्रों को इन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया जिसका परिणाम यह हुआ कि इनकी भावनाओं के प्रति लोगों का सहज आकर्षण है। इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ त्रेता के दो वीर, तुमुल, माधव, रिमझिम आदि हैं। हल्दीघाटी द्वारा, जो १७ सर्गों में लिखा गया प्रवन्ध काव्य है तथा जिसकी खपत हिन्दी की खड़ी बोली के प्रवन्ध काव्यों में सर्वाधिक हुई, पं० श्यामनारायण पाण्डेय हिन्दी के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुए।

इस प्रवन्ध के नायक महाराणा प्रताप हैं जिन्हें हिन्दू जनता सदैव से अपने धर्म का महान रक्षक मानती है; जिस समय हल्दी घाटी की रचना हुई, उस समय देश में मुस्लिम लीग के कारण हिन्दू-भावना भी जोरों पर थी। साथ ही महाराणा प्रताप के संबंध में खड़ी वोली में अच्छा प्रबन्ध-काव्य भी न था। सुनाने की सुन्दर पद्धति, सरस ओजमयी प्रवाह पूर्ण भाषा तथा छन्द-विधान इसके व्यापक प्रसार में बहुत बड़े सहायक हुए। युद्धों, उत्साह से भरी संघर्ष की अन्तर तथा वाह्य दशाओं का चित्रण कवि ने प्राचीन

ढंग पर किया है तो भी आधुनिक काव्य-रचना-पद्धति पर छन्दों का गुम्फन बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है ।

दूसरी इनकी रचना जौहर है । इसमें उसी ढंग पर अलाउद्दीन और पद्मिनी की लोक प्रसिद्ध कहानी तथा जौहर का वर्णन किया गया है । जौहर का वह अंश, जिसमें जौहर का वर्णन है, बड़ा ही मार्मिक और उच्च कोटि का तो है ही, प्रभावोत्पादक भी है ।

स्फुट गीतों का जिसमें बन्दनाएँ तथा राष्ट्रीय गीत हैं, आरती में संग्रह हुआ है । उसमें शंकर के ताण्डव नृत्य का वर्णन अत्यन्त उच्च कोटि का है । इधर कवि-सम्मेलन में उनके जो नये प्रबन्ध काव्य परशुराम के भी कुछ अंश सुन पड़े हैं, वे उसी पद्धति पर हैं । इन्होंने कुमार संभव का पद्यों में अनुवाद भी रूपान्तर के नाम से किया है । कुछ मीठी लोरियां और गीत भी लिखे हैं ।

इनकी भाषा अत्यन्त प्रवाहपूर्ण सरल तथा ओज भरी है । व्याकरण का दोष इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं पाया जाता है । फिर भी ये हिन्दी के खड़ी बोली के आधुनिक कवियों में अत्यन्त प्रिय एवं अपने ढंग के एकमात्र कवि हैं ।

———

हिन्दी काव्य में नयी चेतना

विभिन्न वाद

छायावाद

प्रथम युद्ध के वाद देश एक नयी स्थित में था । अंग्रेजी शिक्षा की व्यवस्था के कारण देश में जितने भी शिक्षित निकलते थे वह एक विचित्र परिस्थिति का अनुभव करने लगते थे । यह शिक्षा अंग्रेजों की दृष्टि से इस माने में सफल रही कि लोगों को इसकी छत्रछाया में उन्होंने भारत के अतीत के सांस्कृतिक गौरव के ज्ञान से विलग कर दिया । वह अपने देश को अंग्रेजों की आँख से देखने लगे । दूसरा वर्ग ऐसा था जो पुरानी परिपाटी पर ही वर्त्तमान परिवर्त्तनों में जीवन और समाज का मूल्यांकन करता था तथा वह नयी शिक्षा प्राप्त लोगों के विलकुल विरुद्ध था । ऐसी परिस्थिति में भी देश में कुछ ऐसे सजीव लोग बचे हुए थे जिन्हें भारत के अतीत का ज्ञान तो था ही, वर्तमान सामाजिक ढांचे से तथा उसके प्रभाव से परिचित तो थे ही, साथ ही उनके सामने भावी सामाजिक निर्माण का अपना पथ भी था जो भारतीय होते हुए भी रूढ़िवादी नहीं, अपितु विकासवादी समन्वय प्रधान मनस्तत्व था । ये ऐसे व्यक्ति थे जो अपनी आँखों से समाज को देखते थे, उसका निदान करते थे और सामंजस्य पूर्ण व्याख्या उपस्थित करते थे । ऐसे लोग सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक सभी क्षेत्रों में थे ।

मशीनों की उत्पादन व्यवस्था ने देश में वैषम्य का द्रुतगति से वीजारोपण किया फलतः विक्षोभ की एक व्यापक लहर जनमन में प्रतिष्ठित हुई । अंग्रेजों की कूटनीति तथा स्वार्थपरता की नीति ने युद्ध के वाद उनका सत्य रूप सबके सामने रख दिया । १९२१ से देश का नेतृत्व गांधी जी के हाथों में आ गया, उन्होंने इन सभी प्रकार के विक्षोभों का प्रयोग देश के उत्थान के सबसे वड़े अवरोधक तत्व परतंत्रता के उन्मूलन में किया । देश में एक आदर्श की प्राप्ति के लिए सभी शक्तियों को, विशेषकर पददलित त्रासित भयग्रस्त लोगों को गांधीजी ने न केवल उठाया, अपितु एक आदर्श के लिए उन्होंने अपने अहिंसावादी आन्दोलनों द्वारा व्यापक चेतना जगा दी । गांधीजी का मार्ग चिर पुरातन होते हुए भी भारत में भौतिकवादी मशीनों की सभ्यता के अनुरूप चिर नवीन भी था । जहां उन्होंने देश के प्रत्येक व्यक्ति के भीतर उसकी शक्ति का आत्मबोध कराया, वहीं उन्होंने हर व्यक्ति को अपना मूल्य भी अपने रूप से समझने की प्रेरणा दी । इसके पूर्व तक हिन्दी में विशेषकर पद्य के क्षेत्र में परम्परागत रूढ़ि का प्राधान्य था ।

जहां एक ओर हिन्दी कविता रीतिकाल की वंधी वंधाई शव्दावली के भावाभिव्यंजन-प्रणाली के पथ पर थी, वहीं दूसरी ओर या तो तुकबंदी में गद्य-सी रचना काव्य के नाम

पर होती थी या कुछ बंधे बंधाये आदर्शों और मान्यताओं के भीतर, जिसमें स्वदेश प्रेम राष्ट्रीयता शिक्षा आदि थे, कवि को संचरण करना पड़ता था। हिन्दी साहित्य में कवि के रूप में जितने लोग वर्त्तमान थे उनमें कुछ एक ही ऐसे लोग थे जिनकी अधिकांश रचनाएँ सरस बन पड़ीं अन्यथा सभी द्विवेदीजी के आदर्शवादी लौह आवरण के भीतर उनकी मान्यताओं से सामंजस्य स्थापित करते थे? द्विवेदीजी द्वारा आविष्कृत काव्य की मशीन पर सभी कविता का निर्माण करते थे। यह रूढ़िवादिता तथा मशीनों के उत्पादन की नीरसता तत्कालीन काव्य में है। ऐसे ही समय कुछ ऐसे कवि हिन्दी में आए जो वर्तमान कविता से अपना सामंजस्य स्थापित न कर सके। उन्हें अपनी आँखें मिली थीं, उससे वह देखना जानते थे। उनकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि वह आवरण ही नहीं अन्तस्थल तक पहुँचना जानती थी। वे ऐसे व्यक्ति थे जिनका मन मरा हुआ नहीं था। मशीन की भांति निर्जीव नहीं अपितु जीवित व्यक्ति की उनमें चेतना थी। उनके पास अपना मन भी था। विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव तो उनके मन पर पड़ता ही था, उनका अपना भी एक संसार था जिसमें सुख, दुख सभी कुछ था। अपने मन और आँखों से देखने वाले, अपनी अन्तरभावनाओं से वातावरण का सामंजस्य स्थापित करने वाले ये कवि छायावादी कवि के नाम से तथा इनकी कविता छायावाद के नाम से संबोधित की जाने लगी।

कुछ हिन्दी आलोचकों को, प्राचीन से लेकर नवीन तक, जो कुछ भी हिन्दी में नयी वात दीख पड़ती है, वे उसे वंगला से आया हुआ तत्काल घोषित कर देते हैं। छायावाद शब्द को भी उन्होंने वंगला से आया हुआ बतलाया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि सन् १६२० से ही हिन्दी में छायावाद शब्द व्यापक रूप से प्रचारित होने लगा था। प्राचीन परिपाटी के लोग उपहास करने की दृष्टि से इन नवीन रचनाओं का संबोधन छायावाद शब्द से करते थे। नई पद्धति की रचनाओं ने इस शब्द को स्वीकार कर लिया और व्यंग वास्तव में सर्वसम्मत सत्य हो गया। जहां तक छायावादी नाम विधान का प्रश्न है वहां तक इसे केवल इस बात तक सीमित रखना चाहिये कि जिन कविताओं में तत्कालीन परिस्थिति जन्य भावनाओं की छाया के कारण रूढ़िग्रस्त कविता से हिन्दी काव्य मुक्त हुआ, वे ही रचनाएँ उस समय छायावाद के नाम से पुकारी गयीं।

कुछ लोग छायावाद युग की भी चर्चा करते हैं। छायावाद नाम का कोई युग मानना या तो छायावादी रचनाओं के प्रति व्यापक व्यामोह का प्रतिफल समझना चाहिये या नई वात कहने की ललक मात्र। क्योंकि इस यग मे जितनी रचनाएँ साहित्य का बहुत बड़ा शृंगार बनी तथा जिनका मूल्य स्थायी है, उनमें काव्य की कृतियां बहुत थोड़ी ही आएँगी। गद्य के विकास की दृष्टि से इसे युग को वही गौरव गद्य के क्षेत्र में प्राप्त है जो कविता के क्षेत्र में भक्ति यग को प्राप्त है। प्राय: सभी छायावादी रचनाकार महान गद्य लेखक भी रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में उसे युग का नाम दे डालना समीचीन नहीं है।

छायावाद न तो नवीन का प्राचीन के प्रति विद्रोह है, न वह हिन्दी की नई कविता प्रणाली है और न उसमें युग की सारी निराशा एक स्थान पर केन्द्रित है।

वह नवीन और पुरातन का संगम है, व्यक्ति और आदश का समन्वय है, तथा है युग के अनुरूप भारतीय काव्य प्रणाली का विकसित निर्माणकारी रूप। न तो उसे झझा की संज्ञा दी जा सकती, न जी उबा देने वाली अत्यंत मन्द गति से बहने वाली वायु की। वह तो सहज निर्मल स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होनेवाली चेतना की प्रतिकृति है।

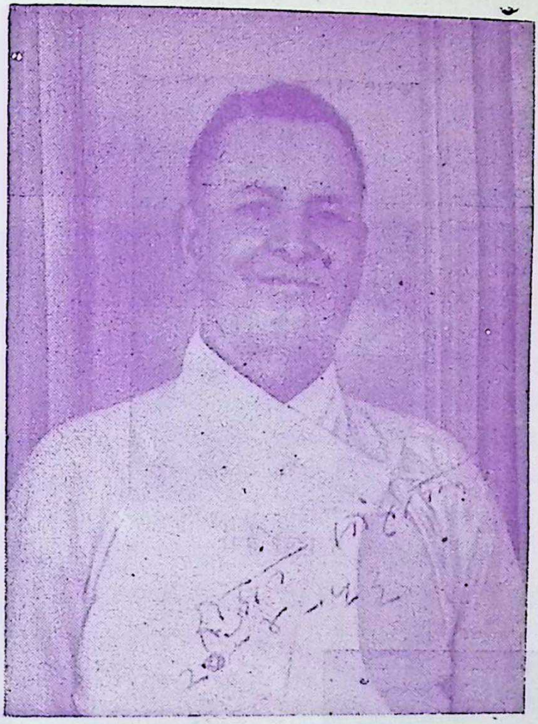
युगों से हिन्दी-काव्य में व्यक्ति की अनुभूति दबी रही। बीच-बीच में घन-आनन्द जैसे समर्थ कवि हुए। जिन्होंने अपने मन के वास्तविक उद्‌गार प्रकट किये पर परपाटी की व्यापकता ने कवि पर विजय पायी। भारतेन्दु युग में कहीं-कहीं कवि उभड़ा पर उभार की लहर तत्काल ही युग के काव्यधारा में विलीन हो गयी। सर उठाकर चलना बड़े साहस और विशाल व्यक्तित्व के लोगों का कार्य हुआ करता है। कवियों के पास अपना दुख-सुख आशा और निराशा भी थी। वह उनके जीवन को आन्दोलित करती रहती थी। उसका व्यापक प्रभाव उनके जीवन और मन पर था, पर सामने महान आदर्श समाज में उन्हें दीख पड़ता। इस अपने और समाज के आदर्शों के बीच कवि था। उसका 'मैं' अधिक बलशाली प्रमाणित हुआ। वह दबाये न दबा और काव्य की यह भाव-धारा फूट पड़ी। द्विवेदीकालीन आदर्शवाद के सम्मुख यह व्यक्ति का भावोच्छ्वास तत्कालीन परिस्थिति के अनुरूप हुआ ?

कवि का सारा सुख-दुख, आशा-निराशा इस कसमकस में प्रकृति को आधार बनाकर प्रकट हुई। कवि मन की आँखों से देखकर मन के भावोच्छ्वास प्रकृति को प्रतीक बनाकर व्यक्त करने लगा। मन की छाया प्रकृति पर पड़ी। दुख से प्लावित कवि फूल पर पड़ी ओस की बूंदों को अपना आंसू समझने लगा। प्रेमी मन कलिका की मुसकान को प्रेयसी की मुसकान मान बैठा। अन्तर से प्रकृति का तादात्म्य उसने स्थापित किया। वहीं मैं को उसने प्रकृति का आलम्बन लेकर व्यक्त करना आरंभ किया। मैं प्रधान होते हुए भी मैं की छाया काव्य में प्रधान हुई। इस छाया रचना में प्रकृति तो चित्र की भाँति सामने आयी पर कलाकार का मन मूक किन्तु शत-शत भाव संकेतों में प्रच्छन्न अभिव्यक्त हो उठा और ऐसी ही रचना छायावाद के नाम से संबोधित की जाने लगी।

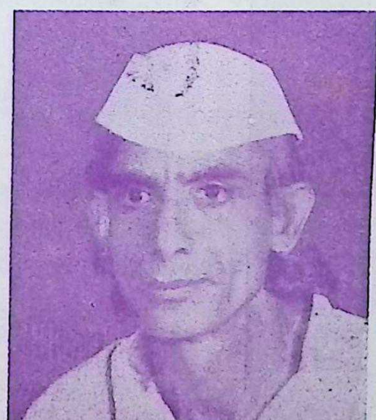
ढूंढ़ने पर प्राचीन रचना-प्रणाली में भी ऐसी रचनाएँ अनेक कवियों द्वारा स्फुट रूप में मिल जायगीं, पर वास्तव में कवि-धर्म के रूप में यह इसी काल में गृहीत हुई और बड़े व्यापक पैमाने पर हुई। छायावाद से बाहर के कवियों पर तथा अन्य वादों के कवियों पर इसका प्रभाव पड़ा। हृदय-तत्व प्रधान होने के कारण तुकबन्दी से प्राणहीन हिन्दी कविता को छायावाद ने रसमय प्रणाली पर प्रवाहित किया। मधुर नतन शब्द चयन, सुन्दर भाव-विधान पूर्ण सौंदर्याभिव्यक्ति के कारण छायावाद के प्रणाली में निर्मित काव्य सहृदयों के लिए व्यापक आकर्षण का कारण बना और पुरानी परिपाटी तथा द्विवेदीजी के अनुगामी कवि भी इस नवीन रचना-विधान से प्रभावित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने छायावाद के सम्बन्ध में लिखते हुए लिखा है कि "मानवीय दृष्टि के कवि की कल्पना अनुभूति और चिन्तन के भीतर से निकली हुई, व्यैक्तिक अनुभूतियों के आवेग की स्वतः समुच्छित अभिव्यक्ति--बिना किसी अभ्यास के और बिना किसी प्रयत्न के

स्वयं निकल पड़ा भावस्रोत---ही छायावादी कविता का प्राण है ।" निश्चय ही छायावादी कही जानेवाली कुछ रचनाओं के संबंध में यह बात सत्य है, पर युग की अधिकांश रचनाओं को इस प्राण तत्व से जीवित नहीं माना जा सकता । कहीं कल्पना, कहीं अनुभूति और कहीं चिन्तन की प्रधानता इस युग के काव्य में दीख पड़ती है । सबका संतुलन बहुत कम स्थानों पर दीख पड़ेगा । अतएव अलग-अलग रचनाओं के अलग-अलग प्राण तत्व मानना ही अधिक समीचीन होगा । आयास और प्रयत्न ही अधिकांश रचनाओं में दीख पड़ेगा । कहना न होगा कि युग की अधिकांश रचनाएँ दार्शनिकता से प्रभावित है, जिनमें अधिकांश बौद्धिक दर्शन के धरातल पर ही हैं, उनमें जीवन और दर्शन का तादात्म्य नहीं । कवि का दर्शन अध्ययन के आधार पर बना है जो केवल बुद्धि के प्रदेश तक सीमित है रचना में न तो कविका हृदय है और न ऐसी क्षमता है जो पाठक को अनुप्राणित कर सके । जहां तक मानवीय तत्व का प्रश्न है, छायावाद की कविता को व्यक्तिवादी समझना ही अधिक उपादेय एवं न्याय संगत है । प्रतीकात्मकता की व्यापकता के कारण छायावाद की रचना बुद्धि जीवियों के अधिक निकट है, उसमें जन-जीवन को अनुप्राणित करने की क्षमता नहीं । वह कला का वह प्रासाद है जिसे देखकर कलाविद कला की दाद दे सकता है पर उसमें धर्मशाला की भांति लोगों को शरण देने की क्षमता नहीं । कलाकृति के रूप में ये रचनाएँ निश्चय ही हिन्दी की बहुत बड़ी सम्पत्ति हैं, पर जहाँ तक जन-उद्बोधन का प्रश्न है, ये रचनाएँ अधिक उपादेय नहीं । "बीती, विभावरी जागरी" पढ़कर उसकी बारीकियों पर दाद दी जा सकती है, संगीत की स्वर लहरियों में व्यक्ति खो सकता है पर उसमें वह शक्ति नहीं जो जन सामान्य को उद्बोधित करे यह प्रतीकात्मकता वाद में रूढ़ि भी बन गयी । वाद में बंधी बंधायी शब्दावली पर रचना होने लगी । स्वयं छायावाद के सभी कवि छायावाद के इस दुरूह एवं सीमित घेरे में न बंध सके और उन्होंने नवीन पथ का वरण किया । समस्त छायावादी कवियों की रचनाएँ केवल छायावादी ही नहीं और कुछ भी हैं ।

जिस प्रकार हिमाच्छादित पर्वत से निकली किसी नदी का आदि वास्तविक उद्गम स्थल नहीं जाना जा सकता, उसी प्रकार साहित्य की किसी धारा का भी आदि उद्गम स्थल ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता । साहित्यिक रचना का आरम्भ जब से हुआ बीच-बीच में ऐसी रचनाएँ मिल जाती हैं जिन्हें छायावादी शैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है; किन्तु वास्तव में झरना के प्रकाशन के पश्चात् ही छायावाद की जड़ हिन्दी कविता के क्षेत्र में जमती है । मुकुटधर पाण्डेय की रचनाएँ छायावाद के निकट की हैं पर काव्य में व्यापक रूप से इस धारा का प्रवर्त्तन करने वाले कवियों के रूप में प्रसाद, पंत और निराला का नाम लिया जाता है । प्रसाद जी की कविता में प्रेम तत्व की प्रधानता है । उनका स्थूल प्रेम निरंतर सूक्ष्म की ओर उन्मुख होता गया है, और अन्त में वे दार्शनिक चिन्तक की भांति प्रकट हुए । पंत की प्रारम्भिक रचनाओं में कोमल हृदय का प्रकृति प्रधान प्रेम अभिव्यक्त हुआ । उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में नवागता वधु के सलज्ज अवगुंठन का माधुर्य्य है । निराला की रचनाएँ पौरुष सम्पन्न दर्शन का प्रतीक हैं । प्रायः



राहुल सांस्कृत्यायन



शान्तिप्रिय द्विवेदी



महादेवी वर्मा



दिनकर



डा० सुधीन्द्र

सभी कवियों ने प्रगीतों की रचनाएँ कीं और अपना अनोखापन सबमें अलग-अलग दिखाई पड़ता है । यद्यपि इन कृतिकारों की प्रारम्भिक रचना छायावाद के अन्तर्गत रखी जाती हैं, तो भी उस समय और वाद में भी इन्होंने अनेक ऐसी सुन्दर रचनाएँ भी कीं जो केवल छायावाद से रचनाविधान तक ही संबंध रखती हैं, वास्तव में वे उन्मुक्त हृदय की पुकार हैं । इन तीनों भाव शिल्पियों के प्रगीतों में हृदय को झंकृत कर देने की क्षमता है । सबमें प्रकृति के प्रेम की व्यापक अभिव्यक्ति के लिए व्याकुलता है । पर तीनों में तात्विक भेद भी है । प्रसाद में मानवीय प्रेम की आकुलता पंत में सुकुमार प्रकृति का मधुर सौन्दर्य चित्रण तथा निराला में पौरुष की व्यापक अभिव्यक्ति तीनों के मौलिक कृतित्व का परिचय देती है ।

रचना विधान की दृष्टि से निराला की व्यापकता सबसे बड़ी है । प्राय: सभी कवि भाषा में नूतन मधुर शब्दों के प्रयोगकर्त्ता हैं और सबने संस्कृत की ओर ही अपना झुकाव दिखाया । छायावाद की इन प्रारम्भिक रचनाओं में मुक्तक के अतिरिक्त प्रबंध भी लिखे गये । आंसू जैसी सफल रचना की गयी । आँसू का विकास व्यापक रूप से कामायनी में दीखा तथा छायावादी रचना विधान का सफल प्रयोग प्रबंध में भी किया गया । कामायनी को पूर्ण रूप से छायावादी रचना नहीं मान सकते, केवल रचना विधान से उसका संबंध समझना चाहिये । निराला की तथा हिन्दी की महत्तम कृति 'तुलसीदास' भी छायावादी रचना विधान से प्रभावित हैं । पंतजी ने शब्दों को मधुर बनाने के लिए लिंग परिवर्तन कर शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी है । निराला ने इस नवीन रचना पद्धति में उत्कृष्ट कोटि की शैली का प्रवर्त्तन निर्बाध छन्दों द्वारा किया है । भावों के आधार पर लहराते हुए छंद चलते हैं । पदों में न तो तुक होता है न बराबर मात्रायें होती हैं, केवल भावों के लय पर अबाध गति से छन्द रचना होती है । छन्द जहां पूर्ण होते हैं वहां एक भावांश समाप्त होता है । यद्यपि ये छन्द बड़े पुराने हैं फिर भी हिन्दी में इसके प्रवर्तन का श्रेय निराला जी को है । इस रचना शैली पर बाद में अनेक सुन्दर रचनाएँ की गयीं किन्तु निराला की पहली रचना जूही की कली, जो १९१६ में लिखी गयी थी, आज भी अपने स्थान पर वही महत्व रखती है जो उसका महत्व उस समय था । प्रतीक सूक्ष्मों से निरंतर अवरुद्ध होते जाने के कारण छायावाद की रचना दुरूह हो उठी । बाद के कवियों ने बंधी बंधायी शब्दावली, विषय की एक रूपता के द्वारा इसे रूढ़िग्रस्त बना दिया । यद्यपि सामाजिक और दार्शनिक चेतना से अभिभूत रचनाएँ भी छायावाद की शैली में की गयीं । उनमें कलात्मक अभिव्यक्ति भी दिखाई पड़ी पर वे उद्बोधन की शक्ति से या तो हीन थीं या सोने की कटार थीं । देश के मन में एक उमंग भरा जोश बढ़ता जा रहा था जिसके लिये छायावाद के पास अभिव्यक्ति न थी; क्योंकि छायावादी रचनाकार सामाजिक की अपेक्षा दार्शनिक चिन्तनशील प्राणी अधिक थे । दो कवि माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्णशर्मा नवीन ऐसे व्यक्ति हैं जो देश के लिए उत्सर्ग करने के साथ ही साथ अपने सुख-दुख का मूल्य भी समझते हैं, ये बीच के व्यक्ति ठहराये जा सकते हैं, जिनमें कभी छायावादियों

की-सी प्रवृत्ति दीख पड़ती है तो कभी वे समाज सेवी के रूप में राष्ट्रीयता की दहाड़ करने लगते हैं।

छायावादी रचनाकारों के सामने अपना व्यक्तित्व था। उसी रास्ते पर, जो सांस्कृतिक अधिक था, समाज को वे ले चलना चाहते थे पर सामाजिक जाग्रति संघबद्ध हो एक उद्देश्य के लिए, एक रास्ते पर चलना चाहती थी। क्योंकि यह बात जन-मन में समा गई थी कि सारे अनर्थ का मूल परतंत्रता है, अतएव जन जीवन का तथा छायावादी कवियों का रास्ता विलग-विलग हो गया। यद्यपि आजतक जितनी नयी रचनाओं का दर्शन होता है उनमें प्राय: अधिकांश कुछ न कुछ छायावादी रचना-विधान से प्रभावित हैं। छायावाद के प्रवर्तक कवि भी जहां तक भावना का प्रश्न है आज इन्हीं कारणों से किसी दूसरे रूप में दीख पड़ रहे हैं। उनके संबंध में अलग-अलग अन्यत्र विस्तार के साथ विचार किया जायगा।

रहस्यवाद

छायावाद रहस्यात्मक तत्व अपने भीतर समन्वित किये हुए था। अतएव रहस्य-भावना का उद्रेक छायावादी रचनाओं में भी हुआ। छायावाद का कवि प्रकृति के भीतर अपने हृदय की छायामात्र देखकर संतोष प्राप्त न कर सका अपितु उसके भीतर व्याप्त चिरन्तन सौन्दर्य से भी वह संवेदनशील मन का निरन्तर नाता जोड़ने लगा। प्रकृति जिस अमर सौन्दर्य की छायामात्र है उसके प्राणतत्व के रहस्य का भी उद्‌घाटन कवि करने लगे तथा अपने हृदय की भावनाओं से उस रहस्य-सौन्दर्य का तादातमय स्थापित करने लगे। इसी संकल्पात्मक अनुभूति की काव्यामयी अभिव्यक्ति को रहस्यवाद की संज्ञा दी गयी।

रहस्यवाद हिन्दी कविता के लिए नयी बात नहीं। पर सिद्धों एवं संतों के रहस्यवाद से यह छाया-रहस्य अनेक अर्थों में अलग है। मूलरूप से इसके पीछे साधनासम्पन्न अनुभूतियों का आधार नहीं, बौद्धिक चिन्तनशीलता विराजमान है। विभिन्न दर्शनों के बौद्धिक प्रभाव की प्रक्रिया की अभिव्यक्ति छायावादी रचना शैली पर आधुनिक रहस्य-वाद में की गयी।

ऐसे तो आधुनिक अनेक कवियों की रचनाओं में रहस्यवाद के सूत्र का उल्लेख किया जा चुका है पर रहस्यवादिता की व्यापक छाप महादेवी के गीतों में है। चिर विरह, पीड़ा से आक्रांत स्नेह-पथ पर महा ज्योति से मिलन की साध उनके विरह-निवेदन के रहस्य-पदों में है। निराला वेदांती रहस्यवादी हैं तथा स्वामी विवेकानन्द के सिद्धान्तों से अनुप्राणित हैं। रामकुमार वर्मा की भी कुछ रचनाएँ रहस्यवाद के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। प्रसादजी की जो रचनाएँ रहस्यवाद की सीमा के अन्तर्गत बतायी जाती हैं, उनमें शैव-आनन्दकी आधार-शिला निश्चय ही मिलेगी।

बौद्धिक दार्शनिकता से बोझिल ये रचनाएँ भी जन-जीवन को अनुप्राणित करनेवाली न हो सकीं, केवल बौद्धिक दार्शनिकता की विह्वलता का इनमें दर्शन हुआ। ये रचनाएँ

उन लोगों को भी कुछ न दे सकीं जो दर्शन के प्रेमी तथा विद्यार्थी हैं। बुद्धि को दार्शनिक अभिव्यक्ति के अनुरूप मोड़ने के कारण भावों की एक रूपता सहृदयों का मन भी अधिक देर के लिए न लुभा सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि रहस्यवादी रचनाओं का अवसान अपने जीवन काल में ही उन लोगों को देखना पड़ा; जिनका यह विश्वास था कि अमर सौन्दर्य के रहस्य की अभिव्यक्ति के कारण ये रचनाएँ भी साहित्य में चिर स्थायित्व प्राप्त करेंगी।

प्रगतिवाद

छायावाद के प्रति भावना के क्षेत्र में असंतोष व्यापक रूप से बढ़ने लगा। सामाजिक व्रण पर दार्शनिकता प्रधान बौद्धिक अभिव्यक्ति मरहम न बन सकी। मशीनों तथा शासकों द्वारा बढ़ती वैषम्य की युग-पीड़ा पर छायावाद चन्दन लेपित न कर सका। अतएव सामाजिक चेतना से अनुप्राणित लोगों ने काव्य को नया मानवीय मोड़ देने का प्रयत्न किया। प्रारंभ में इसके नामकरण के संबंध में काफी बहस चलती रही। कुछ लोग इसे प्रगतिशील साहित्य के नाम से संबोधित करना चाहते थे। पर जब यह बात, कि सदा का साहित्य प्रगतिमय होता है, लोगों ने समझा तब इसके नामकरण के संबंध में एक मत हुए और इस नये वाद का नाम प्रगतिवाद पड़ा। प्रगतिवाद की चर्चा चौथे दशक के मध्य जोर पकड़ने लगी और आज भी किसी न किसी रूप में वह जीवित है।

प्रगतिवाद के उद्भव की आधारशिला सामाजिक तथा राजनैतिक जागरूकता है। जिस समय देश में स्वतंत्रता के अनुष्ठान की पुर्णाहुति के लिए सभी तत्वों को उनके अनुरूप प्रयोग में लाया जा रहा था; ऐसे अवसर पर साहित्य की महती महत्ता का उपयोग न करना निश्चय ही आश्चर्यजनक घटना होती। साहित्यकारों में भी एक ऐसा वर्ग, जो अत्यन्त सशक्त था, उत्पन्न हुआ, जिसने छायावाद की अनुपयुक्तता के कारण प्रगतिवाद को सुदृढ़ भित्ति पर प्रोत्साहन देना चाहा।

ज्यों-ज्यों देश में अंग्रेजी शिक्षा का उच्च स्तर पर विकास होने लगा, त्यों-त्यों देश में राष्ट्रीय आन्दोलन में विभिन्न विचार धाराओं की उभाड़ स्पष्ट होने लगी। १९३४ के आसपास देश की राजनीतिक स्थिति एक नई दिशा की ओर उन्मुख हुई। सत्य अहिंसा के सिद्धान्तों के कारण व्यापक साधना का विधान नवयुवकों के लिए न केवल खलने वाला प्रमाणित हुआ अपितु उनके भीतर रूस की सफलता के कारण साम्यवादी एवं समाजवादी भावनाएँ भी जोर पकड़ने लगीं। कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना तो पहले ही हो चुकी थी। १९३४ में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना भी हुई। कांग्रेस के आन्दोलनों में सफलता मिलने के कारण उग्रवादी मनोवृत्ति को भी बढ़ावा मिला। तत्कालीन युवक हृदय सम्राट् पं० जवाहरलाल नेहरू १९३६ में कांग्रेस के सभापति हुए और उसके पश्चात् सुभाषचन्द्र बोस। दोनों गरम विचार के तरुण हृदय वाले व्यक्ति थे। दोनों का देश पर व्यापक प्रभाव है और जनता के हृदय पर दोनों राज्य करते हैं। इन दोनों के कारण देश की राजनीति एक नई दिशा की ओर मुड़ी। किसानों और मजदूरों के देश भारत

में विना उनकी ग्रार्थिक स्थिति सुधारे किसी प्रकार की उन्नति की ग्राशा नहीं की जा सकती, इस तथ्य को सभी जानते ग्रौर मानते थे ग्रौर ऐसे लोगों की कमी भी देश में न थी, जो इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साहित्यके व्यापक उपयोग का प्रयत्न करना चाहते थे। वे साहित्य की महत्ता से परिचित थे। साहित्यिक क्षेत्र में जनवादी विचारों के महान प्रतिष्ठापक के रूप में तब तक प्रेमचंद जी की प्रतिष्ठा हो चुकी थी ग्रौर १९३६ में लखनऊ में उन्हीं के सभापतित्व में प्रगतशील लेखक संघ का पहला ग्रधिवेशन हुग्रा जिसमें प्रेमचंद जी ने हिन्दी लेखकों से निवेदन करते हुए सामान्य जनता के ग्रार्थिक ग्रौर सामाजिक मंगल के लिए साहित्य-निर्माण करने की ग्रपील की। साम्यवादी विचारधारा के लोग तथा राष्ट्र निर्माणकारी भावों से ग्रनुप्राणित सभी लोग इस ग्रोर मुड़े। राष्ट्रीयता की भावना तथा ग्रार्थिक-सामाजिक वैषम्य ने साहित्य में इस विचारधारा को प्रोत्साहन दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध ग्रारम्भ होने पर देश न केवल तटस्थ मात्र था ग्रपितु स्वतंत्रता प्राप्ति के निमित्त देश में व्यापक ग्रान्दोलन मचा। सन् १९४२ का ग्रान्दोलन सभी दृष्टियों से ग्रपने स्थान पर ग्रप्रतिम है ग्रौर इसके द्वारा राष्ट्रवादी तत्वों से ग्रनुप्राणित सारे राष्ट्र ने भावना के क्षेत्र में प्रगतिवाद को वल दिया। १९४३ के ग्रकाल ने तो मौज मस्तीवाले साहित्यकारों को भी रोमांचित कर दिया। फलतः इस भावना को निरंतर वल ही मिलता गया। जहां तक कम्युनिस्ट पार्टी का संवंध है वहाँ सभी कुछ राजनीतिक ग्रादर्श की उपलव्धि का साधन मात्र ही है। साहित्य को वे बहुत बड़ा साधन सर्वत्र ही समझते रहे हैं। रूस के युद्ध में सम्मिलित हो जाने पर कम्युनिस्ट पार्टी ने ग्रवसर का लाभ उठाया ग्रौर व्रिटेन का मित्र राष्ट्र होने के कारण कम्युनिस्टों के ग्रादर्श ग्रौर सिद्धांत पर लगी रोक भी उठी, जिसका परिणाम यह हुग्रा कि कम्युनिस्टों को मार्क्स, लेनिन ग्रौर स्टालिन द्वारा मान्यता प्राप्त संकुचित मनोभावों का प्रचार करने का ग्रच्छा ग्रवसर मिला जिसने साहित्य को भी प्रभावित किया। देश में मानवतावादी जनमंगलकारिणी इस प्रगति धारा का स्वागत भी हुग्रा; पर बाद के वातावरण में बंधे प्रगतिवादी साहित्य में दो प्रकार के खेमें स्थापित हुए। जिनमें एक को स्वतंत्र प्रगतिवादी ग्रौर दूसरे को कम्युनिस्ट प्रगतिवादी कहा जा सकता है। जहां तक स्वतंत्र प्रगतिवादियों का प्रश्न है उनमें नवीन, दिनकर, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पंत ग्रादि की गणना की जा सकती है ग्रौर जो लोग कम्युनिस्ट पार्टी के सिद्धांतों को ग्रादर्श मानकर बंधे हुए हैं, उनमें से ग्रनुप्राणित साहित्यकार प्रारम्भ में जिनसे उन्हें ग्रपने उद्देश्य की सिद्धि की संभावना दीख पड़ती थी उनका व्यापक विज्ञापन ग्रपने केम्प से करते थे यथा पं० सुमित्रानन्दन पंत का। किन्तु ग्रव जो उनके विचारों में रंग गए हैं उन्हें ही वे वास्तविक प्रगतिशील मानते हैं। पहले तो समस्त प्राचीन साहित्य को इन्होंने वुर्जुग्रावादी ठहराया किन्तु वाद में इन्होंने ग्रनेक कवियों की रचनाग्रों को जन मंगलकारी ग्रपने प्रभाव की वृद्धि के लिए माना। इधर स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्रगतिशील विचारधारा में दो कैम्प ग्रौर दीख पड़ रहे हैं। एक समाजवादी विचारधारा से प्रभावित लोगों का, दूसरा सर्वोदयवादियों का। राजनीति के व्यापक प्रभाव के कारण राजनैतिक विचार धाराग्रों

में इस समय राजनैतिक दलों की भांति प्रगतिवादी भी बटे हैं। यह विभाजन किसी भी अर्थ में साहित्य के लिए मंगलकारी नहीं समझा जा सकता।

'प्रगतिवाद समाज के भौतिक विकास में विश्वास रखने वाला, विकासशील वैषम्य विरोधी भावनाओं की मान्यताओं का अभिव्यक्ति करने वाला साहित्य है। अप्रत्यक्ष सत्ता की अपेक्षा मानव की प्रत्यक्ष सत्ता पर उसका विश्वास है तथा समाज का मंगल इसका उद्देश्य। सर्वोदयवादी प्रगतिशील गांधीजी की विचार धारा को अपना आदर्श बताते हैं। इनमें भौतिक की अपेक्षा दार्शनिक चिन्तनशीलता अधिक है। समाजवादी प्रगतिशील कम्युनिस्ट और गांधीवादी विचारधारा के कसमकस में है। कम्युनिस्टों का रास्ता विशुद्ध स्टालिनवादी है या कभी-कभी वह माओवादी भी हो जाता है। उनके सामने एक ही आदर्श है पार्टी की सफलता। वह जिस किसी भी रूप में उन्हें मिलती है, प्राप्त करना चाहते हैं।

जहां तक प्रगतिवादियों के आदर्शों का प्रश्न है जनमंगल की भावना के कारण वे स्तुत्य तो है हीं किन्तु कविता के क्षेत्र में वर्गवाद के इन विरोधियों ने भयंकर वर्गवाद की हीन मनोवृत्ति का परिचय दिया है। इनके साहित्य में जहां युग के मंगल विधान की बात कही जाती है, वहीं अधिकांश रचनाओं में जीवनीशक्ति का सर्वथा अभाव है, क्योंकि अधिकांश रचनाकार फैशनेबुल प्रगतिवादी हैं। उनका हृदय तो मध्ययुगीन विलासिता का प्रतीक है और बुद्धि किसान और मजदूरों तथा शोषित वर्ग की पोषिका। हृदय और बुद्धि के संघर्ष में इनका साहित्य स्वस्थ नहीं हो पा रहा है। इन साहित्यकारों में कुछ तो छायावादी रचनाविधान के अन्तर्गत ही नये काव्य की स्वरलहरी झंकृत कर रहे हैं। जहां तक जनता पर इनके प्रभाव का प्रश्न है, दिनकर आदि एक दो कवियों को छोड़कर कोई भी जन-मन का उद्बोधन नहीं कर पा रहा है। जनता की चीज कहकर भी जनता से दूर रहना, किसानों और मजदूरों की वकालत करके भी उनकी ओर न देखना जैसी अदृश्य विशेषता अधिकांश प्रगतिवादियों ने धर्म के रूप में अपना ली है। अतएव इनकी कविताएँ जनता के लिए होते हुए भी जनता से दूर हैं और इन्हें अभी संक्रमणकालिक रचना मानना ही समीचीन होगा। निश्चय ही इनके द्वारा अनगढ़ भावना को व्यापक विकास का अवसर मिला है। अब प्रगतिवादियों के नेता भी अपनी ये भूलें स्वीकार कर रहे हैं, अतएव जन-मंगलकी स्वस्थ संभावना भविष्य में उनसे की जा सकती है।

प्रयोगवाद

छायावाद में प्रतीकात्मक तत्वों की प्रधानता का उल्लेख किया जा चुका है। अंग्रेजी शिक्षा के विकास के साथ पढ़े-लिखे लोगों पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ रहा है। कुछ लोग विशेष रूप से टी० एस० इलियट और यीट्स की कविताओं से प्रभावित होकर कविता कर रहे हैं। सन् १९४३ में तारसप्तक के नाम से सत प्रयोगवादियों का संग्रह प्रकाशित हुआ। इन प्रयोगवादियों ने नई संभावनाओं, नये विषय के नये रूपसे प्रतिपादन तथा नई रचना-विधान की बात भी है। दूसरा तारसप्तक भी अभी

हाल में ही प्रकाशित हुआ है। अज्ञेय इस मनोवृत्ति के अगुआ हैं। यद्यपि उनके प्रयोग में एकरूपता नहीं है। तो भी वे सब एक ही दिशा में अनुसंधान कर रहे हैं। जहां तक सफलता का प्रश्न है वे सर्वथा असफल ही रहे हैं। व्यक्ति की अस्वस्थ मनोवृत्ति का ऐसा परिचय भी उनकी रचनाओं से मिलता है जो नीरस अनगढ़ता से भरा पड़ा है। इन रचनाकारों में अनेक साम्यवादी विचारधारा की कविता करने वाले प्रगतिशील लोग भी हैं। दूसरे तारसप्तक में इन्होंने प्रयोगवाद नाम को वापस ले लिया। जहां तक इनके संबंध में समझा जा सकता है ये कविता को मानव के अस्तित्व के साथ मानते हैं और मानव-जीवन को परिवर्तन से नियंत्रित मानते हैं, अतएव कला के सभी क्षेत्र में नूतन परिवर्तनों की अपेक्षा प्रत्येक युग में होने की बात भी उठाते हैं; क्योंकि विभिन्न परिवर्तनों के साथ युग की आवश्यकताओं, परिस्थितियां तथा मान्यताओं में भी परिवर्तन होता रहता है। युग के अनुरूप काव्य का भी सर्जन होना चाहिए। परम्परा से प्राप्त विचार-धाराओं से कोई नाता इनका नहीं है पर इनका काव्य जो सम्मुख है उसमें असामान्य तथा विचित्र ढंग से अभिव्यक्ति मिलती है। कल्पनाएँ भी अधूरे संकेतों तक सीमित हैं और ऐसा लगता है कि इनके पास कहने के लिए कुछ स्वस्थ सामग्री नहीं है। इनकी ऐसी कविता लगती है जिसकी उपमा उस दुकान से दी जा सकती है, जिसमें भड़कीले फरनीचर विचित्र ढंग के तो हों पर सामान या तो सड़ा हुआ हो या रद्दी हो। विन्डोड्रेसिंग मात्र पर कविता की दुकानदारी जमानेवाले चमत्कारवादियों के भीतर इनकी गणना होगी। हरएक परिवर्तन का आधार होता है और उसकी भाव-भूमि हुआ करती है। जिसका अतीत नहीं हुआ करता उसका वर्तमान और भविष्य भी नहीं हुआ करता। ऐसी परिस्थिति में न तो इन प्रयोगवादियों का हिन्दी काव्य के विकास की दृष्टि से कोई वर्त्तमान है, न भविष्य। पर हैं ये कवि अपने प्रयोगवाद के अनुसार। निश्चय ही इन प्रयोगवादियों में अपनी अलग अलग विशेषताएँ भी हैं। अज्ञेय में नये प्रतीक, गिरजाकुमार माथुर में ध्वनि-साम्य, गजानन मुक्तिबोध की वैयक्तिक भाव भूमि, प्रभाकर माचवे का इन्द्रीय-विलास तथा नेमिचन्द जैन, शमशेर बहादुर का साम्यवादी रूप, इनकी विशेषताएँ हैं।

मनमौजी कवि

हर युग में मन के तराने पर काव्य-रचना करनेवाले कवि होते रहे हैं और वादों से आक्रान्त आधुनिक हिन्दी-काव्य में भी अनेक ऐसे कवि हैं। ये समय-समय पर अपने मन के सुख-दुख तथा अनुभूतियों से प्रभावित हो रचना करते हैं। अपनी धुन में मस्त रहने वाले ये कवि कभी-कभी सामाजिक भी हो उठते हैं। सामाजिक प्राणी के रूप में जिस समाज में वे रहते हैं, कभी-कभी उसमें घटित होनेवाली बातों एवं घटनाओं का प्रभाव भी उनके मन को प्रभावित कर उठता है और मन पर पड़े उक्त प्रभाव के कारण ये गा उठते हैं। सामाजिक विषयों का प्रतिपादन भी ये वैयक्तिक ढंग से करते हैं तथा भावुकता की मात्रा अधिक होने के कारण इनके उच्छ्वास तीव्र होते हैं। ऐसी स्थिति में प्रगीतों की रचना इनके द्वारा अधिक होती है। ऐसे तो भारतेन्दु के पश्चात् विकास की दृष्टि से स्फुट काव्य का विकास अधिक हुआ और छायावाद के प्रगीतों में अत्यन्त

विस्तार के साथ यह विकसित हुआ। मन की तरंगों पर रचना करनेवाले विह्वल भाव-शिल्पियों में बच्चन का स्थान ऐतिहासिक महत्व का है।

अंग्रेजी शिक्षा के कारण देश में पढ़े-लिखे लोगों पर अंग्रेजी का प्रभाव सीधे पड़ने लगा। तरुण हृदय को लुभानेवाली मस्ती के दर्शन से भरी कृति उमर खैयाम की अंग्रेजी में सर एडवर्ड फिट्‌जराल्ड द्वारा अनूदित रुबाइयों का व्यापक प्रभाव अंग्रेजी पढ़े-लिखे तरुणों पर पड़ा। उसका प्रभाव इतना अधिक बढ़ा कि हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त जैसे धर्मभीरु सामाजिक आदर्श को माननेवाले व्यक्ति तक ने इसका अनुवाद किया। केशवप्रसाद पाठक आदि ने भी इसका अनुवाद किया।

बच्चन

बच्चन की ख्याति भी इसी ढंग की रचनाओं को लेकर कवि-सम्मेलनों द्वारा हिन्दी में हुई। भगवान् ने उन्हें अच्छा गला दिया है, उस गले का उपयोग उन्होंने अच्छी पद्धति से किया। कवि-सम्मेलनों की प्रगति उस समय जनप्रियता की यौवनावस्था पर पहुँच चुकी थी। उसमें युवकों का जमघट लगता। मस्ती से भरी रचना बच्चन के कंठ से सुनकर लोग बाग-बाग हो उठते। सुनाने का ढंग इतना सुन्दर कि जिन्होंने उस समय उनसे मधुशाला सुनी थी वे आज के बच्चन से भी वही सुनना चाहते हैं—अनेकों बार आँखों देखी बात है, गजब की मस्ती वातावरण में ला देती है। फड़कन से भरी बच्चन की 'मधुशाला' सुननेवाले सहज ही उधर आकृष्ट हो जाते हैं। मधुशाला को दार्शनिक पार्श्वभूमि बच्चन ने दे रखी थी, पर भारत जैसे शिष्ट देश में ऐसी बातों का नाम लेना भी पाप समझा जाता है। सुरा और सुन्दरी दोनों ही आदर्श-देश भारत में प्रचार नहीं पा सकते, चाहे उसके पीछे कितनी भी बड़ी दार्शनिक भित्ति क्यों न हो। बच्चन का भी बड़ा व्यापक विरोध हुआ। सर्वत्र उनकी कविता और उनकी भर्त्सना की जाने लगी। पर बच्चन के काव्य के भीतर अनेक ऐसी ऐतिहासिक महत्त्व की प्राणवान् शक्तियाँ हैं जिनके कारण उनका काव्य साहित्य के इतिहास में बहुत समय तक स्मरण किया जाता रहेगा।

हिन्दी-काव्य को उनकी देन दो रूपों में है। काव्य के क्षेत्र में उनके पूर्व तक या तो संस्कृत के प्रचलित या अप्रचलित शब्दों की भरमार कविता में करने का प्रचलन रूढ़िगत हो गया था या कवि काव्य के लिए व्यापक प्रयुक्त होनेवाले ऐसे जन-प्रचलित शब्दों को ग्रहण करते थे, जिनमें काव्य के सौन्दर्य के उद्घाटन की क्षमता नहीं थी। उनमें कर्कशता अधिक थी।

ऐसी ही परिस्थिति में बच्चन की कविता लोगों के सम्मुख आयी। सीधे-साधे सरल शब्दों मे बिना तोड़े-मरोड़े उनके काव्य में भाव की आत्मा मुस्कराती दीख पड़ी। शब्द-चयन की यह विशिष्टता हिन्दी के लिए नयी दिशा का संकेत इस अर्थ में थी कि टूटे हृद्‌तंत्री के तार की झंकार की अपेक्षा खड़ी बोली में वह बल भी दीख पड़ा जिसकी प्रतीक्षा काव्य-प्रेमी बहुत समय से कर रहे थे। यह बच्चन की बहुत बड़ी देन है।

दूसरी उनकी विशेषता शैलीगत है। गीतों में उछ्वास भरे भावों की अभिव्यक्ति की जिस शैली का उन्होंने व्यापक रूप से प्रयुक्त किया, उसका इतना व्यापक प्रयोग बढ़ा कि किसी भी तत्कालीन कवि और बाद के कवि की रचना में उनकी शैली की छाया देखी जा सकती है। आधुनिक युग में गीतों के क्षेत्र में शैली की दृष्टि से बच्चन ने युगान्तर उपस्थित किया।

जहां तक भावनाओं का प्रश्न है, बच्चन की गणना ऐसे कवियों में करना समीचीन होगा जो अपने ही सुख-दुख से दुखी और उससे ही सुखी होते हैं। मन पर आघात पड़ा, करुणार्द्र हो उठे, दुख दूर हुआ, मुस्करा उठे। प्रायः अधिकांश ऐसे लोग समाज में होते हैं जो अपने ही दुख, सुख को सब कुछ समझते हैं पर कला की दृष्टि से ऐसे मनोभावों की विशिष्टता तब तक नहीं प्रतिष्ठित होती जब तक वह सार्वभौम न हो जाय। एक सीमा तक बच्चन के गीतों में यह विशिष्टता तो है ही, साथ ही अनुभूतियों की तीव्र गहराई उनकी रचनाओं में है। उनके भीतर कहीं झुँझलाहट है, कहीं मरने की कामना है, कहीं मस्त जिन्दगी है, कहीं आँसू है, कहीं मुस्कान। इन्द्रधनुष के रंगों की भाँति उनके जीवन की विभिन्न अनुभूतियाँ उनके काव्य में रक्षित हैं। उनके गीतों में उर्दू शायरी-सा प्रभाव है। प्रारंभ के गीत उनके जीवन पर पड़ी प्रेम की प्रतिक्रिया के प्रतिफल हैं।

इधर १९४३ के बंगाल की भुखमरी के बाद उन्होंने सार्वजनिक विषयों को भी अपनाया। अकाल, गांधी आदि उनके प्रिय विषय दीख पड़े। पर भावनाओं की वह तीव्रता उनमें विरल हो गयी जो पहले के बच्चन में थी। इधर पुनः अपनी जिन्दगी के संबंध में उनके गीत दीख पड़ रहे हैं, इसे भले ही कुछ लोग शुभ लक्षण न माने, पर बच्चन के लिए और उनके काव्य के लिए यह शुभ लक्षण ही है। क्योंकि बच्चन ने ऐसा हृदय पाया है जो अपनी अभिव्यक्ति में अधिक सफल हो सकता है।

माखनलाल चतुर्वेदी

पंडित महावीरप्रसाद की धारा से अप्रभावित कवियों में पंडित माखनलाल चतुर्वेदी का नाम पहले लिया जाता है। उनकी कविता की विशेषता यह है कि वह केवल कविता के वाह्य आकर्षण पर अपना ध्यान केन्द्रित न कर भावनाओं की अभिव्यक्ति सफलता-पूर्वक करते हैं। १९२१ के आन्दोलन से ही आपने कांग्रेस में काम किया है। आपने, राष्ट्रीय देश-भक्ति, आनन्द, प्रेम, उल्लास, नैराश्य, सभी प्रकार की रचनाएँ जीवन की गति के अनुसार की हैं। आपने गद्य-काव्य और नाटक भी लिखा है। क्रमशः साहित्य देवता और कृष्णार्जुन युद्ध के नामसे, किन्तु कवि के रूप में ही हिन्दी में उनकी प्रतिष्ठा है। अलमस्त राष्ट्रीय कवियों में उनकी गणना की जानी चाहिये। कैदी और कोकिल उनकी प्रकाशित रचनाओं में सर्वोत्तम है। उनकी भाषा बड़ी बेढंगी है। संस्कृत के शब्दों के समूह के बीच कहीं-कहीं उर्दू के शब्द इस प्रकार रख देते हैं कि कविता कहीं-कहीं कड़ई हो जाती है। सामान्यतः अच्छे कवियों में इनकी गणना की जाती है। उनकी रचना का अंश उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

पंडित बालकृष्ण शर्मा नवीन उन देश-सेवकों में हैं जिन्होंने चिरंतन राष्ट्र मुक्ति के लिए संघर्ष किया है। किन्तु भीतर से वह मस्त व्यक्तित्ववाले अल्हड़ व्यक्ति मालूम पड़ते हैं। उन्होंने अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी के सम्पर्क में राष्ट्रीय जीवन आरम्भ किया और चिरंतन संघर्ष-रत रहे। उन्होंने अपने मन की अनुभूतियों को उसी रूप में चित्रित किया है जिस रूप में अनुभूतियां उत्पन्न हुई हैं। वह अपने कवि के प्रति ईमानदार रहे हैं। उनकी रचनाओं में एक प्रकार का आक्रोश, वेग, गति, झंकार है किन्तु साथ ही टूटे हृदय के तार, जीवन की अस्त-व्यस्तता सभी कुछ एक स्थान पर एकत्र हो गए हैं। भाषा उनकी नियन्त्रणहीन तथा छंद कहीं-कहीं उच्छृङ्खल हो गये हैं, किन्तु यह दोष नहीं है। इनका ऐसा संघर्षमय व्यक्तित्व ही है जो वंधन स्वीकार करने के लिए तय्यार नहीं। इनका जन्म ग्वालियर में सं० १९५४ में हुआ था। आपने निवंध और कहानियाँ भी लिखी हैं। आपकी विशेषता उग्रता के साथ सुकुमारता की वक्र भाव-भंगिमा का संयोग है।

प्रदीप, गोपालसिंह नेपाली, नरेन्द्र, मोती बी० ए०, शंभूनाथ सिंह आदि भी मन के तरंगों पर गानेवाले गायक हैं। प्रारम्भिक चार व्यक्तियों के हृदयकमल पर सिनेमा संसार की हिमानी वायु की कृपा हुई और उनका आरंभ भी अभी तक अवसान में ही खोया दीख पड़ रहा है। शंभूनाथजी कहीं छायावादी और कहीं मन के गायक के रूप में प्रकट हुए। उन्हें ख्याति भी मिली। कुछ गीत अच्छे वन पड़े पर इधर की कुछ रचनाएँ सहज सस्ते प्रचार के कारण तथा संकीर्ण होने के कारण जीवन-विहीन हैं। हंसकुमार तिवारी भी अच्छे गीतकार हैं। शिवमंगल सिंह सुमन अब तो प्रगतिशील दीखते हैं पर भावों को स्पर्श करने की क्षमता उनके गीतों में अधिक है। गिरजाकुमार माथुर भी अच्छे गीतकार हैं, जहाँ तक हो सका, दलगत सिद्धांत से अपनी कविता को वे बचा ले गये हैं।

कवियित्रियों में भी ऐसी अनेक हैं, यथा विद्यावती 'कोकिल', तारा पांडेय, सुमित्रा कुमारी सिनहा, चन्द्रमुखी ओझा, हीरादेवी चतुर्वेदी, शांति एम० ए०, शकुन्तला शर्मा आदि। नारी हृदय को गीतों की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल अनुभूति का आश्रय प्राप्त रहता है। इन्होंने भी समय-समय पर नाना प्रकार के गीत रचे हैं।

श्री रामदयाल पांडेय ने सफल एवं सरस गीत एवं प्रबन्ध रचे हैं। ब्रज किशोर 'नारायण' अपने ढंग के अनठे कवि हैं। 'रुद्र' के गीत मधुर हैं।

अन्य कवि

इन कवियों के अतिरिक्त सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, मोहनलाल महतो वियोगी, 'प्रभात', जानकी वल्लभ शास्त्री, शैदा आदि भी प्रमुख कवि गिने जाते हैं। उनकी अपनी-अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं। मैथिलीशरणजी के अनुज सियारामशरणजी गुप्त ने कवि हृदय पाया है; उनकी रचनाएँ इतिवृत्तात्मक होते हुए

भी काव्य के तत्वों से सराबोर हैं—इसमें दो मत नहीं । उनकी कुछ रचनाएँ तो अपने अग्रज से भी सुन्दर बन पड़ी हैं।

भगवतीचरणजी नवीन विचारों से प्रभावित मानवीय दृष्टि वाले कवि हैं । उनकी रचनाओं में सामान्य सरसता तथा प्रभावोत्पादकता है । श्री केदारनाथ 'प्रभात' हिन्दी के प्रौढ़ सरस कवियों म हैं ।

मोहनलाल महतो विहार के प्रमुख कवियों में से एक हैं । वहुत दिनों से वे लिख रहे हैं । उनका 'आर्यावर्त' नामक प्रवन्ध काव्य सामान्यतः अच्छा है । सरस सहज अभिव्यक्ति के प्रतिभासम्पन्न कलाकार वियोगीजी हैं ।

जानकीवल्लभजी सरस सांस्कृतिक गीतों के प्रौढ़ रचनाकार हैं । उनमें संस्कृत के पद्यों की सरसता तथा भावों की गंभीरता है । कहीं-कहीं दार्शनिक अभिव्यक्ति भी काव्य को देने का प्रयत्न वे करते हैं । आरसी प्रसाद सिंह की रचनाएँ प्रौढ़ एवं सरस हैं।

आयु में कम होते हुए भी, जिनके नाम से लोग परिचित हैं, उनमें गुलाव अपनी सरस रसमय कल्पना, सुन्दर उपमा तथा चिन्तनप्रधान प्रबन्ध काव्य और स्फुट गीतों के कारण विशेष महत्त्व के हैं । त्रिलोचन के सानेटों से भी बहुत से लोग प्रभावित हैं, उनमें जीवन के संघर्ष की विकल अभिव्यक्ति के कारण जहाँ एक ओर उनके प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है; वहीं उनमें इतिवृत्तात्मकता की आभा भी है । ठाकुर प्रसाद सिंह अच्छ रचनाकार हैं । महेन्द्र न भी अच्छे गीत लिखे हैं । स्व० सुधीन्द्र भी अच्छे गीत लिखते थे ।

इस युग के अनेक कवि माँसल सौंदर्य की ओर भी उन्मुख होते दीख पड़े । जिनके साहसिक गीतों की प्रशस्ति हिन्दी में की गयी, उनमें अंचल की गणना प्रमुख रूप से की जाती रही है । अंचल ने अनेक प्रकार के गीत लिखे हैं—किसान-मजदूर, राष्ट्रीयता से लेकर प्रिया के रूप सौन्दर्य तक । कुछ-कुछ अनेक विषयों पर लिखनेवाले कवि अंचल सामान्यतः अच्छे रचनाकार हैं, इसमें सन्देह नहीं । सर्वदानन्द ने भी कुछ अच्छे गीत लिखे हैं । सत्येन्द्र, नगेन्द्र, उदयशंकर भट्ट, अश्क, सुरेन्द्र, क्षम, रूपनारायण आदि ने भी सुन्दर रचनाएँ की है ।

हास्य-रस की भी कविताएँ लिखी गयीं । पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने स्वस्थ हास्य-काव्य की रचना की । बढब जी ने हास्य की कविता के क्षत्र में युग-प्रवर्त्तन का कार्य किया । पं० कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' ने हास्यरस की तथा गंभीर दोनों प्रकार की सुन्दर रचनाएँ कीं । सामयिक विषयों पर बेधड़क जी की रचनाएँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ती हैं । सर्वश्री गोपाल प्रसाद व्यास, रमई काका, बंशीधर शुक्ल, मोहनलाल गुप्त, रुद्र 'काशिकेय', बरसाने लाल चतुर्वेदी आदि हास्य-रस के अच्छ कवि हैं । पं० हरिशंकर शर्मा गद्य और पद्य दोनों अंकों म हास्य की सरस और प्रौढ़ रचना करनेवाल प्रमुख व्यक्ति हैं । अन्नपूर्णा जी की रचनाएँ स्थायी महत्व की हैं ।

---:o:---

हिन्दी गद्य का स्वर्ण काल

व्यापक निर्माण कार्य

इस युग में विकास की दृष्टि से पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक उन्नत हुआ । ऐसे तो बीसवीं शताब्दी के पूर्व ही स्वस्थ गद्य का प्रारम्भ हो गया था पर इस शताब्दी में गद्य की उन्नति अत्यन्त व्यापक पैमाने पर हुई । गद्य के सभी अंगों का पल्लवन और विकास हुआ । उपयोगी साहित्य का निर्माण अत्यन्त संकुचित भावभूमि पर हुआ । उसका मूल कारण अंग्रेजी-शिक्षा का माध्यम होना था । इधर कतिपय वर्षों में ही गद्य की यह शाखा बड़े गति से विकासोन्मुख हो रही है । काव्य युग की जिन व्यापक प्रवत्तियों से प्रभावित हुआ, गद्य-साहित्य उसका अपवाद नहीं । गद्य के विभिन्न अंगों पर अलग-अलग यहाँ विचार किया जायगा ।

कथा-साहित्य

कहानी

कहानियों का प्रारम्भिक विकास दिखाया जा चुका है । प्रारम्भ में लिखी गयी वे कहानियाँ अन्य भाषाओं, विशेषकर बंगला के प्रभाव का परिणाम थीं । ज्यों-ज्यों समय बीतता गया यह प्रभाव कम होता गया और मौलिक-रचना-विकास हिन्दी में होने लगा ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में श्री जयशंकरप्रसाद की सर्जना नागरी-प्रचारिणी सभा जैसी संस्थाएँ भी सर्वश्रेष्ठ मानती हैं; और वास्तव में बात भी यही है । सभी क्षेत्रों में न केवल साहित्यिक अनुष्ठान के यजमान के रूप में वे आगे आये अपितु बाद में भी उन जैसा मेधावी व्यक्तित्व नहीं दीख पड़ रहा है । प्रसादजी की यौवनमयी प्रतिभा अभि-व्यक्ति के लिये व्याकुल हो रही थी । उन्हीं की प्रेरणा के परिणाम स्वरूप उनके भाँजे स्व० अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने सन् १९०९ में 'इन्दु' नामक मासिक पत्रिका निकाली । इसी के द्वारा कहानी के क्षेत्र में नये उत्थान की सूचना हिन्दी जगत को मिली । इसमें सर्वप्रथम प्रसाद जी की पहली कहानी 'ग्राम' का १९११ ई० में प्रकाशन नयी ढंग की कहानियों का आदि श्रोत माना जाता है । इस पत्रिका में उनकी चार कहानियाँ और इसी वर्ष प्रकाशित हुई । ये पाँचों कहानियाँ छाया नामक संग्रह में दूसरे वर्ष ही प्रकाशित हुई । हिन्दी के प्रायः सभी प्रारंभिक अच्छे कहानीकारों की रचनाएँ भी इसी समय प्रकाश में आने लगीं । उनकी तालिका यहाँ प्रस्तुत की जा रही है जो मधुकरी और इक्कीस कहानियों पर आधृत है ।

सन्	कहानीकार	कहानी
१९११	जयशंकरप्रसाद	ग्राम
१९१२	विश्वम्भरनाथ जिज्जा	परदेशी
१९१३	राजा राधिकारमणप्रसाद	कानों में कँगना
१९१३	विश्वम्भरनाथ कौशिक	रक्षाबन्धन
१९१५	पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी	उसने कहा था
१९१६	प्रेमचन्द	पंच परमेश्वर

इन महत्वपूर्ण लेखकों के अतिरिक्त प्रारंभ के द्वितीय उत्थान के लेखकों में जिनकी ख्याति कहानीकार के रूप में हुई, उनका आरंभ कथा के क्षेत्र में इस प्रकार हुआ।

१९११–	जे० पी० श्रीवास्तव
१९१४–	ज्वालादत्त शर्मा
१९१७–	राय कृष्णदास
१९१८–	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
१९१९–	चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'
१९१९–	गोविन्दवल्लभ पंत (साहित्यकार)
१९२०–	सुदर्शन
१९२२–	पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'
१९२४–	भगवतीप्रसाद वाजपेयी
१९२५–	विनोदशंकर व्यास

इस उत्थान के प्राय: प्रमुख लेखक १९२५ तक इस क्षेत्र में आ चुके थे। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद लिखी गयी कहानियाँ अत्यन्त प्रौढ़ लगती हैं। प्रारंभ के समय भी लिखी गयी कुछ कहानियाँ समय से बहुत आगे हैं। इन कहानियों में 'उसने कहा था' आज भी हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है। इन कहानियों के गुण-धर्म विवेचन करने पर प्राय: सभी कहानीकार चार वर्गों में आ जायेंगे। प्राचीन आलोचक इसे कहानी के स्कूलों में विभाजित करते हैं। यदि स्कूलों की शैली पर ही विभाजन किया जाय तो भी चार ठहरते हैं। प्रसाद, प्रेमचंद, उग्र और अनुवाद स्कूल। श्री कृष्णप्रसाद गौड़ ने ऐसा ही विभाजन सन् १९३१ में 'हंस' में एक लेख में किया था, जो वैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति पर आधृत है।

अन्तर्भावनाओं को भावनामूलक शैली में सामाजिक सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठपर उपस्थित करनेवाले कलाकार प्रसाद-स्कूल के अन्तर्गत आते हैं।

सामाजिक पृष्ठभूमि पर साद्‌देश्य रचना करनेवालों के अन्तर्गत प्रेमचन्द-स्कूल की मान्यता स्थापित होती है। जहाँ तक इस स्कूल का प्रश्न है, सामाजिक पृष्ठ भूमिपर सभी प्रकार की रचनाएँ सुधारवादी दृष्टिकोण से लिखी गयीं।

तीसरा स्कूल जो 'उग्र' के नाम पर प्रतिष्ठित किया जाता है, वह शैली और भाषा के चमत्कारवाले लेखकों का है।

अनुवाद-स्कूल उन लेखकों की रचनाओं के कारण रखना पड़ रहा है जो विभिन्न भाषाओं से छाया या समूल अनुवाद हिन्दी में मौलिक रचना कह कर करते हैं। इस युगमें भावना प्रधान कहानी लिखनेवालों में प्रसादजी जैसा कलाकार कोई न हुआ। प्रसाद की प्रारम्भिक कहानियाँ उनके विकास का बीज मात्र का संकेत करती हैं। उनकी प्रौढ़ रचनाएँ बाद की हैं। उनकी प्रारम्भिक कहानियों पर बंगला का हल्का प्रभाव है। प्रसाद ने ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी पृष्ठभूमियाँ ली हैं; किन्तु सर्वत्र अन्तर के चित्रों को मूर्त्तरूप, हृदय पर प्रभाव डालनेवाली काव्यमय शैली में, उन्होंने दिया। कहानी-कला की दृष्टि से वे एक महान कलाकार के रूप में प्रकट हुए और दिनोत्तर उनकी कहानियाँ हिन्दी संसार के लिए प्राणवान् साहित्य के रूप में ग्रहण की जाती रहेंगी। इन्होंने प्रारंभ से अन्त तक कला की जिस तूलिका से हिन्दी कहानियों का सर्जन किया, वह उनकी अकेली और अपनी है।

गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी हिन्दी साहित्य में एक बहुत बड़ी घटना के रूप में इतिहास में सदैव ग्रहण की जायगी। हिन्दी कहानी साहित्य के शैशवावस्था में जिस आदर्शोन्मुखी यथार्थ की प्रतिष्ठा उन्होंने अपनी इस कहानी में की, उसकी ऊँचाई की आज भी हिन्दी में गिनी-चुनी ही कहानियाँ हैं। इसके पूर्व भी वे दो कहानी और लिख चुके थे, पर वे कहानियाँ सामान्य-कोटि की तो हैं ही, भद्दी और भोंड़ी भी है।

इसके पश्चात् उर्दू से आये प्रेमचन्द का १९१६ ई० में 'पंच परमेश्वर' द्वारा हिन्दी जगत को परिचय प्राप्त हुआ। यद्यपि प्रेमचन्द इस उत्थान काल में दलित, पीड़ित जनता की पुकार के सन्देहवाहक के रूप में प्रकट हुए, यथार्थ जीवन में आदर्श की प्रतिष्ठा का बीड़ा उन्होंने उठाया, तो भी इनकी कुछ ही कहानियाँ कला की दृष्टि से ऊँची ठहरेंगी। उन कुछ कहानियों की ऊँचाई संभवतः हिन्दी में लिखी गई इनके ढंग की कहानियों में सर्वोच्च है। कौशिकजी यद्यपि इन्हीं की पद्धति पर कहानी लिखने वाले लेखक थे, पर प्रेमचन्द से पहले से ही लिख रहे थे। इस शैली के तीसरे प्रमुख लेखक सुदर्शन जी माने जाते हैं। यह मान्यता अतिरंजना लिये हुए है।

उग्र की कुछ कहानियाँ इतनी सुन्दर हैं कि उन्हें हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों की कोटि में निःसंकोच रखा जा सकता है। यद्यपि अतिशय यथार्थ के चित्रण के कारण तथा अपने अक्खड़ व्यक्तित्व के कारण उनके साहित्य के प्रति भी वही भावना व्यापक रूप से व्यक्त की जा रही है जो उनके प्रति लोगों की है, तो भी उनके साहित्य का तटस्थ अध्येता निश्चय ही यह कहे विना नहीं रुक सकता कि उनकी प्रतिभा का साहित्यकार उस युग में एकाध ही हुआ। भाषा का जादू, शैली का निजत्व, विषय का प्रतिपादन सभी कुछ इनका अपना है। यद्यपि उन्होंने कुरुचि पूर्ण सामाजिक नग्न सत्य का भी चित्रण किया है, पर उनका ध्येय एक आदर्श से [अनुप्राणित है, इसमें सन्देह भी नहीं। वे उन कलाकारों में हैं जो सामाजिक कुरीतियों का नग्न चित्र कलाकार की आँखों से दर्शाकर परिवर्तन के लिए समाज को उद्बोधित करते हैं। उग्र की रचनाओं का सम्मान पाठक करते हैं, भले ही राग-विराग के कारण कुछ उनसे नाक सिकोड़ें।

इस युग के कहानीकारों में राय कृष्णदास की दो-एक कहानियाँ कलात्मक अभिव्यक्ति के कारण अच्छी बन पड़ी हैं। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' युग के अच्छे कथाकारों में गिने जाते हैं। प्रेम की टीस से भरी कहानी लिखने में पंडित विनोदशंकर व्यास की तत्कालीन सफलता भावनाओं की रेखा खींचने के कारण है। जे० पी० श्रीवास्तव यद्यपि इस उत्थानकाल के प्रथम कोटि के हास्यरस के कहानीकार समझे जाते ह, पर सत्य यह है कि उन्होंने भड़उवा मात्र लिखा है। पंडित भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियाँ परिस्थिति के सुन्दर चित्रण के कारण सुन्दर बन पड़ी हैं। इस उत्थानकाल के प्रमुख कहानी लेखकों में जैनेन्द्र जी की भी गणना की जाती है। ऊटपटांग भाषा में ऊबड़-खाबड़ शैली में लिखने और दार्शनिकता के बोझ से बोझिल होने पर भी, उनकी कुछ कहानियाँ अच्छी बन पड़ी हैं। चतुरसेन शास्त्री के प्रशंसकों की भी कमी हिन्दी में नहीं। पर सत्य यह है कि उन्हें केवल उस श्रेणी के साहित्यकारों के अन्तर्गत रखा जा सकता है जिनकी रचनायें केवल बाजार के लिए लिखी जाती हैं। उनमें अपने को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। संभवत: जाने माने लोगों में प्रभाव उत्पन्न करनेवाले जितने अधिक साहित्य का निर्माण उन्होंने किया, उतना उस युग के किसी अन्य ने नहीं। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह भाषा के जादूगर तथा भावों के खिलाड़ी हैं। वे निरन्तर अपनी सरस रचनाओं द्वारा हिंदी का वाङ्मय करते रहे हैं। वे अपनी भावनाओं के सफल चित्रकार हैं। बेनीपुरी ने कुछ अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। श्री शिवपूजन सहाय जी की कहानियाँ देहाती वातावरण का सजीव चित्र हैं। इस भाँति कहानी के विकास का यह द्वितीय उत्थानकाल बहुत ही महत्वपूर्ण रहें। जिसमें ३-४ हिन्दी के मौलिक कहानीकारों को सदैव ही स्मरण किया जाता रहेगा।

वर्त्तमान

तृतीय उत्थान-काल इसके पश्चात् आरम्भ होता है। इस युग का कहानीकार अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम जगत के विकसित कथा साहित्य से परिचित हो चुका था। विविध ढंग की कहानियों का जिस पैमाने पर इस युग में विकास हुआ वह निश्चय ही बहुत बड़ी सम्पन्नता का परिचायक है। इस विविधता का बीज रूप तो १६२० की कहानियों के बाद ही से मिलने लगता है पर उसका वास्तविक पल्लवन व्यापक रूप से १६३० के बाद ही से प्रारम्भ हो सका। इस युग में सेक्स से लेकर जनहित को प्रभावित करने वाली कहानियाँ लिखी गईं। इस उत्थान-काल में सेक्स सम्बन्धी कहानियाँ सामाजिक कहानियाँ, राजनीतिक कहानियाँ, मनोवैज्ञानिक कहानियाँ, दार्शनिक कहानियाँ तथा वादों के घेरे में लिखी गईं सभी प्रकार की कहानियाँ दीख पड़ेंगी। इस युग में पाँच-छः ऐसे महान प्रतिभा-सम्पन्न कहानीकार हिन्दी जगत के सन्मुख आये जिनकी गणना निश्चय ही बहुत समय तक श्रेष्ठ कथाकारों में की जाती रहेगी। स युग के प्रमुख कहानीकारों में अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, बेढब, अन्नपूर्णानन्द, यशपाल, राधाकृष्ण आदि हैं। अज्ञेय की कहानियों में अन्तंरमुखी वृत्तियों को अभिव्यक्त करने की अनोखी क्षमता है। भगवती

चरण वर्मा की कहानियाँ अपने भीतर विद्रोह की भावनाओं की अभिव्यक्ति छिपाये हुए हैं। अन्नपूर्णानन्द और बेढब ने स्वस्थ हास्य की कहानियों का प्रवर्तन हिन्दी में पहली बार किया। अन्नपूर्णानन्द की कहानियों में बनारस की मस्ती भरी पड़ी है। बेढब की कहानियों में विविधता के साथ-साथ सामाजिक धार्मिक व्यंग बड़े उच्च स्तर पर मिलता है। उनके जैसा उपमाकार खड़ीबोली के गद्य लेखकों में हुआ ही नहीं। सुरुचि-पूर्ण शीलवान् हास्य-साहित्य के वे अनुपम उन्नायक हैं।

यशपाल जैसा उच्चकोटि का कलाकार इस उत्थानकाल में हुआ वैसा सभी दृष्टियों से अन्य कोई नहीं दीखता। चलती प्राणवान भाषा में जीवनमय चित्रों के बीच आस्था-पूर्ण मानवतावादी संदेश की वाहिका उनकी कहानियाँ हैं। वे कहीं-कहीं बहक भी हैं, दलगत राजनीति के प्रभाव के कारण, पर कलाकार यशपाल सर्वथा अपने ढंग का अकेला है तथा हिन्दी की बहुत बड़ी सम्पत्ति है।

राधाकृष्ण की कहानियाँ प्रचारित न होने पर भी अत्यन्त उच्च कोटि की हैं। 'घोस बोस बनर्जी चटर्जी' के नाम से हास्यमयी कहानियाँ तथा राधाकृष्ण के नाम से उन्होंने गंभीर कहानियों का सर्जन किया। उनकी अधिकांश कहानियाँ सफल तथा पूर्ण हैं। 'अश्क' की कहानियाँ भी सामान्यतः बुरी नहीं हैं। पं० बलदेवप्रसाद मिश्र की कहानियाँ मार्मिक, चुटीली तथा हृदयमोहिनी हैं। काशी की ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाकर लिखी गयी श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' की कहानियाँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी। इलाचन्द्रजी मनोवैज्ञानिक पंडित अधिक तथा कहानीकार कम हैं। सर्वश्री कमल जोशी, द्विजेन्द्र, राजकुमार यद्यपि प्रचार की दृष्टि से बहुत अधिक व्यापक नहीं किन्तु उनका भविष्य निश्चय ही महान है। वे सरस भावपूर्ण सुन्दर रचनाएँ अपने-अपने ढंग से लिखते चले जा रहे हैं।

स्त्रियाँ भी इस क्षेत्र में आयीं जिनमें सुभद्राकुमारी चौहान, उषादेवी मित्रा, होमवती, कमला त्रिवेणीशंकर, चन्द्रकिरण सौनरिकसा आदि प्रमुख ह।

इस विवेचन में संभवतः कुछ अच्छे कहानीकार छूट गये हों, पर अनेक प्रचारप्राप्त कहानीकारों को न पाकर आश्चर्य हो सकता है। ज्ञान की पूर्णता के सम्बन्ध में स्पष्ट ही लाघव मेरे साथ हैं पर जानबूझकर जिनके नामों की गणना नहीं की गयी है तथा जो आश्चर्यजनक प्रतीत होगा; उनकी जैसी कहानियाँ होती हैं वे ऐतिहासिक महत्व की नहीं। अस्वस्थ, गंदे और भद्दे कहानीकारों को भी छोड़ दिया गया है। एक चीज़ विशेष ध्यान देने की है वह यह कि आज रचना-वैचित्र्य तथा अहम् भावना से हिन्दी कहानीकार जैसी रचना कर रहा है, वह उसी व्यापकता को सीमित कर दे रहा है। यह प्रवृत्ति दुखद है।

उपन्यास

उपन्यास के क्षत्र में स युग में जितना प्रणयन हुआ उतना अन्य किसी क्षेत्र में नहीं। थोड़े ही समय में जितनी विविध शैलियाँ स क्षेत्र में ेख पड़ीं, उतनी अन्यत्र नहीं। प्राचीन समय में जो कार्य प्रबन्ध-काव्यों ने किया था, वर्तमान समय में वही कार्य

उपन्यास कर रहे हैं । जनता का मनोरंजन करने के कारण तथा लेखक को अनेक कार की छूट मिलने के कारण जितना प्रचलन उपन्यासों का हुआ उतना अन्य साहित्य के अंगों का नहीं । यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है कि स युग के पूर्व व्यापक रूप से विभिन्न देशी भाषाओं तथा अंग्रेजी से अनुवाद कार्य धड़ल्ले से होने लगा था। शिक्षा के प्रसार के कारण भी लोग अंग्रेजी के सीधे सम्पर्क में आ चुके थे । ऐसे ही समय प्रेमचन्द्र 'सेवा-सदन' नामक उपन्यास लेकर हिन्दी के क्षेत्र में आये । यह हिन्दी का पहला उपन्यास था जिसके कारण स्वस्थ उपन्यासों की परम्परा हिन्दी में प्रवर्तित हुई । सेवा-सदन सामाजिक विकृतियों, विशेषकर दहेज की विकृति पर लिखा गया ऐसा उपन्यास है जो व्यासशैली पर लिखा होने पर भी, उपदेशात्मक प्रवृत्ति से भरे रहने पर भी, दहेज के प्रति व्यापक जनचेतना का उद्‌बोध कराता है । इस उपन्यास में समाजसुधार की प्रवृत्ति व्यापक रूप से दीख पड़ी तथा मनुष्य के पारस्परिक सम्वन्धों की मार्मिकता का इसने परिचय कराया । सामाजिक उत्कर्ष की पृष्ठभूमि पर सामयिक जीवन की व्याख्या करने का प्रयत्न प्रेमचन्द्र करते रहे । कहना न होगा कि उपन्यासों के क्षेत्र में प्रेमचन्द्र जी ने सामान्य जनता के सुख-दुख और आकांक्षाओं की भित्ति पर नई चेतना जगाने का प्रयत्न किया । १९२२ में उनका 'प्रेमाश्रम' प्रकाशित हुआ जो ग्रामीण किसानों के प्रति जमींदारों के अमानवीय सम्वन्धों की कुत्सा प्रदर्शित करने के लिये लिखा गया । ग्रामीण किसान अपनी समस्त आपदाओं के साथ भारतीय परम्परा के अनुरूप वहाँ उपस्थित दीख पड़ता है। 'रंगभमि' नामक इनके उपन्यास का विषय असहयोग-आन्दोलन तथा अहिंसा सिद्धान्त का प्रतिपादन है । गाँधी दर्शन का व्यापक प्रभाव इस महान सामाजिक कृतिकर्ता पर इस ग्रन्थ में स्पष्ट दीख पड़ता है तथा इस उपन्यास को प्रेमचन्द्र की प्रारम्भिक कृतियों चरित्र चित्रण तथा विषय विन्यास की दृष्टि से सर्वोत्तम कहा जा सकता है । सूरदास, सोफिया तथा जाह्नवी के चित्र बड़े ही सुन्दर वन पड़े हैं, कथानक भी सुन्दर ढंग से परिस्थितियों के बीच उपस्थित किया गया है । सन् १९२६, २८ और २९ में क्रमशः कायाकल्प, निर्मला और प्रतिज्ञा का प्रकाशन हुआ । कायाकल्प पुनर्जन्म के सिद्धान्तों पर लिखा गया है तथा प्रतिज्ञा और निर्मला मानव के सामाजिक सम्वन्धों की व्याख्या करते हैं । उनकी कला का पूर्ण विकास गोदान में दिखाई पड़ा । यह उपन्यास, जो सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ था, उनकी कला को पूर्णता पर पहुँचाता है और सम्भवतः हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में से एक है । नागरिक जीवन की विकृतियों तथा ग्रामीण जीवन का जिस सुन्दर ढंग से उन्होंने चित्र उपस्थित किया है वह भारतीय साहित्य में विरल ही माना जाता है । होरी का चरित्र जितना सवल और प्राणवान है उतना प्राणवान और सवल चरित्र आधुनिक युग में कथा-साहित्य में एक आध उपन्यासों ही में दीख पड़ा।

प्रेमचन्द्र पीड़ित मानवता के सन्देहवाहक तथा सर्वाधिक जन-प्रिय उपन्यासकार के रूप में प्रकट हुए । तात्कालिक सामाजिक आन्दोलनों का प्रभाव उनके ऊपर था । वे स्वयं एक ग्रामीण, त्रस्त, पढ़े-लिखे व्यक्ति थे । उन्होंने ग्राम जीवन को निकट से देखा और समझा था तथा उसकी पीड़ा का अनुभव किया था । अतएव उन विकृतियों की



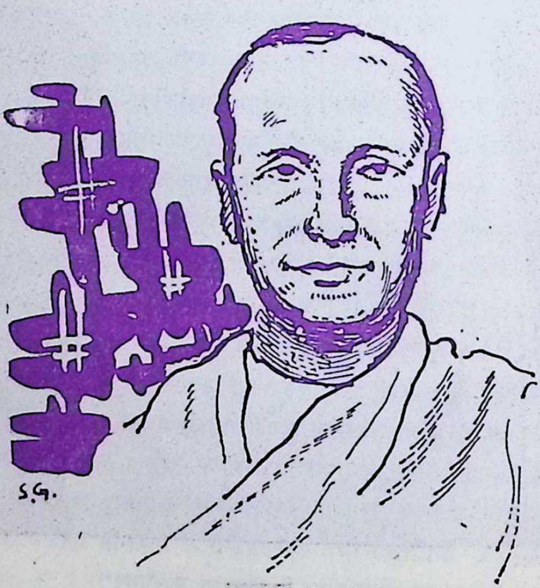
निराला



रत्नाकर



मैथिलीशरण गुप्त



प्रसाद

झलक दिखाकर सुधारवादी आदर्शों की प्रतिष्ठा उन्हें प्रिय थी । वे समाज के साथ चलने वाले, यथार्थ की अभिव्यक्ति करने वाले कलाकार थे । उनकी व्यापक समाज-चेतना ने उपन्यास-कला के द्वारा जिस साहित्यिक निर्माण का सफल अनुष्ठान किया वह निश्चय ही हिन्दी के लिये अमर गौरव की वस्तु है ।

उनके साथ ही जिन्होंने साहित्य के इस क्षेत्र में भी युग-प्रवर्तन का कार्य किया वे हैं प्रसादजी ! प्रायः प्रेमचन्द्रजी तथा उनके सामयिक साहित्यकार यह समझा करते थे कि प्रसादजी गड़े मुर्दे उखाड़ने वाले कलाकार हैं । पर अपने दो उपन्यासों द्वारा समाज के जो यथार्थ चित्र उन्होंने प्रस्तुत किये उसे देखकर प्रेमचंद्रजी भी सहम उठे । कंकाल और तितली जिस सामाजिक विकृति चित्रों की ओर संकेत करते हैं, वे असत्य मूल्यांकनों पर आधृत सामाजिक जीवन के मापदण्ड थे । उनपर जिस कौशल से वे आक्रमण करते हैं वह लोगों का चित्त आकृष्ट कर लेता है । घटना प्रधान उपन्यास उन्होंने लिखे हैं । यदि ठीक-ठीक मूल्याँकन किया जाय तो किशोरीलाल गोस्वामी की उपन्यास-कला का सुन्दरतम विकसित रूप प्रसादजी ने उपस्थित किया । इरावती नामक अधूरा ऐतिहासिक सुन्दर उपन्यास भी हिन्दी जगत को उनकी मूल्यवान देन है ।

विशंभरनाथ कौशिक के दो उपन्यास माँ और भिखारिणी का प्रकाशन भी सन् १९२९ में हुआ । सामाजिक कुप्रथाओं को आधार बनाकर घरेलू जीवन का चित्रण कौशिक जी का विषय है और इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई । विकृतियों से बचकर लेखक ने सामाजिक जीवन का सुन्दर चित्र उपस्थित किया ।

यथार्थवादी चित्रण की दृष्टि से प्रतापनारायण श्रीवास्तव को भी बड़ी ही सफलता 'विदा' के द्वारा मिली । विदा उपन्यास नागरिक जीवन के विकृति का अत्यन्त सुन्दर चित्र उपस्थित करता है तथा उसके खोखलेपन के चित्रण में पूर्ण सफल होता है । चरित्र-चित्रण भी अच्छे बन पड़े हैं । अपने समय के लिख गये उपन्यासों में इसकी महत्ता अत्यन्त अधिक है । श्रीवास्तव जी ने बाद में भी इधर उपन्यास लिखे, पर वह सफलता उन्हें न प्राप्त हो सकी जो सफलता उनको विदा में मिली ।

सामाजिक उपन्यास लिखनेवालों में अत्यन्त ख्याति उग्रजी को प्राप्त हुई । वासना-जन्य काम का आकर्षण, तथा समाज में व्याप्त तत्संबंधी विकृतियों के अतिशय यथार्थ चित्र उन्होंने उपस्थित किये, जो लोगों को प्रिय भी लगे । चन्द हसीनों के खतूत और दिल्ली का दलाल अत्यन्त प्रिय हुए । यद्यपि उन पर अश्लीलता का दोष लगाया गया, फिर भी शैली और कथा कहने का ढंग तथा प्रतिभा का जितना सुन्दर संयोग उग्र में उस समय की उनकी रचनाओं में दीखता है, उतना अन्य किसी व्यक्ति में नहीं ।

इसके पश्चात् हिन्दी में उपन्यासों की धारा अत्यन्त विस्तृत हो जाती है । जैनेन्द्र-कुमार का परख हिन्दी का पहला मनोवैज्ञानिक उपन्यास माना जाता है । विहारी और कन्नू का चरित्र जिस आन्तरिक चिंतन की भावनाओं का संकेत देते हैं तथा जिन मानसिक उद्बोधनों का संकेत करते हैं वे हिन्दी के लिये गौरव की वस्तु हैं । चतुरसेन के उपन्यास उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार की उनकी कहानियाँ । शैली की दृष्टि से तड़क-

भड़क वाले पण्डिताऊ विशद वर्णन की शैली के चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के मंगलप्रभात नामक उपन्यास का नाम भी इतिहास-ग्रन्थों में लेने योग्य है ।

ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में वृन्दावन लाल वर्मा जैसा महान् उपन्यासकार इस युग की देन है । यद्यपि उनकी भाषा ऊबड़-खाबड़ तथा व्याकरण के नियमों से प्राय: अपरिचित मिलती है, किन्तु इतना प्यारा ऐतिहासिक कथाकार हिन्दी में कोई दूसरा नहीं हुआ । उन्होंने नाटक, सामाजिक उपन्यास और कहानियाँ भी लिखीं । मृगनैनी नामक उनका उपन्यास हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में सभी दृष्टि से उत्कृष्ट है । उनका पहला उपन्यास लगन सन् १९२८ में प्रकाशित हुआ । उनके प्रमुख उपन्यासों के नाम हैं—गढ़कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, रानी लक्ष्मीबाई, सोना, अमर बेल आदि । वे निरन्तर इस क्षेत्र में व्यापक रूप से कार्य कर रहे हैं ।

अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी की चर्चा भी उपन्यासकार के रूप में होती है । इलाचन्द्र जोशी फ्रायड तथा मनोविज्ञान के विभिन्न सिद्धान्तों के ज्ञाता हैं । मनोवैज्ञानिक सत्य की अभिव्यक्ति जोशी जी उपन्यासों में करते हैं । जिस प्रकार जैनेन्द्र अपने उपन्यासों में दर्शन के व्याख्याता हैं उसी प्रकार ये मनोविज्ञान के । निर्वासिता उनकी प्रमुख कृति है । उपन्यासकार के रूप में उन्हें सफलता नहीं मिली । अज्ञेय एक सफल कहानीकार ही नहीं 'शेखर : एक जीवनी' के दो भागों द्वारा उन्होंने अपने को एक अच्छा उपन्यासकार भी प्रमाणित किया है । इनके इस उपन्यास में टेकनीक और कथा का, अर्द्धचेतन प्राणी के संकल्प और विकल्प का तथा वैसे ही चरित्र का सुन्दर एवं प्राणमय संयोग है । उनकी शैली भी भाषा दोषों के होते हुए भी नवीन आकर्षण लिए हुए है । उनका नवीन उपन्यास उनकी प्रतिभा के ह्रास का परिचायक है, यद्यपि कुछ लोग 'नदी के द्वीप' से बहुत अधिक प्रभावित हैं ।

यशपाल हिन्दी का वह कथाकार है जो प्रेमचन्द से कम गर्व की वस्तु हिन्दी के लिए नहीं । यद्यपि यशपाल मार्क्स के भौतिक दर्शन से अत्यन्त प्रभावित दीखते हैं तो भी जहाँ तक उपन्यास का प्रश्न है सभी दृष्टियों से उनके उपन्यास मौलिक होते हुए भी अनुपमेय हैं । उनके उपन्यासों में दादा कामरेड, देशद्रोही, दिव्या, हिन्दी की अक्षय निधि हैं । सुन्दर सजीव शैली, कथा का मनमोहक गुम्फन तथा अपने आदर्श की सुरुचिपूर्ण प्रतिष्ठा उनकी विशेषता है । पर कहीं-कहीं वे प्रचारक तथा काम वासना के चित्रकार के रूप में प्रकट हो जाते हैं । यह बात भारत के साहित्यका ों के लिए अच्छी नहीं । हास्य-उपन्यास लेखकों में बेढब जी की कृति लफ्टेण्ट पिगसन की डायरी एक मात्र हिन्दी का प्रौढ़ स्वस्थ सुन्दर हास्य उपन्यास है । व्यंग द्वारा उपमाओं का सहारा लेकर मनोरंजक ढंग से समाज-सुधार की भावना से अनुप्राणित लेखक इस उपन्यास के द्वारा हिन्दी के बहुत बड़े अभाव को पूरा करता है । पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित बाणभट्ट की आत्मकथा एक सुन्दर उपन्यास है । भगवतीचरण वर्मा की चित्रलेखा लोकप्रियता की दृष्टि से तथा कला की दृष्टि से अत्यन्त प्रचारित हो चुकी है । उनके टेढ़े-मेढ़े रास्ते और तीन वर्ष भी अच्छे उपन्यास हैं । वे सामाजिक आदर्शों का विवेचनकर साम्य-

वादी, अराजकतावादी तथा गाँधी दर्शन के युग-संघर्ष को व्यंगात्मक और मनोरंजक ढंग से व्यक्त करने में अत्यन्त सफल रहे हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी भी हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार माने जाते हैं, किन्तु उनकी कृतियाँ सामान्यतः मध्यम श्रेणी की हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क अपने उपन्यास 'गिरती दीवारें' के कारण काफी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। पंजाब के मध्यवर्गीय जीवन के विकृत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, विशेषकर कामवासना की तृप्ति और जीवनयापन का प्रश्न उनके उपन्यासों का विषय है। मार्क्स और फ्रायड के विचारों से वे अत्यन्त प्रभावित हैं।

अश्लील उपन्यास भी इस युग में बहुत बड़े पैमाने पर लिखे गये, जिनमें रेलवे में समय काटने की क्षमता है। इनमें कुछ एक तो अच्छे प्रतिभाशाली लोग हुए, लेकिन उन्होंने अपनी प्रतिभा के साथ बलात्कार ही किया। उनका साहित्य इतना सामयिक है कि उनका नाम न लेना ही अधिक अच्छा होगा। जो नई प्रतिभाएँ दीख पड़ रही हैं अभी वे अंकुर की अवस्था में ही हैं। जिन कवियों ने उपन्यास के क्षेत्र में लेखनी उठायी उनमें सियारामशरण को सामान्य और निराला जी को बहुत बड़ी सफलता प्राप्त हुई। निराला के उपन्यास प्राणवान प्रेरणा से सम्पन्न कर्मवादी जीवन की अभिव्यक्ति के कारण तथा अपनी मौलिक गद्यशैली के कारण असाधारण महत्व के हैं।

यह कहा जा सकता है कि इधर हिन्दी का उपन्यास-साहित्य जितना समृद्ध हुआ उतना कोई अन्य अंग नहीं। एक बात और, वह यह कि वैज्ञानिक उपन्यासों का क्षेत्र हिन्दी में एक दम सूना है। अभी १९५३ ई० में सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान डा० सम्पूर्णानन्द ने अपनी कृति 'पृथिवी से सप्तर्षि मंडल' द्वारा इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न किया। यह हिन्दी का एकमात्र वैज्ञानिक उपन्यास अपने ढँग का अकेला, अनूठा और सुन्दर है। नागार्जुन एवं रांगेय राघव के भी उपन्यास अच्छे हैं।

नाटक

हिन्दी-गद्य के व्यापक विकास के इस युग में नाटक-साहित्य का विकास खेदजनक ही रहा। इसके मूल में रंगमंच का अभाव तो कारण रहा ही है; साथ ही सामाजिक परिस्थिति तथा चल-चित्रों का विकास भी इसके लिये कम दायी नहीं है। रंगमंच की अपेक्षा चलचित्रों में जीवन तथा जगत की विभिन्न दशाओं और दृष्यावलियों का जैसा उत्तम विकास दिखाया जा सकता है तथा जितनी वहनीयता तथा सार्वभौमता है, उतनी रंगमंच के लिये कदापि संभव नहीं। सामाजिक स्थिति, सामान्यतः देश की ऐसी रही है कि कुछ दिन पहले तक यहां के लोग अभिनय-कार्य को हेय दृष्टि से देखते रहे हैं, जहाँ आधुनिक युग में हिन्दी का प्रवर्त्तन हुआ है। आज भी रंगमंच के लिये सामाजिक कारणों से महिलाएँ उपलब्ध नहीं हो पातीं। परिणाम यह होता है कि इक्के-दुक्के यदि कहीं पूर्ण नाटकों का अभिनय होता है, तो उसमें पुरुष को नारी का काम करना पड़ता है जो सर्वथा अनैसर्गिक ढंग का हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में शिक्षा का विकास होते हुए भी नाटकों का विकास व्यापक न होना आश्चर्य की बात नहीं।

बाबू हरिश्चन्द्र, राधाकृष्णदास और श्रीनिवासदास के पश्चात हिन्दी का यह क्षेत्र प्रथम विश्व-युद्ध के बाद तक सूना ही रहा । नाटक पारसी कम्पनियों के स्टेज के लिये आगा हश्र, जौहर, राधेश्याम आदि द्वारा लिखे गये; पर उनका न तो साहित्यिक महत्व रहा, न सभ्य और पढ़े-लिखे समाज के लिये किसी प्रकार का उनमें आकर्षण रहा। अंग्रेजी से प्रभावित होकर सर्वश्री द्विजेन्द्रलाल राय एवं गिरीशचन्द्र आदि ने बंगला में नाटक साहित्य का प्रणयन किया । उनका अनुवाद हिन्दी में अधिक प्रचलित हुआ। हिन्दी-जगत, अंग्रेजी से सीधे संम्पर्क स्थापित हो जाने के कारण शेक्सपीयर, शा और इब्सन की कृतियों से भी प्रभावित हुआ। उधर संस्कृत का नाटक-साहित्य अत्यन्त विकसित था । पश्चिमी नाटक जहाँ राजनीति प्रधान भौतिक विकासवादी सभ्यता के प्रतिफल हैं, वहीं पूरब के महान दार्शनिक रससिक्त वातावरण के संदेशवाहक । पूर्व पश्चिम का संयोग सामाजिक जीवन मात्र में ही नहीं हो रहा था अपितु सांस्कृतिक संगम का भी दृश्य उपस्थित था।

रंगमंच के विकास में बाधा थी तथा चलचित्रों ने सस्ते हल्के मनोरंजन एवं अपनी व्यापकता के कारण रंगमंच के विकास में बाधा पहुँचायी । ऐसी संक्रमणकालीन परिस्थिति में प्रसाद जी नाटककार के रूप में आये । प्रसाद जी के साहित्यिक जीवन का प्रारम्भिक काल तैयारी का समय था और उस समय ही उन्होंने भावी निर्माण का संकेत सामान्य रूप से इस क्षेत्र में भी दिया । वे निर्विवाद रूप से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। प्रारम्भ में प्रायोगिक रूप में उन्होंने लघु नाटक लिखे । राज्यश्री के द्वारा उनकी पूर्ण-प्रतिभा का विकास दिखाई पड़ा । राज्यश्री कन्नौज के सम्राट् हर्ष की विधवा बहन थी तथा नाटकीय व्यक्तित्ववाली ऐतिहासिक बुद्धिमती पात्रा को इस नाटक का आधार बना कर एक मौलिक प्रणयन किया । इसके बाद इनकी महत्वपूर्ण कृति अजातशत्रु का प्रकाशन हुआ । जिसमें तात्कालिक राजनीति का दर्शन तथा अजातशत्रु के चित्रण का सम्मोहक प्रयत्न किया गया। तत्पश्चात् हिन्दी का अत्यन्त प्रमुख नाटक स्कन्दगुप्त लोगों के सामने आया । स्कन्दगुप्त ने हूणों से देश के मुक्त करने का ऐतिहासिक कार्य किया है । स्कन्दगुप्त का चरित्र लेखक ने चित्रण की पूर्णता पर पहुँचा दिया है । इसके पश्चात् चन्द्रगुप्त जैसी विशिष्ट कृति हिन्दी जगत के सामने आई । इस कृति में चाणक्य का जितना सुन्दर चरित्र उपस्थित किया गया है उतना सुन्दर चरित्र इस महान् राजनैतिक महापुरुष का हिन्दी में उपस्थित ही नहीं किया गया । कल्याणी का चरित्र भी अत्यन्त मनमोहक है । उनकी पहले की कृति जनमेजय के नागयज्ञ में जनमेजय द्वारा परीक्षित की हत्या के कारण प्रतिहिंसा पूर्ण नागों के ध्वंस का वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त एक घूँट, विशाख और कामना प्रसाद के अन्य नाटक हैं । जीवन के अन्तिम दिनों में वे इन्द्र के संबंध में एक नाटक लिखना चाहते थे; किन्तु नागरी प्रचारिणी पत्रिका द्वारा इसकी भूमिका मात्र 'भारत का प्रथम सम्राट इन्द्र' लोगों के सम्मुख आ सकी ।

प्रसाद ने भारतीय इतिहास के स्वर्णकालीन अंशों से कथा-वस्तु का चयन किया है। कथा के निर्माण में यद्यपि उन्होंने कथा सूत्र जोड़ने के लिये कल्पना का सहारा भी लिया

है साथ ही गंभीर अध्ययन, मनन और चिंतन द्वारा इतिहास की बहुत बड़ी सामग्री पर प्रकाश भी डाला है। वातावरण की सजीवता उनके नाटकों में वैविध्य के साथ है। उन्होंने जीवन के अन्तरद्वन्द्वों एवं विषम परिस्थितियों के बीच सजीव चरित्रों का निर्माण किया है और उनके चरित्र अत्यन्त प्रभावशाली, उदात्त एवं प्रेरणाशाली हैं। वे इतिहास से उन चरित्रों को ढूंढ़-ढूंढ़कर सामने लाते थे जो देश के वर्त्तमान निर्माण में प्रेरणा के सन्देशवाहक बन सकते थे। प्रसाद स्वयं भावुकता से सम्पन्न कवि थे अतएव उनके पात्र भी उस छाया से प्रभावित दीखते हैं। जहाँ तक रचना विधान का प्रश्न है उन्होंने भारतीय नाटच प्रणाली में आधुनिक नाटच का संयोग भारतीय परम्परा को ध्यान में रखते हुए किया है। उनके नाटक रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत नहीं हो पाते। अभी तो हिन्दी का रंगमंच ही उतना विकसित नहीं हुआ है जितना विकसित प्रसाद के नाटक हैं। प्रसाद के नाटकों में कविता भरी शैली में ऐसे विस्तृत कथोपकथन हैं कि प्रायः सामान्य अभिनेता के लिये वे समस्या बन जाते हं। गद्य गीतों के ढंग के कथोपकथन भी बाधा उपस्थित करते हैं, तथा अभिनेता की कठिनाई बढ़ा देते हैं। कहीं-कहीं दार्शनिक चिंतन के कारण नाटकों की गति में बाधा भी उपस्थित हो जाती है। कही-कहीं क्रियाकलाप की भी कमी का दर्शन होता है। फिर भी यह नहीं माना जा सकता है कि उनके नाटक अभिनय योग्य नहीं हैं। अभी हिन्दी के रंगमंच का विकास उतना ऊँचा हुआ ही कहाँ है? इन नाटकों में प्रसाद ने कुछ गीत भी रखे हैं। ये गीत प्रसाद द्वारा निर्मित गीतों में अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। दो और ऐतिहासिक नाटककार महत्त्व के हैं।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने मध्यकालीन इतिहास से अपने नाटकों की सामग्री एकत्र की। प्रायः मुसलिम युग के चरित्र उनके नाटक के आधारशिला हैं। उनका सर्वोत्कृष्ट नाटक 'रक्षाबंधन' माना जाता है। यद्यपि उनके नाटक रंगमंच पर अधिक सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं, फिर भी वे उतना बड़ा सन्देश नहीं दे पाते, जो सन्देश प्रसादजी ने अपने नाटकों द्वारा हिन्दी को दिया है। दूसरे ऐतिहासिक नाटककार श्री वृन्दावनलाल हैं। इन्हें नाटकों में सफलता न मिल सकी। सेठ गोविन्ददास ने ऐतिहासिक तथा सामाजिक सभी प्रकार के नाटक लिखे पर इन्हें उटक-नाटक लिखनेवाला ही मानना श्रेयस्कर होगा। रंगमंच की दृष्टि से नाटक लिखनेवालों में पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त तथा पं० सीताराम चतुर्वेदी का नाम सदैव आदर के साथ लिया जायेगा। पं० गोविन्दवल्लभ पन्त का मार्कण्डेय पुराण पर आधृत वरमाला, राजस्थान की पन्ना धाय पर आधृत राजमुकुट तथा सामाजिक नाटक अंगूर की बेटी मद्य-सुधार की भावना से अनुप्राणित हैं, अनेक बार रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। पंडित सीताराम चतुर्वेदी हिन्दी के नाटककारों में नाटच-शास्त्र के तथा रंगमंच के पंडित एवं सफल अभिनेता हैं। उन्होंने बीसों नाटक लिखे हैं, जिनका सफलतापूर्वक अभिनय भी हुआ है। उनके नाटक प्रभावपूर्ण होते हैं। अभिनेताओं को सामने रखकर चरित्र-चित्रण और कथानक का वे निर्माण करते हैं, अतएव इस विशिष्टीकरण के कारण उनके नाटक हिन्दी के लिये रंगमंच

दृष्टि से अत्यन्त महत्व के हैं। उग्र ने इस क्षेत्र में भी महात्मा ईसा लिखकर अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा की छाप लगा दी। पंडित बद्रीनाथ भट्ट और माखनलाल चतुर्वेदी के नाटक अत्यन्त सामान्य कोटि के हैं। जी० पी० श्रीवास्तव ने भी प्रहसन के नाम पर भड़उवा की सृष्टि की है। हास्यरस के प्रहसन लिखने में तथा उनके सफलतापूर्वक अभिनीत होने में बेढब जी के प्रहसन बेजोड़ हैं। अश्क ने भी कुछ हास्य के सामान्य महत्व के प्रहसन लिखे हैं।

इब्सन और शा की शैली पर बुद्धि-चेतना का निरूपण करनेवाले समस्या नाटकों के आदि लेखक के रूप में पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र की महत्ता ऐतिहासिक हो चुकी है। उनके नाटकों में सामाजिक समस्यायें मिलती हैं और उनमें उन्हें सफलता भी मिली है। उनकी शैली अपनी है। वार्त्ता जोरदार हैं, स्वगत भाषण आदि के अमनोवैज्ञानिक तथ्यों से वे बचे हैं फिर भी उनमें स्व की अभिव्यक्ति इतनी गहरी है कि सभी चरित्र उनकी मनोधारा से प्रभावित हैं। उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रह पाता। इधर उनके बहुत से सुन्दर ऐतिहासिक नाटक निकले हैं जिन्हें प्रसाद की शैली का विकसित विकास कहा जा सकता है। अपनी कमजोरियों के वाद भी प्रसाद जी के बाद लक्ष्मीनारायण मिश्र का नाम ही लिया जा सकता है, जिन्होंने हिन्दी नाट्य साहित्य को कुछ दिया है। श्री उदयशंकर भट्ट के पौराणिक नाटक अच्छे बन पड़े हैं, श्री सुमित्रानन्दन ंत के गीतनाट्य भी महत्व के हैं। श्री जगदीश माथुर ने कोणार्क नामक महत्वपूर्ण नाटक लिखा है। १९५२ में प्रकाशित अवशेष, टेकनीक तथा अन्य दृष्टियों से महत्व का है।

एकांकी

एकांकियों की इधर थोड़े ही दिनों में हिन्दी में बाढ़-सी आ गई है। छोटी कहानियों का जो महत्व कथा-साहित्य में है वही महत्व एकांकी नाटकों का हिन्दी के क्षेत्र में है। डा० रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, 'मिलिन्द', उदयशंकर भट्ट, अश्क, विष्णु प्रभाकर, बेढब, से० गोविन्ददास आदि हिन्दी के अच्छे जाने-माने एकांकी नाटककार हैं, जिनमें सभी अलग-अलग दृष्टिकोणों से अच्छे हैं।

जब तक हिन्दी में रंगमंच का स्वस्थ विकास नहीं हो जाता तव तक अच्छे नाटकों के निर्माण का प्रश्न अत्यन्त दुरूह है। इधर जितनी कृतियाँ प्रकाश में आ रही हैं उनमें पूर्ण नाटक संभवतः वर्ष में एक-आध ही निकल पा रहे हैं, हिन्दी का अपना रंगमंच हो जानेपर इस क्षेत्रमें व्यापक विकासकी संभावना है, अन्यथा यह क्षेत्र वीरान ही दीखता है।

निबन्ध

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समसामयिक लेखकों में कुछ अच्छे निबन्धकार भी हुए। श्री बालमुकुन्द गुप्त (सं० १९२२ से ६४) उर्दू से प्रभावित कुशल लेखक एवं अनुभवी सम्पादक थे। द्विवेदीजी से भाषा और व्याकरण के प्रश्न को लेकर इनका विवाद भी चलता था। चुहचुहाती भाषा में इनका 'शिव शम्भू का चिट्ठा' अपने समय में काफी

विख्यात हुआ । ये वर्णनात्मक निवन्धकार थे । दूसरे लेखक पं० गोविन्दनारायण मिश्र थे, बाण और दण्डी को आदर्श मानकर पंडिताऊ शैली में, जिसमें व्रजभाषा का भी घोल मिला रहता था, यह लिखा करते थे । वावू श्यामसुन्दरदास आधुनिक हिन्दी के बहुत बड़े लेखक तथा प्रतिष्ठापकों में से थे । उनके सम्वन्ध में अन्यत्र विचार किया जायगा । पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी संस्कृत के विद्वान एवं पंडित थे । इनका लेख पाण्डित्यपूर्ण तथा विशेषता से पूर्ण होता था । इनके सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत यहाँ उपस्थित किया जा रहा है : "यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थ-गर्भित वक्रता गुलेरी जी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं । इनके स्मितहास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों में ली गई । अतः इनके लेखों का पूरा आनन्द उन्हीं को मिल सकता है, जो बहुत या कम से कम बहुश्रुत हैं ।" पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी सामयिक विषयों पर लेख लिखा करते थे । सरदार पूर्णसिंह यद्यपि वहुत थोड़े ही निवन्ध लिख सके, किन्तु एक नई शैली के जन्मदाता के रूप में उनका सदैव हिन्दी साहित्य में स्मरण किया जाता रहेगा । लाक्षणिकता प्रधान शैली में विचारों और भावों का एक अपूर्व सौन्दर्य भावनात्मक पद्धति पर अभिव्यक्त उनके निबन्धों में मिलता है । इस युग में ही हिन्दी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसा प्रौढ़ गम्भीर निवन्धकार भी प्राप्त हुआ । उनके निबन्धों ने हिन्दी को ऐसी शक्ति प्रदान की जिसके द्वारा गम्भीर विषयों पर भी अत्यन्त गंभीरतापूर्वक विचार अभिव्यक्त करने में हिन्दी पूर्ण समर्थ हो सकी । उनके सम्बन्ध में अन्यत्र विस्तार-पूर्वक विचार किया जायगा । प्रसाद ने भी अनेक सुन्दर निबन्धों का प्रणयन किया । पन्त, निराला, महादेवी तथा दिनकर भी निबन्ध-कार के रूप में हिन्दी जगत के सामने आये । छायावाद युग में एक नया फैशन रवीन्द्रनाथ टैगोर से प्रभावित होकर गद्यगीतों के लिखने का दीख पड़ा । न तो उसका उस समय ही वर्तमान था न उसका कोई भविष्य । रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, आदि गद्यगीत लेखक हैं । डा० रघुवीरसिंह ने भावात्मक ढंग से 'शेष-स्मृतियाँ' में मुगल काल के जीवनके विभिन्न चित्रों को उपस्थित करने का प्रयत्न किया है । श्री सिया-राम शरण ने भी कुछ निबन्ध लिखे । पंडित पदुमलाल पन्नालाल बख्शी के निवन्ध गम्भीर सुन्दर और आकर्षक बन पड़े हैं । गुलाब राय के निबन्ध भी गंभीर तथा अच्छे हैं । डा० सम्पूर्णानन्द के निबन्ध गम्भीर प्रौढ़ शैली में अध्ययनपूर्ण चिन्तन प्रधान अभि-व्यक्ति के कारण स्थायी महत्व के हैं । पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी सजीव शैली में लिखनेवाले तथा छायावाद को प्रतिष्ठित करनेवाले लेखकों में अत्यन्त महत्व के हैं । उनकी भाषा में गजब की क्षमता तथा विचारों में प्रौढ़ता का दर्शन होता है । श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ भी उन लेखकों में हैं जिन्होंने छायावाद के प्रतिष्ठापन में व्यापक रूप से योगदान ही नहीं दिया है अपितु व्यंग प्रधान शैली में गंभीर विचार व्यक्त करने में सबसे अलग हैं । जहाँ तक आत्मव्यंजक निबन्धों का प्रश्न है व्यंगभरी अनूठी शैली में अभि-व्यक्ति उनकी निजी शैली एवं मौलिकता का आख्यान करती है । शान्तिप्रिय द्विवेदी ने भावना प्रधान निबन्धों की रचना की । शैली की विशिष्टता भावात्मकता के संयोग से

अत्यन्त आकर्षक हो उठी है; किन्तु गंभीर चिन्तन का प्रभाव उनके निबन्धों में विशिष्टता उत्पन्न कर देता है। पंडित चन्द्रबली पाण्डेय की अपनी निजी शैली है जो दुरूह है; किन्तु उनके निबन्धों द्वारा हिन्दी का बड़ा उपकार हुआ है। गंभीर अध्ययन से उनके निबन्ध सर्वत्र भरे रहते हैं। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ख्याति प्राप्त निबन्धकार हैं। भावनाओं के वेग में वे बह जाते हैं, किन्तु उनकी शैली इतनी सक्षम है कि सामान्य अध्येता को भी बहुत दूर तक अपने साथ बहा ले जाती है। उन्होंने आत्मव्यंजक निबन्धों में विशिष्टता प्राप्त की है। ज्योतिष के सम्बन्ध में लिखे गये उनके निबन्ध अत्यन्त विशिष्ट हैं और साहित्यिक निबन्धों पर बंगला का प्रभाव दीख पड़ता है। डा० नगेन्द्र के साहित्यिक निबन्ध भी बड़े महत्व के हैं। वाङ्मय के विभिन्न अंगों पर बराबर निबन्ध निकलते रहते हैं। यहाँ साहित्यिक निबन्धों का ध्यान मात्र रखा गया है। हिन्दी में संस्मरणात्मक निबन्ध लिखनेवालों में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पद्मसिंह शर्मा कमलेश ने भी काफी परिश्रम से साक्षात्कारोंपर निबन्ध लिखे हैं। सर्वश्री शिवपूजन सहाय, श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़, राय कृष्णदास, उग्र, रामबिलास शर्मा, शिवदान सिंह आदि ने भी समय-समय पर अच्छे निबन्ध लिखे हैं।

आलोचना

द्विवेदी युग में हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में भी वैसा ही ऐतिहासिक महत्व की प्रतिभाएँ दीख पड़ीं जैसी साहित्य के अन्य क्षेत्रों में। आलोचना के क्षेत्र में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का कार्य अनुपम महत्व का रहा है। उन्होंने तत्कालीन तुलनात्मक आलोचना-पद्धति के युग में गम्भीर शास्त्रीय आलोचना-पद्धति द्वारा युग को दृष्टिदान दिया। अपने गम्भीर विश्लेषणात्मक कृतियों द्वारा उन्होंने हिन्दी के इस अंग को अत्यन्त सम्पुष्ट किया। उनकी देन इतनी महती है कि उनकी तुलना में इस क्षेत्र में अन्य किसी भी आलोचक का नाम नहीं लिया जा सकता। पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र का उपयोग उन्होंने भारतीय दृष्टि से युग के अनुरूप किया है। जहाँ तक सैद्धान्तिक विवेचन का प्रश्न है काव्य में रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद तथा बाद में प्रकाशित रस सम्बन्धी पुस्तक 'रसमीमांसा' हिन्दी को उनकी वह देन है जिसके कारण राष्ट्रभाषा गौरवान्वित रहेगी। चिन्तामणि के निबन्ध साहित्यिक सिद्धान्तों की भूमिका के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। इतने गम्भीर निबन्ध हिन्दी में नहीं लिखे गये। तुलसीदास, सूरदास पर लिखी गई उनकी पुस्तकें तथा जायसी की भूमिका उनके महान् पाण्डित्य का प्रतीक है। बाबू श्यामसुन्दर दास उस व्यक्तित्व के व्यक्ति थे जिसने खड़ी बोली की बीसवीं शती में अप्रतिम सेवा की। वे न केवल निबन्धकार, आलोचक तथा प्राचीन साहित्य के उद्धारक मात्र थे अपितु उन्होंने नवयुवकों को उनकी प्रतिभा के अनुरूप हिन्दी की सेवा में भी लगाया। ऐसे लोगों में आधुनिक हिन्दी के अनेक विशिष्ट साहित्यकार आते हैं। डा० बड़थ्वाल, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी और श्री पुरुषोत्तम म० ए० उनकी खोज के परिणाम हैं। शुक्ल जी को भी इस क्षेत्र में उन्होंने बढ़ाया।

साहित्यिक सिद्धान्तों के ऊपर उनकी कृति साहित्यालोचन आज भी अपने स्थान पर है। उनकी आलोचना अत्यन्त सरल पद्धति पर होती थीं। शैक्षिक से लेकर गवेषणात्मक आलोचनायें तक उन्होंने लिखीं। शुक्लजी और बाबू साहब के कृतित्व पर अलग विचार प्रस्तुत किया जायगा।

समीक्षा की जो गवेषणात्मक शैली शुक्लजी में दीखी वह बाद में हिन्दी के लिये दुर्लभ हो गई। किन्तु बाद में आलोचना सम्बन्धी जितनी कृतियाँ निकलीं और निकल रही हैं, उसे देखते हुए इस युग को आलोचना-युग भी कह सकते हैं। समीक्षा की जितनी विविध प्रणालियों का दर्शन हिन्दी को इस युग में हुआ वह अत्यन्त गौरव की बात हिन्दी के लिये है। बाजारू आलोचना से लेकर गम्भीर साहित्यिक आलोचना तक का दर्शन इस युग में हुआ तथा व्यापक रूप से आलोचनात्मक रचनायें हिन्दी में निरन्तर निकल रही हैं। डा० बड़थ्वाल हिन्दी के विशिष्ट आलोचक थे। वह बहुत कम आयु में ही स्वर्गवासी हुए। उन्होंने संत-साहित्य के सम्बन्ध में हिन्दी में गवेषणात्मक सामग्री प्रस्तुत की। छायावाद के प्रतिष्ठापक आलोचक के रूप में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी जगत के सम्मुख आये। वे साहित्य की पद्धति पर आधुनिक हिन्दी के साहित्य की आलोचना करनेवाले अति प्रमुख आलोचक हैं। आधुनिक दृष्टि के सामंजस्य से लिखी गयी हिन्दी में उनकी आलोचनाएँ विशेष रूप से समादृत हैं, यद्यपि उन्होंने सूर-सागर का सम्पादन भी किया है और सूर पर एक पुस्तक भी लिखी है। उनके जैसे सक्षम स्पष्ट आलोचक हिन्दी में कम ही हैं। उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं : हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, जयशंकरप्रसाद, आधुनिक साहित्य, प्रेमचंद। प्रौढ़ता की दृष्टि से डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा की कृतियाँ भी विशेष समादृत हैं। विश्लेषण प्रधान आलोचकों में उनका प्रमुख स्थान है। उनकी तीन पुस्तकें हिन्दी जगत के सम्मुख आयीं—हिन्दी गद्य शैली का विकास, प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन तथा आधुनिक हिन्दी के गद्य-निर्माता। प्रथम दो पुस्तकें अपने विषय पर बेजोड़ ग्रंथ अब भी हैं। पं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र हिन्दी-जगत के जाने-माने पंडितों में प्रमुख हैं। उनकी आलोचना विशुद्ध भारतीय दृष्टि पर आधृत है। उन्होंने रीतिकाल के अनेक प्रमुख कवियों के ग्रंथों का सम्पादन किया है, जो बेजोड़ हैं। रीतिकाल के सम्बन्ध में की गयी उनकी सेवाएँ सदैव स्मरण की जाती रहेंगी। उन्होंने शैक्षिक जगत के लिए भी विशिष्ट ग्रंथों का प्रणयन किया है। घन-आनन्द ग्रंथावली अभी तक संपादित उनकी कृतियों में सर्वप्रमुख है तथा वाङ्मय विमर्श सुन्दर ग्रंथ है। पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी हिन्दी के ख्यातिलब्ध आलोचक हैं। हिन्दी साहित्य का आदि काल तथा हिन्दी साहित्य की भूमिका उनकी दो विशिष्ट कृतियाँ हैं। उन्होंने हिन्दी-साहित्य नाम से हिन्दी साहित्य का इतिहास भी लिखा है। यह कृति सर्वथा असंतुलित है और उनके जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति के अनुरूप नहीं। उनकी समीक्षा-पद्धति ऐतिहासिक एवं प्रभाववादी समीक्षा के योग का परिणाम है। कहीं-कहीं वह आलोच्य वस्तु की अत्यन्त गहरी नींव देकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं और कहीं-कहीं वे भावनाओं में बह जाते हैं। उनकी आलोचना में अभि-

व्यक्ति की क्षमता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के विशिष्ट आलोचकों में डा० नगेन्द्र की पुस्तकें अत्यन्त समादृत हुई हैं।

देव के संबंध में लिखी गयी डा० नगेन्द्र की आलोचना पुस्तक उनके विश्लेषणात्मक सजीव वैज्ञानिक गंभीर समीक्षा-शक्ति का व्याख्यान करती है। समवयस्क आलोचकों में नगेन्द्र का स्थान अत्यन्त विशिष्ट है। श्री शिवनाथ एम० ए० की आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर लिखी गयी समीक्षा अत्यन्त समादृत हुई है। श्री विजयशंकर मल्ल प्रगतिशील साहित्य के संतुलित आलोचकों में से प्रमुख हैं।

श्री पुरुषोत्तम एम० ए० की कबीर पर लिखी पुस्तक आज तक प्रकाशित कबीर संबंधी पुस्तकों में सर्वोत्तम है। उनका 'यथार्थ और आदर्श' पुस्तक भी अच्छी है।

मार्क्स के सिद्धान्त को आधार बनाकर आलोचना करनेवालों में कम्युनिस्ट दृष्टि के प्रतिनिधि आलोचकों में श्री रामविलास शर्मा और श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त हैं। बँधी हुई परिधि में ये साहित्य की आलोचना करते हैं। श्री शिवदान सिंह चौहान यद्यपि मार्क्स के सिद्धान्तों से प्रभावित दीखते हैं, तो भी उनकी दृष्टि अधिक व्यापक तथा संतुलित है।

पं० चन्द्रवली पांडेय हिन्दी की वह विभूति हैं जो ऐतिहासिक महत्व के साहित्यिक विषयों पर अत्यन्त गंभीरतापूर्वक अनुसंधानपूर्ण लेख खण्डन-मण्डन करते हुए लिखते हैं। तवस्सुफ अथवा सूफीमत और शूद्रक उनकी दो महत्तम कृतियाँ हैं। राष्ट्रभाषा के लिए आन्दोलन करनेवाले अपने ढंग के वे अकेले व्यक्ति हैं। श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ हिंदी के पुराने आलोचकों में हैं। व्यंगपूर्ण आलोचना की शैली उनकी अपनी निजी है। चिन्तन प्रधान समीक्षा के हिन्दी में प्रवर्त्तक पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी की आलोचना में गद्य-गीत का आनन्द रहता है; उनकी आलोचना रसमय होती है। उनके संस्मरण साहित्यिक महत्व के हैं। गुलाब राय एम० ए० ने महत्वपूर्ण गंभीर आलोचनाएँ लिखी हैं। डा० रामकुमार वर्मा भी सामान्यतः अच्छे आलोचक हैं। श्री केशरी नारायण जी शुक्ल की आलोचना पुस्तकें उनके अध्ययन की परिचायक हैं। पं० बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्य शास्त्र' विशिष्ट रचना है। पं० सीताराम चतुर्वेदी ने 'भारतीय नाटच शास्त्र' तथा 'समीक्षा शास्त्र' द्वारा हिन्दी वाङमय को संपन्न किया है।

सर्वश्री डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० माताप्रसाद गुप्त, डा० वार्ष्णेय, शिलीमुख, रामनाथ सुमन, डा० विश्वनाथ, ललिताप्रसाद शुक्ल, डा० नलिनी विलोचन शर्मा, जगन्नाथप्रसाद मिश्र, दीनदयाल गुप्त, रामबहोरी शुक्ल आदि की गणना हिन्दी के प्रमुख निबंधकारों तथा आलोचकों में की जाती है। ऐसे तो कोई जाना माना साहित्यिक शायद ही छूटा हो जिसने किसी न किसी रूप में इस युग में आलोचना न लिखी हो। सबकी कृतियों का विशद् विवेचन इस पुस्तक की परिधि में संभव नहीं। महिलाओं में सुश्री शचीरानी, पद्मावती 'शबनम', किरणकुमारी गुप्ता, शकुन्तला शर्मा आदि ने आलोचना की पुस्तकें लिखीं हैं। 'शबनम' की सेवाएँ महत्वपूर्ण हैं।

विविध-विषय

हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करानेवाले आन्दोलनों में हिन्दी पत्रकारिता का योग अनूठा रहा है । पत्रकारिता का विकास भी बड़े व्यापक पैमाने पर हुआ । सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, स्व० पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर तथा पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे ने हिन्दी दैनिकों के क्षेत्र में जो सेवाएँ की हैं, वे स्थायी महत्व की हैं तथा स्तुत्य हैं । स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी, पं० व्यंकटेशनारायण तिवारी, पं० कमलापति त्रिपाठी, श्रीकान्त ठाकुर, अशोकजी, मुकुटबिहारी वर्मा की सेवाएँ भी महत्व की हैं । मासिक और साप्ताहिक पत्रों के सम्पादन का जहाँ तक प्रश्न है, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० रूपनारायण पाण्डेय, श्रीकृष्णदेवप्रसाद गौड़, कालिकाप्रसाद दीक्षित, काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर', इलाचन्द्र जोशी, मोहनसिंह सेंगर, सुधांशु, बेनीपुरी जी और पदुमलाल बख्शी, शिवपूजन सहाय की सेवाएँ विशेष स्मरणीय हैं ।

दर्शन पर लिखनेवालों में प्रमुख रूप से डा० भगवादास, डा० सम्पूर्णानन्द और आचार्य नरेन्द्रदेव तथा बलदेव उपाध्याय हैं । डा० सम्पूर्णानन्द ने साहित्य, ज्योतिष और राजनीति के सम्बन्ध में भी अत्यन्त विशिष्ट तथा सुन्दर रचनाएँ लिखी हैं । पं० कमलापति त्रिपाठी ने 'बापू तथा गाँधी-दर्शन' पर अच्छी सुन्दर व्याख्या लिखी हैं । 'बन्दी की चेतना' जीवन के विभिन्न अंगों पर विचार प्रकट करनेवाली तरुणों के लिये लिखी गयी पं० कमलापतिजी की अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक है । डा० सम्पूर्णानन्द और पं० कमलापति त्रिपाठी को मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हो चुका है । इतिहास पर खोज-सम्बन्धी मौलिक लेख लिखनेवालों में डा० ओझा, डा० जायसवाल और पं० जयचन्द्र विद्यालंकार की सेवाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । श्री मन्नारायण अग्रवाल, भगवानदास केला आदि विद्वान् आर्थिक विषयों पर बराबर लिखते रहे हैं । इस प्रकार हिन्दी के विविध अंगों का भण्डार दिनोत्तर सम्पत्तिवान होता जा रहा है । व्याकरण के क्षेत्र में बहुत बड़ा अभाव दृष्टिगत होता है । पं० कामताप्रसाद गुरु के बाद पं० किशोरीदास वाजपेयी ने राष्ट्रभाषा का व्याकरण लिखा । इसके अतिरिक्त व्याकरण का स्वस्थ साहित्य हिन्दी में नहीं दीख पड़ता । जहाँ तक कोश का प्रश्न है हिन्दी में नागरी-प्रचारिणी सभा ने वृहद् हिन्दी-शब्द-सागर के नाम से एक बहुत बड़ा कोश प्रकाशित कराया । वह अब अप्राप्य है और पुराना पड़ गया है । नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संक्षिप्त हिन्दी-शब्दसागर का वर्तमान संस्करण सभा की परम्परा के मुख पर कलंक का टीका है । श्री रामचन्द्र वर्मा का प्रमाणिक कोष हल्का ही है । नालन्दा-शब्दकोष तथा प्रायः अन्य कोष बाजारू हैं । ज्ञानमण्डल द्वारा प्रकाशित तथा सर्वश्री कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय और मकुन्दीलाल द्वारा सम्पादित कोश वर्तमान कोशों में उत्कृष्ट है । विभिन्न प्रकाशकों ने अपने-अपने कोश व्या-पारिक लाभ की दृष्टि से प्रकाशित किये हैं । डा० रघुवीर वैज्ञानिक कोश के निर्माण में लगे हुए हैं । राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित शासन शब्दकोश अच्छा है । श्री मुकुन्दी लाला श्रीवास्तव द्वारा सम्पादित पारिभाषिक कोश अपने स्थान पर अकेला है तथा श्री

कृष्ण शुक्ल द्वारा सम्पादित पर्यायवाची कोश हिन्दी का एकमात्र पर्यायवाची कोश है। स्वस्थ बाल-साहित्य, तथा किशोर-साहित्य का अभाव भी खटकनेवाला है।

शिकार-सम्बन्धी साहित्य भी नहीं के बराबर है। भ्रमणवृत्तान्त श्री शिवप्रसाद गुप्त, राहुल सांकृत्यायन तथा बेनीपुरी जी के अच्छे हैं, अन्यथा इस साहित्य का भी अभाव ही दीखता है। शैक्षिक साहित्य के क्षेत्र में भी यद्यपि बड़ी ही द्रुतिगति से काम हो रहा है, तो भी राष्ट्रभाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा देनेकी स्थिति में हिन्दी नहीं आ पायी है।

जब से भारत स्वतंत्र हुआ है तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी हुई है, तब से व्यापक पैमाने पर चतुर्दिक कार्य हो रहा है। जिन संभावनाओं और कल्पनाओं के आधार पर इस समय लोग राष्ट्र-भाषा के निर्माण-कार्य में जुटे हुए हैं उसे देखते हुए सुन्दर भविष्य की कल्पना सहज ही की जा सकती है।

प्रमुख साहित्यकार

श्यामसुन्दर दास

(सन् १८७५–१९४५)

बाबू श्यामसुन्दर दास आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य के महान् उन्नायक, नागरी-प्रचारिणी सभा के संस्थापक तथा हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी के प्रथम अध्यक्ष थे। आपकी साहित्यिक कीर्ति का स्मरण नागरी-प्रचारिणी सभा तथा प्रकाशित साहित्य है। आज हिन्दी का जो सम्वर्धन भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों में दीख पड़ रहा है, तथा उच्च शिक्षा की हिन्दी की आज जो व्यवस्था दीख पड़ रही है, उसका श्रेय बाबू श्यामसुन्दरदास को ही है। उन्होंने न केवल हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी पुस्तकों और शैक्षिक साहित्य का निर्माण किया, अपितु काम करनेवाले विद्वानों को चुन-कर एकत्र भी किया और उनसे काम भी कराया। उन्होंने अपने शिष्यों को हिन्दी-सेवा के लिये प्रेरित भी किया, जिनमें अनेक तो हिन्दी के उत्कृष्ट विद्वान् और आलोचक हैं, यथा डा० पीताम्बरदत्त जी बडथ्वाल, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा और पुरुषोत्तम एम० ए०। नवीन विषयों का चयन तथा उसके अनुरूप शैली में उसकी अभिव्यवित बाबू श्यामसुन्दरदास की बहुत बड़ी विशेषता थी। उन्होंने साहित्य के जिन ग्रंथों का निर्माण किया उनमें निम्नलिखित कृतियों का स्थान अत्यन्त उत्कृष्ट है :—

साहित्यालोचन, हिन्दीभाषा और साहित्य, भाषा-विज्ञान, भाषा-रहस्य, रूपक-रहस्य, गोस्वामी तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

आप हिन्दी के उन लेखकों में से थे जिन्होंने गंभीर से गंभीर साहित्यिक विषयों का विवेचन किया है । जहाँ तक शैली का प्रश्न है आप अंग्रेजी तथा उर्दू के उन शब्दों को हिन्दी में अपनी प्रकृति और ध्वनि के अनुसार परिवर्तित करने के पक्ष में थे, जो अपनी भाषा में घुलमिल गये हैं । आपने अधिकतर प्रचलित संस्कृत तत्सम शब्दों का व्यवहार किया है तथा प्रचलित शब्दों को ही ग्रहण किया है । कहीं-कहीं उन्होंने व्यास-शैली का भी प्रयोग किया है और यह प्रयोग जटिल विषयों को अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से हुआ है । प्रवाहमयी प्रसादपूर्ण सुगठित भाषा के होते हुए भी पुनरावृत्ति का दोष उनमें कहीं-कहीं मिलता है और भाषा में मुहावरों का अभाव भी दीखता है । उनकी शैली की विशिष्टता यह है कि उन्होंने गंभीर से गंभीर विषयों को भी अत्यन्त सरल करने का प्रयत्न किया है । उनकी कृतियों से ही यह देखा जा सकता है कि वह कितने स्पष्ट व्यक्ति थे । उन्होंने ६ प्रकार की रचनाएँ की हैं जो नीचे डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा कृत हिन्दी गद्य के युग-निर्माता के आधार पर दी जा रही हैं ।

(१) मौलिक रचनाएँ

१–नागरी कैरेक्टर (१८९६), एनुअल रिपोर्ट औन रिसर्च आफ हिन्दी मैनस्क्रप्ट फार १९०० (१९०३), १९०१ (१९०४) १९०२, (१९०६) १९०३, (१९०५), १९०४ (१९०७), १९०५ (१९०८), ८–फर्स्ट ट्राईएनुअल रिपोर्ट औन दी सर्च आफ हिन्दी मैनस्क्रप्ट फार १९०६–८ (१९१२) । ९–हिन्दी कोविद रत्नमाला भाग १ और (१९०९' १९१४), १०–साहित्यालोचन (१९२२, १९३७, १९४१, १९४३), ११–भाषा-विज्ञान (१९२३, १९३८, १९४५), १२–हिन्दी भाषा का विकास (१९२३), १३–हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (१९२३), १३–गद्यकुसुमावली (१९२५) १५–भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१९२७) । १६–हिन्दी भाषा और साहित्य (१९३०, १९३७, १९४४) । १७–गोस्वामी तुलसीदास (१९३१) (एकैडमी), १८–रूपक-रहस्य (१९३१) । १९–भाषा रहस्य भाग १ (१९३५) । २०–हिन्दी के निर्माता भाग १ और २ (१९४०–४१) । २१–मेरी आत्मकहानी (१९४१) । २२–गोस्वामी तुलसीदास (१९४०, ई० प्रेस) ।

(२) सम्पादित ग्रन्थ

१–चन्द्रावती कथा नासिकेतोपाख्यान (१९०१), २–छत्रप्रकाश (१९०३), ३–रामचरित मानस (१९०४, १९१६, १९३९), ४–पृथ्वीराज रासो (१९०४–१२), ५–हिन्दी वैज्ञानिक कोश (१९०६), ६–वनिताविनोद (१९०६), ७–इन्द्रावती भाग १ (१९०६), ८–हम्मीर रासो (१९०८), ९–शकुन्तला नाटक (१९०८), १०–प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन की लेखावली (१९११), ११–वालविनोद (१९१३), १२–हिन्दी शब्दसागर खंड १–४ (१९१६–२६), १३–मेघदूत (१९२०), १४–दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली (१९२१), १५–परमाल रासो (१९२१), १६–अशोक की धर्मलिपियाँ, १७–रानी केतकी की कहानी (१९२५), १८–भारतेन्दु नाटकावली

(१९२७), १९–कबीर ग्रन्थाववली (१९२८), २०–राधाकृष्ण ग्रन्थावली (१९३०), २१–सतसई सप्तक (१९३३), २२–द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थ (१९३३), २३–रत्नाकर (१९३३), २४–वाल-शब्दसागर (१९३५), २५–त्रिधारा (१९४५), २६–नागरी प्रचारिणी पत्रिका १-१८ भाग, २७–मनोरंजन पुस्तकमाला १-५० संख्या, १८–सरस्वती (१९००–१००१–१९०२)।

(३) संकलित ग्रन्थ

१–मानस मुक्तावली, (१९२०), २–संक्षिप्त रामायण (१९२०), ३–हिन्दी निबन्ध माला भाग १-२ (१९२२), ४–संक्षिप्त पद्मावत (१९२७), ५–हिन्दी निबन्ध रत्नावली भाग १ (१९४१)।

(४) पाठ्य पुस्तकें, संग्रह

१–भाषा-सार-संग्रह भाग १ (१९०२), २–भाषा-पत्र-बोध (१९०२), ३–प्राचीन लेखमणिमाला (१९०३), ४–आलोक चित्रण (१९०२), ५–हिन्दी-पत्र लेखन (१९०४), ६–हिन्दी प्राइमर (१९०५), ६–हिन्दी की पहली पुस्तक (१९०५), ८–हिन्दी ग्रामर (१९०६), ९–गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया (१९०८), १०–हिन्दी-संग्रह (१९०८') ११–वाल-विनोद (१९०८), १२–सरल संग्रह (१९१९), १३–नूतन संग्रह (१९१९), १४–अनुलेख माला (१९१९), १५–नई हिन्दी रीडर भाग ६-७ (१९२३), १६–हिन्दी संग्रह भाग १, २ (४२५), १७–हिन्दी कुसुम संग्रह १, २ (१९२५), १८–हिन्दी कुसुमावली (१९२७), १९–हिन्दी प्रोज सलेक्शन (१९२७), २०–साहित्य सुमन भाग १-४ (१९२८), २१–गद्य रत्नावली (१९३१), २२–साहित्य प्रदीप (१९३२), २३–हिन्दी गद्य कुसुमावली भाग १–२ (१९३६–४५), २४–हिन्दी प्रवेशिका पद्यावली (१९३९–४२), २५–हिन्दी प्रवेशिका गद्यावली (१९३९–४२), २६–हिन्दी गद्य संग्रह (१९४५), २७–साहित्यक लेख (१९४५)।

(५) लेख एवं निबन्ध

१–सन्तोष (१८९४), २–भारतीय आर्य-भाषाओं का प्रादेशिक विभाग और परस्पर सम्बन्ध (१८९४), ३–नागर जाति और नागरी लिपि की उत्पत्ति (१८९४), ४–पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में अदालती अक्षर और शिक्षा (१८९८), ५–भारतवर्षीय भाषाओं की जाँच १८९८, ६–शाक्यवंशीय गौतम बुद्ध (१८९९), ७–जन्तुओं की सृष्टि (१९००) ९–पण्डितवर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर (१९००), १०–दानी जमशेद जी नौशरवाँ जी ताता (१९००), ११–भारतवर्ष की शिल्प-शिक्षा (१०००), १२–वीसलदेव रासो (१९०१), १३–भारतेश्वरी महारानी विक्टोरिया (१९०१), १४–हिन्दी का आदि (१९०१), १५–शिक्षा (१९०१), १६–फतेहपुर सीकरी (१९०१), १७–नीति शिक्षा (१९०२), १८–कर्त्तव्य और सत्यता (१९०२), १९–मुद्रा राक्षस (१९०२), २०–रासो शब्द (१९०२), २१–युनीवर्सिटी कमीशन (१९०२), २२–लाला ब्रजमोहनलाल (१९०२), २३–नागरी अक्षर और हिन्दी (१९०२), २४–दिल्ली दरबार (१९०३),

२५–व्यायाम (१९०६), २६–चन्दबरदाई (१९११), २७–हमारी लिपि (१९१३), २८–गोस्वामी तुलसीदास की विनयावली (१९२०), २०–हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज (१९२०), ३०–रामावत संप्रदाय (१९२४), ३१–आधुनिक हिन्दी गद्य के आदि आचार्य (१९२६), ३२–भारतीय नाट्य शास्त्र (१९२६), ३३–गोस्वामी तुलसी दास (१९२७–२८), ३४–हिन्दी साहित्य का वीरगाथा-काव्य (१९२९), ३५–बाल-काण्ड का नया जन्म (१९३१), ३६–चन्द्रगुप्त (१९३२), ३७–देवनागरी और हिन्दुस्तानी (१९३७) ।

(६) वक्तृतायें

१––हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग)

२––प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (अलीगढ़)

३––ओरियण्टल कान्फ्रेन्स (पटना)

४––ओरियण्टल कान्फ्रेन्स (बनारस) ।

यह महान् कृतित्व स्वयं उनकी देन का आख्यान कर लेती है । उनकी अनेक रचनाए अभी तक अपने स्थान पर उसी प्रकार सम्मानित होती हैं जैसी प्रकाशन के समय थीं ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आपका जन्म सं० १९४१ में और देहावसान सं० १९९८ में हुआ था । मैट्रिक पास करने के उपरान्त आपने एफ० ए० कर कानून-गो की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने का असफल प्रयास किया । इसके बाद आप एक हाई स्कूल में आर्ट मास्टर हो गये । श्री प्रेम-घनजी के सम्पर्क में आने के कारण आप साहित्य-सेवा की ओर अग्रसर हुए । आपके प्रारंभिक निबन्ध सरस्वती तथा आनन्द कादम्बिनी में प्रकाशित हुए । हिन्दी-संसार ने इन निबन्धों का बड़ा आदर किया । काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित 'हिन्दी-शब्दसागर' के सम्पादक-मंडल में भी आप रहे । 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का भी आपने बड़ी योग्यता से कुछ दिनों तक सम्पादन किया । इसके बाद आप हिन्दू विश्व-विद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुए तथा कुछ दिनों बाद आपने हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद को भी सुशोभित किया ।

प्रमुख ग्रन्थ हैं:––१ बुद्ध-चरित्र तथा २. अभिमन्यु वध (कविता), ३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ३, तुलसीदास, ४, सूरदास, ५. जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, ६. चिन्तामणि (दो भाग), ७. भ्रमर गीत-सार, ८. रस-मीमांसा, ९. विश्व-प्रपंच, १०. शशांक (अनूदित) ।

उत्कृष्ट निबंध लेखक तथा प्रौढ़ आलोचना साहित्य के प्रवर्त्तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी-साहित्य में प्रादुर्भाव एक युगान्तकारी महत्वपूर्ण घटना थी । यह एक ऐसा सन्धिकाल था, जब विगत युग आगत युग से विलग हो रहा था । अतीत के संस्कार क्षीण पड़ते जा रहे थे । अलंकार तथा पिंगल की वे परम्पराएँ जो कभी साहित्य

का मापदंड बनी थीं, विलुप्त हो रही थीं। शैली में भी बड़ा परिवर्तन हो रहा था। व्रजभाषा जो कई शताब्दियों से कविता की भाषा थी, धीरे-धीरे संध्या के सूर्य की भांति अस्त हो रही थी। गद्य के क्षेत्र में भी कुछ महारथी अपने कलम का कमाल दिखा चुके थे। छोटी-मोटी आलोचनाएँ भी निकली थीं। इन आलोचनाओं की दो पद्धतियाँ थीं—तुलनात्मक समीक्षा तथा परिचयात्मक समीक्षा। परिचयात्मक समीक्षा के अन्तर्गत समीक्षक लेखक के गुण तथा अवगुण का परिचय मात्र देता था। समीक्ष्य कृतिपर उतना विचार नहीं होता था। रागभरी ऐसी आलोचना का मुख्य उद्देश्य केवल रचना तथा रचनाकार का दोष निकालना ही होता था। यह पद्धति साहित्य के वाह्य पक्ष पर ही विचार करती थी। साहित्य का कोई अन्तरपक्ष भी होता है तथा उसमें भी कृतिकार की महानता देखी जा सकती है, यह भावना इस पद्धति के आलोचकों में नहीं थी। यह एक ऐसी कमी थी जिससे आलोचना पूरी नहीं कही जा सकती। केवल दोष निकालना ही प्रायः समीक्षक का लक्ष्य होता था।

आलोचना की तुलनात्मक पद्धति भी कुछ ऐसी थी। इसमें एक ही ढंग के दो कृतिकारों की आलोचना गिराने, उठाने की दृष्टि से की जाती थी। इस पद्धति के आलोचकों के आलोच्य विषय सदा एक ही विषय पर लिखी विभिन्न रचनाएँ तथा एक ही विषय पर कलम उठानेवाले कृतिकार होते थे। इन रचनाओं तथा कृतिकारों में क्या समानता है, किसकी शैली किससे उत्कृष्ट है, इसी पर विचार होता था। इस तुलना में कृतिकारों के सम्बन्ध का अधिक विचार रखा जाता था। आलोचकों के आलोच्य विषयों पर समदृष्टि रखनी चाहिए, पर ऐसी आलोचनाओं में पक्षपात का अधिक अंश रहता था। 'देव और बिहारी' को लेकर जो विवाद चला था उसमें पक्षपात का स्पष्ट रूप दिखाई पड़ता है। लाला भगवानदीन, पद्मसिंह, मिश्रबन्धु आदि प्रख्यात विद्वान भी इस प्रकार के पक्षपात से बच न सके थे। इस प्रकार की आलोचना कृतियों से हटकर कृतिकारों पर आ गहरा आक्षेप करती थीं। आलोचना की यह पद्धति भी आलोच्य विषय के वाह्य स्वरूप पर ही ध्यान देती थीं, अन्तर्निरीक्षण करने की इसमें सामर्थ्य नहीं थी। छिद्रान्वेषण करने का भयंकर दोष भी था।

इस प्रकार आलोचना की जो पद्धतियाँ शुक्ल जी के समय में चल रही थीं, वे विलकुल अपूर्ण थीं, एकांगी थीं। उनमें आलोचना-साहित्य का प्राणतत्व नहीं था। तत्कालीन आलोचना केवल गुणदोष-निरूपण-मात्र रहती थी। पश्चिम के विचारक और अंग्रेजी साहित्य के प्रख्यात आलोचक मेथ्यू आर्नाल्ड ने माना है कि अच्छे आलोचक में जिज्ञासापूर्ण क्षिप्र बुद्धि के साथ-साथ प्रचार की भावना भी होनी चाहिए। इनके अनुसार अच्छा आलोचक वह है जिसमें जिज्ञासा हो, नयी रचना शीघ्र पढ़ने की प्रवृत्ति हो, साथ ही साथ उसके दोषों का नहीं, अपितु गुणों का प्रचार करने की पक्षपात-रहित क्षमता हो। सफल आलोचकों के ये गुण उस समय के आलोचकों में न थे।

इन दोनों पद्धतियों के अतिरिक्त एक तीसरी आलोचना की पद्धति अभी चल ही रही थी और वह थी व्याख्यात्मक आलोचना। यह पद्धति अभिनव थी। पश्चिम के

आलोचना-साहित्य का इसपर प्रभाव था। इस पद्धति में सभी प्रकार की वाह्य तथा आभ्यन्तरिक तत्वों की, परिस्थितियों तथा भावनाओं की आलोचना होती थी। समीक्षा की इस पद्धति में वे दोष नहीं थे।

पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने आलोचना की इन सभी पद्धतियों को अपनाया। शुक्लजी ने नयी दिशा का इस क्षेत्र में प्रवर्त्तन किया। अब आलोच्य विषय कृतिकार न होकर उसकी कृति-रचना तथा देश-काल होने लगा, । शुक्ल जी ने कवियों के ऐतिहासिक महत्व की व्याख्या की, यह आलोचना-साहित्य में नयी थी। गोस्वामी तुलसीदास की आलोचना के आरम्भिक अंशों में यह विशेषता अच्छी तरह देखी जा सकती है। तत्कालीन समाज में सूर, तुलसी तथा जायसी की रचनाओं की क्या आवश्यकता तथा विशेषता थी, उन्होंने इसका भी वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से किया। जायसी के रहस्यवाद की आलोचना में सूफियों का अद्वैतवाद, यूनानी दार्शनिकों का अद्वैतवाद तथा भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है। विवेचन की यह पद्धति भी नवीन थी। सूर, जायसी, तुलसी आदि की आलोचना की जो पद्धति आपने अपनायी वह सर्वथा मौलिक थी। उन्होंने समीक्षा का ऐसा मार्ग निर्मित किया जिस पर आज तक लोग बराबर चले आ रहे हैं। मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, निर्णयात्मक, तुलनात्मक आदि सभी प्र लियों का उत्कृष्ट रूप उनकी आलोचना में दिखाई देता है। पद्धति नवीन होने पर भी दृष्टि ाचीन है। मानदंड का विधान शुद्ध भारतीय है। अभिव्यंजना पद्धति में अंग्रेजीपन अवश्य झलकता है किन्तु लिखने का ढंग बड़ा ही अच्छा है। तीखी तथा चुभती बात लिखने में लेखक की व्यंग-पटुता दर्शनीय है। पंत ने एक कविता लिखी थी नक्षत्र पर। नक्षत्रों की समता कवि ने उल्लू से की थी और कहा था कि अब सवेरा हो गया किन्तु मेरे हृदय में अन्धकार है तुम यहीं आकर निवास करो। शुक्ल जी ने बड़ी अच्छी चुटकी ली और कहा "...उर में छिपने के लिये आमंत्रित किया है, पर इतने उल्लू यदि डेरा डालेंगे तो मन की क्या दशा होगी।' कहने का ढंग भी कितना मार्मिक है।

शैली लेखक का स्वयं व्यक्त स्वरूप है—जर्मन विचारक वफन ने कभी कहा था। शुक्ल जी के जीवन की व्यक्तिगत गंभीरता उनकी शैली में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उनकी भाषा परिष्कृत, प्रौढ़ तथा संस्कृत है; वाक्य चुस्त हैं। गंभीर विवेचना, गवेषणात्मक चिंतन वे अपनी प्रकृति के अनुसार संयत भाषा में करने में पूर्ण समर्थ हैं। किसी विषय का गंभीर ढंग से प्रतिपादन शुक्लजी की एक विशेषता है। चाहे निवन्ध-रचना हो या आलोचना शुक्लजी की शैली में वैयक्तिकता की छाप सर्वत्र दिखायी पड़ती है। यदि उनके किसी निवन्ध से आठ-दस पंक्तियाँ निकालकर अलग रख दी जायँ तो स्पष्ट पता चल जायेगा कि ये क्तियाँ उत्कृष्ट निवन्ध लेखक तथा आलोचक शुक्लजी रचित हैं। व्यक्तित्व की ऐसी गहरी छाप हिन्दी के किसी अन्य आलोचक की कृति में नहीं दिखायी देती।

आपके निबन्धों के विषय अधिकतर मनोविकार हैं। इन निबन्धों की भाषा भी गम्भीर तथा व्यावहारिक है, भाव-व्यंजना भी सरल है। वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े हैं। ऐसे मनोवैज्ञानिक विषयों पर लेख लिखना आसान कार्य नहीं। विषय की दुरूहता के साथ-साथ ऐसे निबन्धों में प्रवाह भी कुछ कम ही रहता है। पाठक निबन्धों को पढ़ना नहीं चाहते, पर शुक्लजी के निबन्धों में ऐसी बात नहीं। प्रारम्भ से अन्त तक प्रवाह बना रहता है। विचारों का अच्छा संघटन रहता है। एक वाक्य दूसरे का पूरक ही दिखाई पड़ता है। एक के बाद दूसरे विचार इस प्रकार व्यक्त होते हैं कि उनसे विचारों की एक अच्छी शृङ्खला बन जाती है। बीच का आप कोई भी वाक्य निकाल लीजिए। सारा भाव अस्त-व्यस्त हो जायगा। शुक्ल जी के निबन्धों में व्यर्थ के शब्दों का कहीं भी प्रयोग नहीं मिलता। आप कमसे कम शब्दों में अधिक से अधिक बात कहने के पक्षपाती हैं। अभिप्राय-हीन निरर्थक शब्दों का प्रयोग इन्हें रुचिकर नहीं। इस प्रकार के निबन्धों में वह दुरूहता नहीं है जो गवेषणात्मक विवेचनाओं में पाई जाती है। गवेषणात्मक निबन्धों में भाव के साथ ही साथ भाषा भी अत्यन्त गम्भीर है। भाषा की उछल-कूद गंभीरता से बंधी रहती है।

आपके निबन्धों के विषय अनेक हैं। आप गंभीर विषयों पर विवेचनात्मक रूप से लिखते-लिखते अवसर पाते ही गहरी चोट करते हैं व्यंग्यात्मक छींटे उड़ाते जाते हैं। दुरूह विषयों के प्रौढ़ विवेचन के मध्य इस प्रकार के व्यंग एक विचित्र शांति ला देते हैं। पाठक गंभीर विषयों से जब ऊब जाता है तब उसके मनोरंजन का यह बड़ा अच्छा साधन है। शुक्लजी ने व्यंग के लिये ही उर्दू के शब्दों तथा मुहावरों का अधिक प्रयोग किया है।

आपने जो कुछ भी लिखा वह हिन्दी की अपूर्व निधि है। आप ही ऐसे महान विद्वानों तथा पुरुषार्थियों के लगन तथा परिश्रम के परिणाम स्वरूप आज हिन्दी उच्चासन पर विराजमान हो सकी है। हिन्दी-साहित्य का इतिहास, रस-मीमांसा, जायसी ग्रंथावली तथा सूर और तुलसी की आलोचनाएँ आपकी ऐसी ठोस पुस्तकें हैं, जिनके आधार पर हिन्दी आलोचना का विशाल भवन बन सका है। आपने कुछ कविताएँ भी की हैं। कुछ फुटकर तथा दो प्रबन्ध हैं: बुद्धचरित्र तथा अभिमन्यु वध। कविता के लिये आपने प्रायः ब्रजभाषा ही अपनायी। अभिमन्यु वध के छन्द बड़े चुस्त तथा प्रभावशाली हैं।

प्रेमचन्द

(सन १८८०-१९३३)

आप काशी में उत्पन्न हुए। बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। आपका वास्तविक नाम धनपत राय था।

गरीबी भरे जीवन की विडम्बना से जीवन भर संघर्ष करनेवाला यह कथा-शिल्पी हिन्दी उपन्यास-साहित्य का उच्चतम शिखर है। जिस वातावरण में आप पले उस

सामाजिक जीवन की अनुभूति का वास्तविक चित्रण कर आदर्श की प्राप्ति के लिए सतत संघर्ष आपके जीवन तथा साहित्य की विशिष्टता है।

यों तो हिन्दी में उपन्यासों का लिखना भारतेन्दु जी के ही समय प्रारंभ हो गया था पर यह आरम्भ मात्र था, उस क्षेत्र में किया गया प्रयास ही था। यह प्रयास जिस प्रकार और जिस गति से प्रारम्भ हुआ, वह सन्तोषजनक नहीं था। इस समय भाषा की परिपक्वता के अभाव में कथा का गति-गठन, उसमें मनोवैज्ञानिक रीति से भावानुशीलन की उद्भावना तथा व्यावहारिक जीवन का वास्तविक चित्र खींचना असम्भव था। उनमें कथा का तारतम्य भी ठीक नहीं रहता था। कथानक की गतिशीलता का अभाव इस युग के उपन्यासों में सबसे खटकनेवाली बात थी। कभी कथानक बड़ा सरल सीधा और एकदम स्पष्ट होता था, जिसमें कुतूहल बिल्कुल नहीं होता था, कभी कथानक इतनी वक्रता से आगे बढ़ता था कि उनमें कथा के विविधि तत्वों की शृङ्खला बिलकुल टूट जाती थी। सफल चरित्र-चित्रण तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की बात तो बड़ी दूर थी।

भारतेन्दु जी से लेकर प्रेमचन्द जी के पूर्व तक कथा-साहित्य की वैसी ही अवस्था थी, जैसी अवस्था नाटकों की 'प्रसाद' जी के आगमन के पूर्व थी।

प्रेमचन्द जी के प्रादुर्भाव से हिन्दी कथा-साहित्य में बड़ा ही क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। क्या भाषा, क्या शैली, क्या कथा निर्वाह की प्रणाली सभी नवीन हो गयीं। सभी में प्रेमचन्द जी का अपना व्यक्तित्व दिखायी पड़ा। केवल घटनाओं का उल्लेख करके आगे बढ़नेवाली कथा के स्थान पर चरित्र-चित्रण की भी रुचि दिखाई देने लगी। जीवन का मनोवैज्ञानिक चित्र खींचना लोगों ने प्रारम्भ किया। इस नवीन पद्धति को, इस नवीन विचार परम्परा को जन्म देने का श्रेय इसी मौलिक उपन्यास लेखक प्रेमचन्द को है।

कला और कौशल के क्षेत्र में विलक्षणता के साथ ही साथ अपने साहित्य की सामग्री जुटाने में भी आपने बड़ी योग्यता, तीक्ष्ण-प्रतिभा तथा भविष्य-द्रष्टा की-सी अनुपम बुद्धि का संतुलित परिचय दिया। साहित्य की सामग्री आपने तत्कालीन समाज से ली। समाज के जीवन का संघर्ष आपके साहित्य का विषय बना। सामाजिक प्रवृत्तियाँ तथा राष्ट्रीय भावनाओं की उद्‌बुद्ध चेतना आपके साहित्य में सजीव मूर्त्त हुईं। आपने अपने साहित्य में समाज का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व किया। धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का अच्छा चित्र खींचा है। तत्कालीन राजा तथा प्रजा के बीच का संघर्ष, शासक तथा शासित का कलुषित सम्बन्ध, दीनता, भुखमरी, विवशता, जीवन में व्याप्त व्यापक आर्थिक तथा सामाजिक वैषम्य आदि की भावनाओं की आधार-शिला पर ही आपके साहित्य का विशाल भवन निर्मित हुआ, जिसमें आपने हमारी सामाजिक, कौटुम्बिक परिस्थितियों का तथा विविध प्रवृत्तियों का बड़ा सफल निर्देशन किया। धनिकों और जमीदारों की अर्थशोषण की पक्षपातपूर्ण नीति का भविष्य उन्हें अन्धकारमय लगा। भविष्य के सम्बन्ध में वह आदि से ही अपने साहित्य में आशा-

वादी दिखायी देते हैं। मिल-मालिकों तथा मजदूरों का संघर्ष, जमींदारों तथा किसानों का कटुतापूर्ण सम्बन्ध, धनिकों का सामान्य से पक्षपातपूर्ण कटु व्यवहार, इन सभी की पीड़ा आप जानते थे। इसी से आपने-अपने उपन्यास तथा कहानियों में वर्तमान मानव समाज का सुन्दर सजीव और यथार्थ चित्र खींचा है। अनेक ऐसे मार्मिक चित्र उनके गोदान, रंगभूमि, कर्मभूमि, गबन आदि में सुन्दर तथा प्रभावशाली ढंग से चित्रित दिखायी देते हैं। जिस कार्य का सफल सम्पादन इतिहासकार भी नहीं कर पाते, उसे आपने कर दिखाया। आपके समय का इतिहास यदि कभी नष्ट भी हो जाय और आपका साहित्य रहे, तो भी लोग समाज की वास्तविक परिस्थितियों का—या यों कहिये इतिहास का, ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह है आपके साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता।

वस्तु तथा विषय-चयन की विशेषताओं के साथ ही साथ आपकी शैली तथा कौशल में भी आपकी अपनी विशेषता है। जिस चरित्र का भी चित्रण आपने किया वह इसी मृत्युलोक का, आपके और हमारे बीच का वैसा ही साधारण मानव है, जैसे हम-आप। उसमें स्वर्गीय उल्लास की झलक नहीं है, हमारे सपनों में विचरनेवाला पंख लगा कर उड़नेवाला वह नहीं है। गोदान के होरी आपके ही गाँव के पास आजकल भी कहीं-कहीं मिल जायँगे। होरी की परिस्थितियाँ तो 'होरी' से अधिक आज के समाज मे दिखायी देंगी। यही आपकी शैली की सजीवता का सबसे बड़ा प्रमाण है। चित्रोपमता, अभिनयात्मकता, भाषा की अलंकारिकता, हास्य और व्यंग तथा सरल और सजीव चित्रण आपकी शैली की मुख्य विशेषता है। आपके उपन्यासों तथा कहानियों में नाटकीय कला से पूर्ण कथनोपकथन से जान आ जाती है। ऐसे स्थलों में आपकी भाषा बड़ी तत्परता से एक हृदय का भाव दूसरे हृदय तक पहुँचाने में समर्थ होती है। ऐसे स्थलों पर भाषा का प्रवाह प्रखर होते हुए भी गम्भीर बना रहता है। अपने विचारों को स्थूल रूप देने के लिये या बोधगम्य बनाने के लिये आपने 'जैसे' 'तैसे' 'मानो' 'ज्यों' का प्रयोग करके भाषा को अलंकारिक बनाया है। इन उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं से भाषा में एक प्रकार का लालित्य आ गया है।

आपकी शैली पर आपके व्यक्तित्व की छाप है। आप अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं। हजारों में वह अपनी इस विशेषता से पहचाने जा सकते हैं।

आपकी भाषा के सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक है। जैसा आप जानते हैं, मुन्शीजी ने लिखना पहले उर्दू में ही आरम्भ किया। प्रारम्भ से आपको उर्दू पढ़ाई ही गयी थी। हिन्दी तो बाद में सीखी। इसी से आपकी हिन्दी की प्रारम्भिक रचनाओं में भाषा-सम्बन्धी अनेक अशुद्धियाँ थीं। भाषा भाव-वहन में उतनी समर्थ नहीं थी। व्याकरण की भी बड़ी साधारण अशुद्धियाँ थीं। कुछ का उदाहरण लीजिए "लड़के-लड़कियाँ. . .मन्दिर की ओर जा रहे थे। मैं जवाब देते हैं। रबी ने खेतों में सुनहरा फर्श बिछा रखा था। खलिहानों से सुनहले महल बना दिये गये थे। मनसा, वाचा कर्मणा से सिर झुकाया।"

इस प्रकार आपकी साहित्य-रचना का आरम्भिक काल आशाप्रद न था। इन रचनाओं को देखकर कोई यह नहीं समझ सकता था कि इन पंक्तियों का लेखक कभी

उपन्यास-सम्राट् हो जायेगा। पर मुन्शीजी के अध्यवसाय तथा लगन ने उन्हें अन्त में उपन्यास-सम्राट् बना ही दिया। धीरे-धीरे आपकी भाषा का विकास होने लगा। अशुद्धियाँ समाप्त होने लगीं, पर काल-सम्बन्धी भूल करीब-करीब अन्त तक चलती रहीं। शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग से आपकी भाषा भाव को व्यक्त करने में अत्यधिक सफल रही।

आपने मुहावरों तथा सूक्तियों का भी बड़ा ही सफल प्रयोग किया है। मुहावरों पर आपका पूरा अधिकार था। आप उसकी आत्मा से भलीभाँति परिचित थे। मुहावरों का प्रयोग आपकी भाषा की सबसे अच्छी तथा महत्वपूर्ण विशेषता है। उर्दू से हिन्दी में आने के ही कारण आपमें मुहावरों के ऐसे सफल प्रयोग की अद्वितीय क्षमता थी। इसी कौशल से उनकी भाषा को क्षमता मिल सकी।

मुन्शीजी हिन्दी-साहित्य के ऐसे कथाकार हैं, जिनकी रचना दूसरी भाषा की रचनाओं के समकक्ष रखी जा सकती है। इस लेखक ने वास्तव में हिन्दी-साहित्य के एक अंग की पूर्ति की। इसका अभाव साहित्य की एक बड़ी कमी होती। आज भी विदेशी साहित्य के समक्ष हमारे साहित्य का यह अंग कोई महत्त्व नहीं रखता।

इनकी विशिष्ट रचनाओं का नाम यहाँ दिया जा रहा है।

उपन्यास

१. गोदान, २. सेवासदन, ३. प्रेमा-श्रम, ४. रंगभूमि, ५. कर्मभूमि, ६. काया-कल्प, ७. प्रतिज्ञा, ८. गबन, ६. निर्मला, १०. वरदान।

कहानियाँ

११. सप्तसरोज, १२. नवनिधि, १३. प्रेमपूर्णिमा, १४. प्रेम-पचीसी. १५, प्रेमतर्थ, १६. प्रमद्वादशी, १७. पंच-प्रसूत, १८. समय यात्रा, १८. कफन, २०, ग्राम्य जीवन की झाँकी, २१. मानसरोवर ७ भाग।

नाटक

२२. प्रेम की वेदी पर, २३. कर्बला, २४. संग्राम।

अनूदित

२५. सुखदास, २६. अहंकार, २७. सृष्टि का आरम्भ, २७. आजाद-कथा, २६. कुछ विचार।

जीवनी

३०. दुर्गादास, ३१. कलम, तलवार और त्याग, ३२. शेख सादी।

बालोपयोगी

३३. कुत्ते की कहानी, ३४. जंगल की कहानी, ३५. मन मोदक।

जयशंकर प्रसाद

(संवत् १९४६–१९९४)

प्रसाद जी काशी के सुंघनी साहु के प्रतिष्ठित घराने में उत्पन्न हुए थे। यह घराना अपनी दानवीरता के लिये प्रसिद्ध था। इन्होंने क्वींस कालेज में सातवीं कक्षा तक पढ़ा था पर घरमें ही संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी का व्यापक अध्ययन किया था। इन्होंने साहित्य के सभी क्षेत्रों में मौलिक तथा सुन्दर साहित्य का निर्माण कर हिन्दी को अत्यन्त उच्च शिखर पर पहुँचा दिया।

जिस समय साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया, आधुनिक हिन्दी-साहित्य किशोरावस्था में था। उनके विभिन्न अवयवों को अपने पुष्ट साहित्यिक निर्माण द्वारा इन्होंने पूर्ण यौवनावस्था पर पहुँचा दिया।

प्रसाद जी मूलत: कवि थे। उनकी समस्त रचनाओं में उनका कवि-हृदय झलकता है। उन्होंने प्रारम्भ में ब्रजभाषा में कविता लिखी। उनकी प्रारम्भिक कविताओं को देख कर विशेष आशा नहीं की जा सकती थी किन्तु दिनोत्तर उनकी रचनाओं में प्रौढ़ता तथा सरसता आती गई। उनकी विधायनी कृतित्व की क्षमता का परिचय 'झरना' के प्रकाशन से सांकेतिक रूप में मिला। जहां तक छायावाद की प्रतिष्ठा का प्रश्न है, प्रसाद जी ने उसका बीजारोपण 'झरना' में ही किया है। झरना के पश्चात् 'आँसू' का प्रकाशन काव्य के क्षेत्र की हिन्दी-साहित्य में बहुत बड़ी घटना है। कवि की घनीभूत पीड़ा जिस मर्म के साथ यौवनसम्पन्न सौंदर्य-भावना की अभिव्यक्ति के साथ प्रवाहवान काव्यमय धारा में प्रस्फुटित हुई वह अत्यन्त गौरव की बात है। मानवीय प्रेम को आधार बना कर प्रसाद जी ने विरह के स्मृति भरे स्वर से हिन्दी साहित्य को आँसू द्वारा झंकृत कर दिया। उन्होंने मदभरे सुन्दर गीतों की सृष्टि अपने नाटकों में की, जो छायावाद युग में रचे गीतों में परिधि की व्यापकता तथा अन्य सभी दृष्टियों से सर्वोत्कृष्ट है। लहर में उनकी अनेक प्रकारकी रचनाएँ संग्रहीत हैं जिनमें छायावादी शैलीमें रचे हुए सुन्दर मधुर सरस मदभरे गीत तो हैं ही, साथही निर्वाध छन्दों में रची हुई अत्यन्त उत्कृष्ट रचनाएँ भी हैं यथा शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण आदि। इस संग्रह में सांस्कृतिक महत्व की रचनाएँ भी दी गई हैं।

छायावादी रचनाओं पर निरंतर यह आक्षेप होता रहा कि उसमें अपना दुखड़ा मात्र है। लोकमंगल की भावना उसमें नहीं। इसका उत्तर प्रसाद ने कामायनी के द्वारा दिया। युग के समस्त वैषम्य को मिटाने के लिये भारतीय चिन्तन-प्रणाली पर प्रसाद ने कामायनी का निर्माण किया।

उनकी कृति 'कामायनी' छायावाद के कीर्ति-मन्दिर की स्वर्ण-पताका है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में जितनी चर्चा इस कृति में दीख पड़ेगी उतनी अन्य किसी की नहीं। यह इसकी गौरवगरिमा का परिचायक है। जीवन को समवेत रूप से जिस समरस आनन्दपथ का सन्देश कामायनी देती है, वह आज की वैषम्य पीड़ित मानवता के लिये ज्योति-लोक में ले जानेवाले सोपान की प्रतिकृति है।

कामायनी पन्द्रह सर्गों के–चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, इर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द–अवयव से संगठित हो मूर्तिमयी है। कवि पं० सुमित्रानन्दन पन्त कामायनी को छायावाद का ताजमहल तथा लज्जा सर्ग को प्रवेशद्वार मानते हैं। पर यदि इसे भारतीय दृष्टि से देखा जाये तो प्रसाद-काव्य-मन्दिर की कामायनी देवी है और लज्जा उस देवी की प्राण-प्रतिष्ठापिका शक्ति।

भारत की साधना-भूमि में नारी की अभ्यर्थना आदि छविमूला शक्ति के रूप में की जाती रही है। मानव के चेतनालोक में वह अनन्त गरिमामयी सौन्दर्य की शक्ति के रूप में पूजित होती रही है। हिन्दी-साहित्य के स्वर्णोदय काल में वह असूर्यपंश्या थी और यौवनावस्था के द्वार पर रीति-काल में कामाग्नि के पोषण का उपकरण मात्र। आधुनिक हिन्दी-साहित्य ने जब करवट बदली, प्रसाद ने उसकी शक्ति का दर्शन किया तथा उसके विभिन्न रूपों को धूप-छाँह की भाँति सफल भाव-शिल्पी की तरह चित्रित करते रहे। प्रसाद की नारी सर्वत्र अपनी असफलताओं, विकलताओं, सौन्दर्य, विकृति, मादकता की फिसलन और आस्था की दृढ़ता के साथ अपनी कहानी कहती चली गई है। जीवन दर्शन की जिस कामना ने उन्हें नारी चित्रण की सफलता के लिये चिन्तामणी दी, उसके आदर्श की प्रतिष्ठा के संकल्प की पूर्णाहुति श्रद्धा है। श्रद्धा से पूर्व के प्रसाद द्वारा चित्रित नारी चित्रों के अलबम में आकर्षक सम्मोहिनी शक्ति है; उसमें दर्शक को अपने में लय करने की रसमय-भावभंगिमा है, पर वे दर्शन-चित्र भर हैं। कामायनी का चित्र उन सबसे भिन्न है। कामायनी केवल सजीव चित्र मात्र ही नहीं, प्रसाद के आदर्श की प्रेरणा तथा उनकी साधनामयी सिद्धि भी है। साधना, साध्य और सिद्धि की मूर्ति के रूप में श्रद्धा अभिव्यक्त हुई। लज्जा श्रद्धा का श्रृङ्गार मात्र ही नहीं, उसकी अनन्त विभूतिमयी शक्ति भी है।

व्यक्ति और समष्टि दोनों को मन और हृदय के संतुलन द्वारा आलोक की चेतना का सोपान प्रसाद जी बताते हैं। पुरुष और प्रकृति की संधि से सृष्टि का निर्माण हुआ। नर और नारी की विजय-यात्रा की कहानी में दोनों उस विराट सृष्टि रचना के सौन्दर्य की प्रतीक्षामयी प्रेरणा से युक्त गतिमान चरण हैं। दोनों के योग से मानवता के विजय-संदेश की कहानी प्रसाद जी ने कामायनी में कही है। प्रकृति मूलतः पुरुष की प्रेरणा रही है और नारी भारतीय परम्परा में पुरुष की शक्ति भी मानी जाती है। जीवन का संधिपत्र लिखते समय नारी अपना सर्वस्व सर्मपित कर देती है। यह अनन्त गौरवगरिमा-मण्डित त्याग नारी की शक्ति है, जो पुरुष को अनुप्राणित करती रहती है। काव्यात्मक ढ़ंग से प्रसाद जी ने इसका आख्यान किया है।

मानवता और व्यक्ति दोनों को आलोक से जगमग कर देनेवाली प्रेरणा शक्ति का साक्षात्कार कामायनी में होता है। साहित्यिक दृष्टि से भी कामायनी में प्रसाद की समस्त काव्य-शक्ति केंद्रित होकर मुर्त्त हो उठी है। बुल्ले के विभव निरखनेवाले, मधुधार से घबड़ानेवाले कुछ समसामयिक कवि भले ही 'कामायनी यदि मैं लिखता तो' कह कर शब्द चयन की भर्त्सना कर लें, पर वे यह न बतायेंगे वे लिखते तो क्या लिखते। इन लोगों

की वात का वजन अधिक नहीं। कामायनी आधुनिक हिन्दी-साहित्य के काव्य का सर्वोच्च शिखर है।

यह सर्वोच्चता जीवन में आनन्द-प्रगति के लिए संस्थापित की गयी है। मानव जीवन भावना और बुद्धि के द्वारा गति को संचालित करता है। इस संचालन में कभी बुद्धि और कभी हृदय की जीत होती है। मूल ध्येय गति की झलक मंदिर तक पहुँचना है किन्तु यह असंतुलन जीवन के विकास में वाधक हो तुमुल कोलाहल की सृष्टि करता है। श्रद्धा भाव-मूलक प्रेरणा है और इड़ा बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी।

इस असंतुलित गतिमयता का परिणाम ज्ञान, क्रिया में वैनम्य का बीज रोपित करता है। वह इतना पल्लवित तथा पुष्पित होता हैं कि व्यक्ति जीवन का दाँव ही हार बैठता है और मृत्यु नटी-सी उसके समक्ष नर्तन करने लगती है। ऐसी अवस्था में बुद्धि का तथा हृदय का संतुलन ही जीवन के लिए वरेण्य हो सकता है, तथा अभि शाप वरदान बन सकता है। इसी बात को आदि पुरुष मनु का रूपक खड़ा कर चिन्तन प्रधान मनोवैज्ञानिक पद्धति पर कामायती में संस्थापित किया गया है। कहना न होगा कि प्रसाद की यह कृति अपने ढंग की हिन्दी में सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है तथा छायावाद की स्थायी कीर्ति प्रतिष्ठापिका शक्ति।

नाटक, उपन्यास, कहानी के क्षेत्र में उनकी युग-विधायनी देन की चर्चा यथास्थान कर दी गई है। उनकी रचनाओं के प्रकाशन का काल-क्रम इस प्रकार है।

कहानी

(१) छाया	सन् १९१२,	प्रथम-संस्करण
(२) प्रतिध्वनि	,, १९२६,	,, ,,
(३) आकाश-दीप	,, १९२९,	,, ,,
(४) आँधी	,, १९२९,	,, ,,
(५) इन्द्रजाल	,, १९३६,	,, ,,

उपन्यास

(१) कंकाल	सन् १९२९,	प्रथम-संस्करण
(२) तितली	,, १९३४,	,, ,,
(३) इरावती (अपूर्ण)	,, १९३८,	,, ,,

नाटक

(१) राज्यश्री	सन् १९१५,	प्रथम-संस्करण
(२) विशाख	,, १९२१,	,, ,,

(३) अजातशत्रु ,, ११२२, ,, ,,
(४) जनमेजय का नागयज्ञ ,, १६२६, ,, ,,
(५) कामना ,, १६२७, ,, ,,
(६) स्कन्दगुप्त ,, १६२८, ,, ,,
(७) एक घूंट ,, १६२६, ,, ,,
(८) चन्द्रगुप्त ,, १६३१, ,, ,,
(९) ध्रुवस्वामिनी ,, १६३३, ,, ,,

निबन्ध

(१) काव्य कला तथा अन्य निबन्ध (मरने के बाद)

कविताएँ

१–शोकोच्छ्वास––सन् १६१०।

२–कानन-कुसुम––प्रथम संस्करण १६१२ ई०, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण 'चित्राधार' प्रथम-संस्करण के भीतर और तृतीय, संशोधित संस्करण १६२७।

३–प्रेम-पथिक––प्रथम-संस्करण, जुलाई १६१४।

४–चित्राधार––सन् १६१८

प्रथम संस्करण में निम्नलिखित दस ग्रन्थ थे––

(१) कानन-कुसुम
(२) प्रेम-पथिक
(३) महाराणा का महत्व
(४) सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य––१६०६ ई०।
(५) छाया––परिवर्द्धित।
(६) उर्वशी चम्पू
(७) राज्यश्री––१६१५ में प्रथम-संस्करण। इन्दु, कला ६, खंड १ किरण १, जनवरी १६१५ में प्रकाशित।
(८) करुणालय
(९) प्रायश्चित
(१०) कल्याणी-परिणय––नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १७, संख्या २, सन् १६१२। 'चित्राधार' का द्वितीय संशोधित, परिवर्तित संस्करण, सन् १६२८। इसमें प्रसाद की बीस वर्ष तक की ही रचनाएँ हैं।

५–झरना––प्रथम-संस्करण, अगस्त १६१८, सन् १६२७ में संशोधित एवं परिवर्द्धित द्वितीय-संस्करण।

६–आंसू—साहित्य-सदन, चिरगाँव, झांसी से सन् १९२५ में प्रथम-संस्करण। सन् १९३३ में भारती भंडार प्रयाग से संशोधित एवं परिवर्द्धित द्वितीय-संस्करण।

७–करुणालय—१९२८, भारती-भंडार।

८–महाराणा का महत्व—१९२८, भारती-भण्डार।

९–लहर—१९३३, भारती-भंडार।

१०–कामायनी १९३५, भारती-भंडार।

'ग' 'इन्दु' में प्रकाशित 'प्रसाद' की कविताओंका काल-क्रम

कला १

किरण	१	श्रावण ६६	१. शारदाष्टक	कविता	
किरण	२	भाद्रपद ६६	१. प्रेम-पथिक	ब्रज-भाषा में	
किरण	३	आश्विन ६६	१. शारदीय शोभा	कविता	चित्राधार
			२. मानस	,,	,,
किरण	४	कार्तिक ६६	१. प्रेम राज्य, पूर्वार्द्ध	,,	,,
किरण	५	अगहन ६६	१. कल्पना सुख	,,	,,
किरण	६	पौष ६६	१. बनवासिनी बाला	,,	,,
किरण	८	फाल्गुन ६६	१. रसाल-मंजरी	कविता	,,
किरण	१०	वैशाख ६७	१. अयोध्योद्धार	कविता	,,
किरण	११	ज्येष्ठ ६७	१. भारत	कविता	,,
			२. समाधि-सुमन	,,	,,
किरण	१२	आषाढ़ ६७	१. स्मृति	,,	,,
			२. रसाल	,,	,,

कला २

किरण	१	श्रावण ६७	१. प्रार्थना	,,	,,
			२. सन्ध्या-तारा	,,	,,
			३. वर्षा में नदी कूल	,,	,,
किरण	२	भाद्रपद ६७	१. पावस	,,	,,
			२. इन्द्र धनुष	,,	,,
			३. चित्र	,,	कानन कुसुम
			४. नीरद	,,	चित्राधार
किरण	३	आश्विन ६७	१. विभो	,,	चित्राधार
			१. अष्टमूर्ति	,,	,,

किरण ४	कार्तिक ६७	१. शारदीय महापूजन	,,	,,
		२. विनय	,,	,,
		३. प्रभातिक कुसुम	,,	,,
		४. शरत् पूर्णिमा	,,	,,
		५. लता	,,	,,
		६. विस्मृत प्रेम	,,	,,
किरण ५	अगहन ६७.	१. जल विहारिणी	,,	काननकुसुम
७	माघ ६७	१. नीरव प्रेम	,,	चित्राधार
८—११ संयुक्तांक	फाल्गुन ६७ ज्येष्ठ ६८	१. होली का गुलाल	,,	,,
		२. विसर्जन	,,	,,
		३. चन्द्रोदय	,,	,,

कला ३, १९१२ ।

किरण १	आश्विनशुक्ल ६८,	१. प्रभो	,,	काननकुसुम
		२. रजनीगंधा	,,	,,
		३. देव-मंदिर	,,	,,
		४. भारतेन्दु-प्रकाश	,,	चित्राधार
किरण २	कार्तिक ६८	१. एकान्त में	,,	कानन कुसुम
		२. ठहरो	,,	,,
		३. बाल-क्रीड़ा	,,	,,
किरण ३	फरवरी	१. राजराजेश्वरी	,,	,,
		२. नव-बसंत	,,	काननकुसुम
		३. बसंत-विनोद	,,	चित्राधार
		क. वसंत	कवित्त	
		ख. चन्द्र	,,	
		ग. कोकिल	,,	
		घ. चातक	,,	
		ङ. सिरिस सुमन	,,	
		च. तरुवर	,,	
		छ. भ्रमर	,,	
		ज. आवाहन	कवित्त	
		झ. सुनो	,,	
		ञ. कहो	,,	
किरण ४	मार्च	१. सरोज	,,	कानन कुसुम

	२. महाक्रीड़ा ,, कानन कुसुम
	४. करुणाकुँज ,, कानन कुसुम
	४. सौन्दर्य ,, कानन कुसुम
किरण ५ अप्रैल	१. कोकिल ,, कानन कुसुम

कला ३, १९१२ ।

किरण १० सितम्बर	१. मर्म-कथा कविता कानन कुसुम
किरण ११ अक्टूबर	१. विनोद बिन्दु ,, चित्राधार
	क. कमला कमल पर ,,
	ख. करत सनमान को ,,
	ग. वताओ कौन जोर है ,,
	घ. जीवन नैया सवैया
किरण १२ नवम्बर	१. हृदय वेदना कविता कानन कुसुम

कला ४ १९१३ ।

किरण १ जनवरी	१. सत्यव्रत (चित्रकूट) ,, कानन कुसुम
	२. भरत प्रथम अतुकान्त अरिल ,,
किरण २ फरवरी	१. करुणालय गीति-नाट्य
किरण ३ मार्च	१. वसंतोत्सव चित्राधार
	क. मिलि रहे माते मधुकर
	ख. भले अनुराग में रंगे हो
किरण ४ अप्रैल	१. करुण-क्रदन कविता कानन कुसुम
	२. भक्ति योग ,, ,,
	३. निशीथ नदी ,, ,,
किरण ५ मई	१. दलित कुमुदिनी ,, ,,
	२. प्रथम प्रभात ,, ,,
	३. भूल गजल ,,
किरण ६ जून	१. विनोद विन्दु चित्राधार
	१. चूक हमारी सवया
	२. प्रेमोपालम्भ अहो नित प्रेम करत दिन गयो
	३. उत्तर दियो भक्त उत्तर ह्वै के मौन
	१. नमस्कार कानन कुसुम

कला ४, १९१३ ।

किरण १ जुलाई	
	विदाई चित्राधार
किरण २ अगस्त	१. नमस्कार कानन कुसुम

		२. श्री कृष्ण जयन्तो	
किरण ३	सितम्बर	१. देहु चरण में प्रीति	"चित्राधार"

कला ५, १९१४ ।

खंड १,	जनवरी	१. पतित-पावन	कानन कुसुम
		३. रमणी हृदय	,,
		३. खोलो द्वार	झरना
किरण २	फरवरी	क. याचना	कानन कुसुम
		ख. खंजन	,,
		ग. विनोद-बिन्दु	,,
		१. हृदय में छिप रहे इस डर से—झरना	
		२. आया देखो विमल वसंत—झरना	
		३. अमा को करिय सुन्दर राका—झरना	
		४. मिल शीघ्र इन चरणों की धल–झरना	
किरण ३	मार्च	१. हा सारथे रथ रोक दो-कानन कुसुम	
		२. मकरंद बिन्दु	चित्राधार
		क. और जब कहिहै तब कहिहै	
		ख. नाथ नहिं फीकी परै गुहार	
		ग. मधुप ज्यों कंज देखि मड़रावै	
		घ. मेरे प्रेम को प्रतिकार	
किरण ४	अप्रल	१. गंगा सागर	कानन कुसुम
		२. विरह	,,
		३. मोहन	,,
किरण ५	मई	१. मिलन है पलक पर दे	,,
		२. मकरंद बिन्दु	चित्राधार
		क. तुम्हारी सबहि निराली बातं	
		ख. प्रिय स्मृति कंज में लवलीन	
		ग. पाइ आँच सुख की	
		घ. आसुन अन्हात	
किरण ६	जन	१. महाराणा का महत्व	

कला ५,१९१४ ।

किरण २	अगस्त	१. शिथिल	झरना
किरण ३	सितम्बर	१. प्रियतम	झरना
		२. मकरन्द-बिन्दु	

		क. आज इस घन की अंधियारी में—झरना
		ख. हृदय नहिं मेरा शून्य रहे—कानन कुसुम
		ग. आज तो नीके नेह निहारो—चित्राधार
		घ. यह सब तो समुझयो पहिले ही ,,
		ङ. भूलि भूलि जात ,,
किरण ४	अक्टूबर	१. मेरी कचाई
		२. तेरा प्रेम—तेरा प्रेम हलाहल प्यारे झरना
किरण ५	नवम्बर	१. प्रेम पथ प्रम पथ से:
किरण ६	दिसम्बर	१. चमेली ,, ,,

कला ६, १९१५।

किरण १	जनवरी	१. तुम्हारा स्मरण	काननकुसुम
		२. हमारा हृदय	
किरण २	फरवरी	१. अर्चना	झरना
		२. प्रत्याशा	,,
किरण ३	मार्च	१. स्वभाव	,,
किरण ४	अप्रैल	१. विनय	
		२. मधुकर बीत चली अब रात	उर्वशी
किरण ५	मई	१. बसन्त राका	

कला ६, १९१५।

किरण २	अगस्त	१. दर्शन	झरना
किरण ३	सितम्बर	१. सुखभरी नींद [स्वप्नलोक]	झरना
किरण ४, ५	अक्टबर नवम्बर संयुक्तांक	१. मिल जाओ गले	काननकुसुम

कला ८, १९२७।

किरण १	जनवरी	१. अनुनय [सुधा सीकर से नहला दो]	(चन्द्रगुप्त)
किरण २	फरवरी	१. तेरा रूप (भरा नैनों में, मन में, रूप)	स्कन्दगुप्त
किरण ३	मार्च	१. जाने दो (धूप छांह के लेख सदृश)	स्कन्धगुप्त

——:०:——

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला हमारे महान सांस्कृतिक कवि हैं। उनके जीवन का निर्माण साधना के उन महत्तम भावों पर आधृत है, जो सत्य, सुन्दर और मंगल की सृष्टि में जीवन का सर्वस्व समझते हैं। वे उस महान् जीवन-साधना के साधक हैं जो भारतीय ऋषियों एवं महर्षियों की साधना का जीवन-संबल होता था। स साधना में 'स्व' की आहुति से विचारों का दर्शन कर युग की मलीनता को, आलोकपूर्ण ज्योति-दर्शन कराया जाता है तथा पीड़ित प्रताड़ित समाज को आशा और विश्वास का संदेश दिया जाता है। साधक का संबल इस आलोक-सृष्टि के निर्माण में केवल आराधना हुआ करती थी। निराला जी का जीवन इस साधना, आराधना का पूंजीभूत ूर्त रूप है। सतत उनका जीवन त्याग-उत्सर्ग ही करता रहा है, मंगल और प्रकाश के संसार के निर्माण हेतु।

आज जब वे विषण्णमन हैं, क्षीण तन हैं तब भी उस साधना में तल्लीन हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार भारतीय भूमि के साधना कालीन साधक। कहना न होगा कि जितने विविध-प्रौढ़ प्रयोग उन्होंने आधुनिक हिंदी कविता में किये, उतने अन्य किसी ने नहीं। उनके ये प्रयोग सदैव प्राण को पुलकित करने वाले प्रेरणा से संबलित रहे हैं।

युग का कवि जिस समय नवीन काव्य की सृष्टि के लिये विह्वल था, उसी समय छायावादी काव्य के प्रतिष्ठापकों के रूप म पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' क्रान्तदर्शी मौलिकता लेकर आये। छायावाद की संकल्पात्मक श्री-वृद्धि में निराला जी ने क्रान्ति उपस्थित की। उनकी ओर सबका ध्यान एकाएक निर्वाध छंदों के कारण आकृष्ट हुआ। इन्हीं छंदों के कारण 'निराला' को रूढ़िग्रस्त कविता प्रेमियों की भर्त्सना का भाजन बनना पड़ा। उनकी 'जूही की कली' का प्रकाशन क्रान्ति उपस्थित करने में सफल रहा। प्रायः लोग यह समझते थे कि छंदों के बन्धन में ही रचना की जा सकती है। भाव सदैव छंद की कारा में बंदी रहते हैं, पर 'निराला' ने भावों के संकेत पर छंदों का प्रणयन किया। इस अनहोनी बात को लय और सुर के ताल पर संगीत की स्वर लहरी में जिस कौशल के साथ निराला जी ने अभिव्यक्त किया, वह उनकी शक्ति का परिचायक है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस सम्बन्ध में अच्छी तरह उत्तर दिया है कि 'पूछा जा सकता है कि जब नए छंद प्रयोग में आये, तब पुराने छंदों ने क्या बिगाड़ा और इतने से ही क्या ंद की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती। इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पुरानी कोठियों और महलों से, जो दूर वातावरण में बने थे, बाहर निकल आना भी कभी क्रान्ति कहला सकती है, और नए आवास बनाकर रहना भी नये वातावरण का निर्माण करना कहा जा सकता है। ठीक यही बात निराला जी के छंद और उनकी छंदात्मक रचनाओं के संबंध में कही जा सकती है।'

कल्पना की सूक्ष्मता, कला की बारीकियों के द्वारा जिस रूप में उनकी रचनाओं में अभिव्यक्ति हुई, वह हिन्दी-काव्य के लिये अत्यन्त गौरव की बात है। निरालाजी की स्वच्छन्दता उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। कल्पना से लेकर नये प्रयोगों तक जिस

गम्भीरता के साथ यह स्वच्छन्दता उनमें दीख पड़ती है, उतनी हिन्दी के किसी अन्य कवि में नहीं। प्राय: कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि उनके भाव, कथन, भाषा सभी विश्रृंखल हैं। वह उनकी बहुत बड़ी भूल है। स्वच्छन्दता में भी भावों की श्रृंखला उनकी विशेषता है। निराला जी की पहली पुस्तकाकार रचना हिन्दी जगत के सम्मुख बहुत बाद में आयी, यद्यपि पत्रों में उनकी रचनाएँ बहुत पूर्व ही प्रकाशित हो चुकी थीं। 'परिमल' में उनकी मौलिकता तथा युगविधायनी कृतित्व की क्षमता मिलती है। 'परिमल' में निर्बाध छंद में रचा हुआ 'पंचवटी प्रसंग', 'शिवाजी का पत्र' आदि ऐसी रचनाएँ हैं जो सजीव और प्राणवान अभिव्यक्ति अपने भीतर समेटे हुए हैं। कल्पना-प्रधान विशुद्ध भावनाओं की अभिव्यक्तिमयी रचनायें 'जूही की कली' आदि हैं। 'परिमल' के भीतर दृश्य का चित्र उपस्थित करनेवाली ऐसी अत्यन्त सुन्दर रचनाएँ भी हैं, जो कवि की मानस की गहराई का चित्र उपस्थित करती हैं, जिनमें प्रकृति की झलक से लेकर पूजा के मन्दिर की शान्त दीपशिखा भारत की विधवा भी है। कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जो कल्पना-प्रधान होते हुए भी चमत्कारपूर्ण प्रभाव के कारण हिन्दी की विशिष्ट रचना समझी जाती हैं। कुछ सहज भी हैं, और कुछ लम्बी, कल्पना-प्रधान अतीत का वैभव समेटे श्रेष्ठ सांस्कृतिक रचनाएँ भी। श्रृंगार की जो भावना 'परिमल' में अंकुरित दीख पड़ती है, गीतिका' उसका विकास है। गीतिका के गीत यद्यपि पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी को ठूठे लगते हैं तो भी सहज मानवीय स्वस्थ, गंभीर समवेदनाशील भावना के कारण तथा लय की झंकार के कारण एक मनोहर अभिव्यक्ति जो मौलिक भी है, गीतिका में दीख पड़ती है। इन गीतों की भाषा संस्कृत बहुल है किन्तु सरसता का उनमें अभाव देखना बुद्धि का संतुलन नहीं माना जा सकता। इस कृति का हिन्दी के गीत-काव्यों में गौरवशील स्थान है। 'गीतिका' के बाद निराला का विराट रूप हिन्दी-जगत के सामने उपस्थित हुआ। जिसमें प्रयोग की विविधता, काव्य-शक्ति की पूर्ण प्रौढ़ता दीख पड़ती है। 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज स्मृति' जैसी भावना-प्रधान रचनायें जो हिन्दी की श्रेष्ठतम सुन्दर कृतियों में से हैं, निरालाजी ने इसी समय रचीं। गंभीर भावनाओं की गंभीरतापूर्वक अभिव्यक्ति जो हृदय को आन्दोलित कर एक सारभौम प्रभाव छोड़ती है, उनके भीतर इन रचनाओं की गणना होती रहेगी।

सौ छन्दों में गौड़ीय पद्धति पर निर्मित निराला की 'तुलसीदास' रचना अपने स्थान पर आज भी अकेली है। गंभीर भावभंगिमा के मनोवैज्ञानिक चित्रों को सांस्कृतिक भित्ति पर कला की जिस तूलिका से निराला ने इस कृति में सँवारा है, वह उनकी अपनी मौलिक विशिष्टता है। ध्वनि के चित्रों को उपस्थित करनेवाला ऐसा सुन्दर प्रबन्धकाव्य खड़ी बोली की कविता में नहीं है। कुछ महाकवि कहे जानेवाले लोगों ने भी 'तुलसीदास' से पूरी पंक्ति की पंक्ति सुन्दर समझ कर अपने काव्य में प्रयुक्त की है। शिकायत लोगों की यह है कि उनकी भाषा बड़ी अनगढ़ है। इस सम्बन्ध में कहना यह है कि जिस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का चित्र जैसा सजीव उस काव्य में उपस्थित किया गया है, क्यों नहीं बाद में ही कहीं कोई अपनी सरल भाषा में उपस्थित कर सका। कैलाश

की ऊँचाई देखकर झांई खा जाना आँखों का दोष हो सकता है। कैलास की ऊँचाई उसकी अपनी विशिष्टता है।

इन रचनाओं के बाद 'निराला' एक नये रूप में, अपनी व्यंग प्रधान यथातथ्य निरूपित करनेवाली रचनाओं के कारण, विशेष चरचा के विषय बने। 'कुकुरमुत्ता' में व्यंग-प्रधान शैली में, चलती भाषा में जिस प्रकार पूंजीपति के प्रतीक गुलाब को, जनता के प्रतीक कुकुरमुत्ता को उपस्थित कर व्यंग चित्रण किया है, वह व्यंग-साहित्य के इतिहास में अपनी मौलिकता के कारण अत्यन्त महत्व का है। अतिशयता का दोष इनके इन व्यंग-काव्यों में आ गया है। इन रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने 'परिमल' में जिन भावनाओं का बीजारोपण किया, बराबर उस शैली की विकसित रचनाएँ करते रहे। 'अणिमा' और 'अर्चना' इसका उदाहरण हैं। 'बेला' और 'नये पत्ते' में उन्होंने छंदों में और नया प्रयोग किया। कवि की मूल भावनाओं का विकास 'अर्चना' और 'आराधना' के गीतों में है। 'अर्चना' और 'आराधना' के गीतों में भावना की जिस तन्मयता का दर्शन होता है वह आधुनिक हिन्दी गीतकारों में गंभीरता की दृष्टि से किसी भी कवि में नहीं मिला। हिन्दी-साहित्य के एकमात्र वे ऐसे गायक हैं, जो जीवन की समस्त विपन्नता के होते हुए भी काव्य की आराधिका देवी भारती पर अटल निष्ठा रखते हैं। उस निष्ठा म जहाँ एक ओर तुलसी की भाँति हृदय निवेदन की असीम विनम्रता है, वहीं सूर और मीराँ के गीतों की टीस भरी, रसमयता भी है।

'गीत-गुंज' उस साधना परम्परा का वह स्वर है, जो आत्मद्रष्टा ने जीवन के प्रांगण ः देखा है। इसके प्रस्रोताओं ने कबीर के सबद और साखी से इसे महान माना है। पर मुझे खेद है कि मै कबीर से निराला जी के काव्य की तुलना नहीं कर सकता। यद्यपि मैं यह मानता हूँ कबीर महान थे, कबीर की देन महान है, उन्होंने अपने समय और समाज की सेवा की है, महती सेवा की है, ऐसी सेवा जो आज भी अनेकों के लिये प्रेरणा का संबल है। पर मै अपनी विनम्र-राय में उस रागात्मक वृत्ति का पोषक या स्रष्टा उन्हें नहीं मानता, जो जीवन साधना के अतल से स्रोतस्विनी की भाँति समाज और व्यक्ति की तृषा शांत करती है। कबीर तो बुद्धि पर आधृत रहस्यवाद का जनोपयोगी अनुकरण करनेवाले समाजसुधारक थे। भारतीय साधना परम्परा में लोकोपयोग मात्र की क्षमता नहीं, लोकनिर्माण की अदम्य भावना भी होती है; जो केवल बुद्धि मात्र पर आधृत नहीं रह सकती, वह तो हृदय की अनुभूतियों से युक्त योग है। वह उपयोग के साथ ही साथ नव-निर्माण के मन्त्र का बीजारोपण, एवं पल्लवन भी करता है। मैं निरालाजी के इधर के गीतों को तुलसी की साधना परम्परा के विकास-कड़ी में रखना अधिक समीचीन मानता हूँ।

यद्यपि कविवर प्रसाद जी महाकवि तुलसीदास को आदर्श, विवेक और अधिकारी भेद का कवि मानते हैं, पर अनेक अर्थों में भारतीय संस्कृति के स महान अध्येता के विचारों से यहाँ अपने को सहमत नहीं कर पा रहा हूँ। 'विनय पत्रिका' तुलसीदास के हृदय-साधना का वह प्रबल प्रतीक है, जिसके स्वर-सा हृदयग्राही स्वर आज तक हिन्दी

क्या अन्य भाषाओं में भी मिलना दुर्लभ है। कहना न होगा कि 'विनय-पत्रिका' उनके आत्म-साधना की जाज्वल्यमान मूर्त्त वाणी है। निराला जी को जो लोग जानते हैं, या जिन्होंने उनकी रचनायें पढ़ी हैं वे निश्चय ही यह मानेंगे कि वे तुलसी के महान प्रेमी हैं। स्वर्गीय मनोहरा देवी जो कवि की धर्मपत्नी थीं तथा जिसके प्रभाव के कारण आप हिन्दी की ओर बढ़े, वे रामायण की कितनी प्रेमी थीं, किसी से छिपा नहीं है। खड़ी बोली में रामायण के अनुवाद की बात भी नहीं छिपी है। 'तुलसीदास' के सम्बन्ध में पूर्व ही निवेदन किया जा चुका है। अतएव उनके हृदय की साधना को मैं तुलसी की परम्परा में रखना अधिक उचित समझता हूँ। इस सम्बन्ध में एक बात और कह देने की यह है कि तुलसी ने मर्यादा की अपनी सीमा बना ली थी, वह सीमा उन तत्वों का कभी भी स्पर्श नहीं कर पायी जो हृदय में रूप-सौन्दर्य-रंजन पक्ष का रागात्मक प्रतिनिधित्व करते हैं। वह तो सूर और मीराँ की सम्पत्ति है। सूर और मीरां का यह रंजन गुण भी निराला की काव्य सीमा में जीवन के साथ ही घुल-मिल गया है।

मेरे कहने का यह अर्थ नहीं है कि यह प्रभाव उनके काव्य को लेकर है अपितु सहज ही जीवन के विकास के अंग के रूप में उन्होंने इसे ग्रहण कर लिया है। यह उनका अपना, अपने जीवन का प्रभाव है। मूलत तो वे पुर्वोक्त परम्परा में रखे जा सकते हैं। उनका जीवन भी तुलसी के जीवन के अधिक निकट है। तुलसी के पैरों में बेवाय फटी थी। उन्हें दाने-दाने को लललाना और बिलबिलाना पड़ा था। समाज के महान तथा कथित पण्डितों और आचार्यों का कोप-भाजन बनना पड़ा था। प्रिया का स्नेह भी वे न प्राप्त कर सके। उनके साथ ऐसा भी व्यवहार किया गया था जो अनेक अर्थों में मानवोचित नहीं कहा जा सकता। पर वे अपने रास्ते पर अडिग अटूट निष्ठा के साथ साधना-सम्पन्न वातावरण की सृष्टि आत्म और जग कल्याण के निमित्त करते रहे। निराला का जीवन भी कम विपन्न नहीं रहा है। जितना प्रबल प्रहार निराला के जीवन पर, कृतित्व पर तथा पौरुष पर हुआ और जो कुछ भी उनके ऊपर बीता--अपने गुणों के कारण, वह छिपी बात नहीं है। निरन्तर पौरुष की आभा से उन्होंने उन परिस्थितियों का सामना भी किया। और जिस ध्येय को लेकर वे चले उसके लिये आज तक सतत तपस्या कर रहे हैं। यद्यपि इन चोटों ने उनकी भौतिक शक्ति को निर्बल बना दिया, तो भी अभी-अभी उन्होंने १४ नवम्बर ५४ को हिन्दी-दिवस पर जो घोषणा की, वह अत्यन्त प्राणवान आत्मा की वाणी ही हो सकती है। जिन आदर्शों की स्थापना के लिये उनका जीवन है, उन आदर्शों की दीप-शिखा प्रज्ज्वलित करने में आज का भी उनका जीवन व्यतीत हो रहा है। आज भी उन्हे जिस बात से सुख शांति और संतोष मिलता है, वह उनके शब्दों में इस प्रकार है।

"मैं अब वृद्ध तथा कमजोर हो गया हूँ। सभी प्रकार की मानव व्याधियों ने मुझे घेर लिया है। किन्तु आप लोगों को मेरे स्वास्थ्य की चिन्ता न करनी चाहिये। यदि आप लोगों को मेरी सेवाओं के प्रति कुछ भी प्रेम और सम्मान हो, तो मेरी प्रार्थना है कि राष्ट्र-भाषा की पताका को ऊँची करें। हिन्दी की सेवा का व्रत लीजिये और स्वयं

साहित्योत्पादन में सहायता दीजिये । संस्कृत तथा अन्य राज्य भाषाओं का अध्ययन करिये और उनका सम्मान करिये । इससे मुझे शान्ति और सुख मिलेगा ।"

यह ऐसे व्यक्ति की वाणी है, जो सुख के ढूंढ़ने की कभी परवाह नहीं करता, आज की भी परिस्थिति में भी, उनका उन्नत माथ विनत उसी के सम्मुख हो सकता है, जो शरण दोषरण है । यह बात उस साधना परम्परा की आख्यायिका है जो भारत की सांस्कृतिक उत्सर्ग की दीप्ति है । मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ कि निराला जी जिस सांस्कृतिक भाव चेतना के अग्रदूत हैं, जिस काव्य की मूल वत्ति के वे अभिसिंचक हैं, उसी रचना प्रणाली के अन्तर्गत ही 'गीत-गुंज' भी रखा जा सकता है ।

आज निराला जी के सम्बन्ध में अनेक ऐसी बातें उड़ाई जा रही हैं, जो मूलतं राग-विराग से भरी हुई लोगों के षड़यन्त्र की खोज का आणविक शस्त्र हैं, पर निराला जीवन से भगनेवाले नहीं, उसके बीच रहकर जीवन का दर्शन करनेवाले सदैव रहे हैं और इस रचना में भी उसी रूप में वे सर्वथा वर्त्तमान हैं । आज के मानव की क्या स्थिति है, वह किस रूप में हैं उसकी क्या दशा है, यह जिन्होंने देखा है वह निश्चय ही निराला जी के इन विचारों से अपने को सर्वथा सहमत पायंगे कि मानव आज पशु समझा जा रहा है । पशु के समान उसका तन और मन समझा जा रहा है । वह बैल और घोड़ा हो गया है । उनकी रचनाएँ इसका साक्षी है ।

ऐसे जीवन के जागरूक भावनाओं से आप्लावित रचनाएँ वैसे ही कर सकते हैं, जो हृदय के छंदों में ही बँधकर गीत गाते हैं । कहना न होगा कि निराला जी ऐसे व्यक्ति हैं कि यदि उनके हृदय से छन्द न फूटे तो वे एक गीत भी गाने वाले नहीं । यह काव्य साधना की वह मान्यता है जिस मान्यता पर अवस्थित होकर अनुभूति स्वयं वाणी बन मुखर हो उठती है । यह मुखर वाणी सदैव से निराला जी के अन्तस्तल से स्रोतवती होकर फूटी है । निराला के इस काव्य में भी उनकी वह साधना आस्थापूर्वक अभिव्यक्ति हुई है, यह हिन्दी काव्य के लिये गौरव की बात है । आज क्या, छायावाद और कहना न होगा कि द्विवेदी जी के युग में भी अनेक पिटे-पिटाये लोगों ने बुद्धि और विवेक द्वारा यंत्रवत कविताओं का उत्पादन किया, हृदय के उमंग से निकली काव्य की वास्तविक धारा से सिकताभूमि को पुष्पों के सौरभ से सुरभित करने वाले कुछ एक लोगों में निराला जी भी आगे आये । उनके हृदय की वह साधना आज भी जाग्रत और जीवित है जब कि उनके समय के अनेक महाकवि आज छन्दों में तुक गढ़ने में ही अपने विकास की चरम परिणति पा, खो गये हैं । उनकी कवि-काया स्वर्गीय हो उठी है । ऐसी स्थिति में भी हृदय की वाणी को सब कुछ मानना उस व्यक्ति का ही कार्य हो सकता है जो जीवन की स्वर लहरियों में हृदय की अनुभूतियों का द्रष्टा रहा हो । आज भी निराला जी वैसे ही हैं यह अनायास ही इधर के गीतों के गुंजार से जाना जा सकता है ।

ऐसा लिखने का अर्थ यह न लगाया जाय कि निराला जी के पास केवल हृदय ही है, बुद्धि और विवेक भी है । किन्तु हृदय से तो वह वाणी निकलती है जो विवेक के फिल्टर पेपर से छनकर हृदय म पहुँच स्थायी रूप म प्रवाहित हो उठती है । यह प्रबुद्धता विवेक-

जन्य स्थायी ज्ञान की अनुभवशीलता में है । विवेक द्वारा प्राप्त प्रभाव हृदय के अन्तस्तल में जब स्थान पा लेता है और उसकी सत्यता हृदय-सम्मत हो जाती है, अनुभव के बल पर, तब कहीं जा कर वह हृदय की वाणी के रूप म फूटता है । हृदय की वाणी विवेक की वह सीमा है जिसके आगे विवेक नहीं पहुँचता यदि हृदय की वाणी हृदय से ही निकली हो, हृदय के बहाने कहीं अन्यत्र से नहीं । इस अर्थ में निराला की समस्त वाणी जो इन गीतों में संरक्षित है वह उनके हृदय का स्वर है । उन भावों का उन्होंने साक्षात्कार किया है । वे भजन के साथ ही भोजन चीखने वाले व्यक्ति हैं । केवल गुण गाने वाले नहीं, अनुभव करनेवाले भी । वे उसे बल से प्राप्त नहीं करना चाहते अपितु स्नेह से देखना चाहते हैं । स्नेह की विजय शक्ति की विजय से कहीं महान हुआ करती है । इसका सर्वोत्तम उदाहरण तुलसीदास और अकबर हैं । तुलसीदास ने स्नेह के बल पर लोगों का मन जीता था और अकबर ने शक्ति के बल पर अपने प्रतिष्ठा की धाक जमायी थी । तुलसी आज कंठ-कंठ पर प्रतिष्ठित हैं और अकबर केवल पोथियों में । जहाँ उत्सर्ग नहीं होता, वहाँ स्नेह नहीं हो सकता । निश्चय ही उत्सर्ग के पीछे जो प्रेरणा होती है वह संकल्पात्मक जिज्ञासा-वृत्तियों का उन्नयन, प्रवर्द्धन और विकास करती है । यह जिज्ञासा पूर्ण संकल्पात्मक स्नेह इधर के गीतों में व्यक्त हैं ।

ऐसी सहज संकल्पात्मक स्नेहजन्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति वही कर सकते हैं, जो सीधी राह चलने वाले होते हैं । टालमटोल और घुमाव फिराव से साधना को चिढ़ है, वह तो बुद्धि का धर्म है । मन का प्रदेश है । सच्चे साधक बिना किसी की परवाह किये उन रास्तों पर चलते हैं जो सहज होते हैं । जिनके जीवन के रास्ते सहज नहीं होते, वे हृदय के तत्वों का साक्षात्कार ही नहीं कर सकते ।

यद्यपि बराबर ऐसा कहा जाता रहा है कि निराला जी का काव्य-पथ सहज नहीं है । उनके भाव के मूल तक पहुँचने में लोगों को कठिनाई भी होती है । किन्तु आज की ये रचनायें उनके लिये भी एक उत्तर है । किन्तु जहाँ दुराग्रह विवेक के आसन पर शासन करने लगता है, वहाँ से जो स्वर निकलता है या जो मान्यताएँ स्थापित की जाती हैं, वे सीधे देखने की आदी ही नहीं होतीं । वे तो सुन सुना कर एवं मान कर चलती हैं । उनकी स्थिति पाईप में बँधे जल-प्रवाह की है, नदी की नैसर्गिक धारा की भांति उनमें मौलिक प्रवाह नहीं । धारा का यह प्रवाह नित-नूतन होता है । नये छबि का उन्मेषकर्ता होता है ।

हो सकता है कि कुछ लोगों को धारा की लहरें वक्र लगें । उसमें उन्हें सीधा सौन्दर्य न दिखाई पड़े किन्तु यह भी निश्चय है कि ऐसी आँखें उन्हीं की हो सकती हैं, जिन्हें यन्त्र की आँख मिली हो । प्रवाह में भी एक सहज सरल और स्पष्ट सीधापन है । ऐसा ही रास्ता निराला जी का है, जिसपर उनका जीवन फला और फूला है । इस सीधी राह पर चलने से उत्पात और घात के फफोले बुलबुले के समान स्वयं गल जाते हैं । निराला जी इसी सीधी राह पर अब भी हैं ।

ऐसी सीधी राह पर चलने वाले राह में ही विलीन नहीं हो जाते हैं । अपितु उनकी गति से राह गुंजरित हो उनके लय में लीन हो जाता है । उनका उद्देश्य तो और ही है ।

पर इस सीधी राह पर वे आँख मूंद कर भी नहीं चलते । वह देख कर चलते रहते हैं । रास्ते के दृश्यों से वे अपनी साधना को संवलित बनाते हैं और उसके सहज प्रभावों को लय से मूर्त करते रहते हैं । निराला जी को इस अर्थ में जितनी व्यापक दृष्टि मिली उतनी शायद ही किसी आधुनिक कवि को मिली हो । उन्होंने केवल नये-नये प्रयोग ही नहीं किये, केवल जनता में प्रचलित छन्दों का ही साहित्य में स्फुरण नहीं किया, केवल साहित्य की लहरी में व्यंग द्वारा युग की पीड़ा ही अभिव्यक्त नहीं की, केवल एक महान भारतीय की भाँति शक्ति की साधना ही नहीं की अपितु प्रकृति के चित्रों को वाणी भी दी । उन्हें राग रागिनियों में बाँध कर इस प्रकार सजीव कर दिया कि वे युग-युग के लिये अमर हो उठे । ऐसे चित्रों के लिये हृदय जितना ही संवेदन शील होता है व्यक्ति उन चित्रों के अन्तस्तल को उतनी ही सजीवता पूर्वक अभिव्यक्त कर पाता है । 'जूही की कली' जिसे देखकर कवि की वाणी स्पंदित हुई वह हिन्दी का चिरंतन सत्य बन गयी । किन्तु उस सत्य के पीछे जो साधनामयी दृष्टि थी, वह निराला जी की थी और वही इधर के गीतों की लहरों पर अब भी थिरक रही हैं । कहीं-कहीं तो रहस्यात्मक सत्यों का उद्घाटन विराट सत्य की वाणी में अभिव्यक्ति के द्वार से साकार हो प्राणवान हो उठा है या सहज रूप में और कहीं पूजा के दान के रूप में महकती गलियों में उसी विराट शिल्पी के मोहक सौन्दर्य का रंग अभिव्यक्ति के रूप में सर्वत्र प्रस्फुटित हो उठा है ।

ऐसे अनेक गीतों में विराट सत्य का दर्शन भी कवि ने कराया है, जो लोक जीवन के उन चित्रों का जहाँ केवल सावन का पावन गात ही प्राण नहीं है अपितु हरी ज्वार की परियाँ 'अरहर' फैली उड़द मूंग के पात का भी रूप खड़ा करने में सफल हैं । यह दृष्टि अनेक पदों में दिखाई पड़ती है । कवि इन विराट सत्यों में जग के मनोहर चित्रों को भूला नहीं है । उसकी आराधना के गीतों की गुंजार जग के बीच हुई है, जहाँ पर हरियाली है । ग्राम-वधू के सुख हैं और जहाँ वारिद वन्दन की परम्परा सनातन हैं । बादल को आमंत्रित करना कभी वह भूला नहीं है । वह उसे सहज ही आमंत्रण देता है, पूर्ववत् ।

यद्यपि वारिद के आने पर पहिले जैसा आह्लाद कवि को नहीं होता जैसी सरसता हरियाली उसे पहले मिलती थी वैसा प्रभाव नहीं पड़ता । उसका भी हृदय तड़प उठता है क्योंकि अब बूंदें छन-छन सी उसे लगती हैं ।

ये बूंदें छन छन सी हैं इसलिए मदन का हिलोर अब कवि के सहन सीमा के परे हो उठा है । वह स्वयं उससे आग्रह करता है— कि वह झूम झूम तन को हिलोर न दे ।

जीवन की साधना के विविध चित्रों का यह अलबम निराला के स्वर की गम्भीर वाणी है । इस वाणी में दुरुहता नहीं सहजता है । निराला जी के पहले के गीतों से इधर के गीत इस माने में भिन्न हैं कि भावों के पीछे, अपने पौरुष के कारण कल्पना की तितिलियों को खुलकर खेलने का अवसर नहीं दिया गया है । ये तो सीधे साधे सरल उद्गार हैं

और कवि के उन गीतों की चैतन्य वाणी हैं जो नवगति, नवलय, ताल छंदनव, नवल-कंठ, जलध मंद्र रव, नव नभ के नवविहग वृंद के स्वर से साकार कभी फूटे थे। यद्यपि भाव अनेक स्थलों पर गम्भीर हो गये हैं जिससे अनेक लोगों ये गीत भी ठूठे लगेंगे किन्तु सत्य यह है कि ये ठूठे कहने वाले ऐसे अनेक लोगों ने गीतिका, अर्चना और आराधना के दर्शन भी संभवतः नहीं किए। किसी की बात पढ़कर अपने शब्दों में उसे रख दिया है, यह तो आज के बड़े लोगों का काम है। किन्तु जो लोग पढ़कर निराला के गीतों को ठूठ समझते हैं, उन्हें मैं इधर गीतों की गूँज में रसगुंजित होने के लिए सादर आमंत्रित करता हूँ क्योंकि लिखी बात का वजन मैं जानता हूँ। हाँ, उन लोगों से भी यह कह देना चाहता हूँ जो भारतीय संस्कृति और साधना के पुजारी, बँगला के आधुनिक कुछ कवियों की एवं अंग्रेजी के कुछ कवियों की रचनाएँ पढ़ या देखकर हो गये हैं उनसे भी मैं सादर निवेदन करूँगा कि निराला को समझने के लिए भारतीय साहित्य परम्परा का वे कृपा कर अनुशीलन करें। यद्यपि कभी भी मेरा यह दावा नहीं रहा है कि मैं पंडित हूँ, साहित्य का मर्मज्ञ हूँ, किन्तु जो कुछ भी मेरा ज्ञान है, उसके बल पर निश्चय ही यह कह सकता हूँ कि निराला के इधर के गीत भारत के साधकों की परम्परा की विकास की वह शक्ति हैं जहाँ पर प्रकाश अपने को आहुत कर औरों को ज्योति दान करता है। आत्म-साधना की विशाल भारतीय भाव भित्ति नये रूप में युग के अनुरूप इन गीतों में मूर्त्त है। इनकी साधना की गूँज काल और सीमा को पीछे छोड़ चुकी है, इसमें भी मुझे संदेह नहीं।

वे कर्म प्रधान भावनाओं पर आधृत सामाजिक मर्मों को उद्घाटित करनेवाले प्रमुख कथाकार हैं। उनकी गद्य-शैली अपनी है। संकेतात्मक उन्होंने आलोचनाएँ, तथा गंभीर लेखों का प्रणयन भी किया है। १९२३–२४ में ही 'रवीन्द्र' को उन्होंने समझा और समझाया है। वे सफल संस्मरण लेखक भी हैं। उन्होंने अनुवाद भी किया है। उनकी प्रमुख गद्य रचनाओं के नाम है : निरुपमा, प्रभावती, अलका, अप्सरा, कुल्ली भाट, कालाबाजार, बिल्लेपुर बकरिहा, प्रबंध-प्रतिभा, रवीन्द्र कविता कानन।

पं० सुमित्रानन्द पंत

(जन्म सं० १९५८ ई०)

छायावाद के वृहद्-त्रयी में पंत जी का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। अल्मोड़ा के कौसानी नामक ग्राम में आप उत्पन्न हुए। काशी तथा प्रयाग में आपको शिक्षा मिली। कौसानी की सुषमा ने उन्हें वाणी दी। प्रकृति के साहचर्य्य ने वाणी को झंकार दिया; और वह गीत बनकर गूंज उठी।

पंत जी का काव्य के क्षेत्र में जिस समय पदार्पण हुआ, उस समय की खड़ी बोली की कविता की डाली काँटों की भाँति कर्कश थी, उसी काव्य डाली में पंत की कविता सुकुमार कलिका की भाँति पराग भरी फूटी। हिन्दी-काव्य-रसिकों का ध्यान पंत जी की ओर आकृष्ट हुआ। पंत जी का विश्वास है कि––

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान !
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान !

इतना तो ज्ञात है कि पंत जी चिरकुमार हैं पर यह नहीं मालूम कि योगी होने के पहिले ही वे वियोगी हो गए या योगी होकर वियोगी हुए, सा ही यह भी सत्य है कि उनकी कविता उमड़कर चुपचाप बही।

प्रकृति के प्राङ्गण में उन्होंने खुलकर भोली आँखों से उसकी सुषमा का रस पान किया, वहीं प्रकृति के सौन्दर्य-रहस्य के प्रति उनकी सहज जिज्ञासा जागी––

"उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही माँ !
ऊषा की मृदु लाली में !

साथ ही वहीं मधुप कुमारी से अनुनय भी करते हैं––

सिखा दो ना हे मधुप-कुमारि
मुझे भी अपने मीठे गान।

उन्होंने सीखकर मीठे गान गाये। प्रारंभिक रचनाओं में न केवल उन्होंने प्रकृति का नख-शिख चित्रण किया, अपितु सरल शिशु-हृदय की भाँति उनके भीतर उसके अज्ञात सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा की भावना भी जागी। इस जिज्ञासा ने पंत के काव्य में सौन्दर्य-रहस्य की अभिव्यक्ति दी। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में प्रकृति का प्रेम चित्रमय होकर उपस्थित हुआ है। प्रकृति के नखशिख चितेरे के रूप में भावुकता भरे सहज हृदय के इनके उछ्वास मन को आकृष्ट करने में सफल हुए हैं। उन प्रारम्भिक रचनाओं में लौकिक, अलौकिक और प्रकृति-निरीक्षण, सभी दृष्टियों से कवि ने काम लिया है। यथा–

छाया

कहो कौन हो दमयंती-सी तुम तरु के नीचे सोई !
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई ?
पीले पत्तों की शैय्या पर तुम विरक्ति-सी मूर्छा-सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो विरह-मलिन दुख-विधुरासी ?
पछतावे की परछाईं-सी तुम भू पर छाई हो कौन ?
दुर्वलता, अंगड़ाई ऐसी अपराधी-सी, भय से मौन ?
निर्जनता के मानस-पट पर बार बार भर ठंडी साँस,
क्या तुम छिप कर क्रूर काल का लिखती हो अकरुण इतिहास ?
निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर नीरव शब्दों में निर्झर
किस अतीत का करुण चित्र तुम खींच रही हो कोमलतर
दिनकर कुल में दिव्य जन्म पा, वढ़कर नित तरुवर के संग,
मुरझे पत्तों की साड़ी से ढककर अपने कोमल अंग,
हां सखि ! आओ बांह खोल हम लगकर गले जुड़ा लें प्रान,
फिर तुम तम में, वे प्रियतम में हों जायें द्रुत अर्न्तध्यान ।

भावुकता सर्वत्र झलकती है । ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, समय के साथ इनम बौद्धिक चेतना बढ़ती गई । पल्लव में ही उसके बीज का साक्षात्कार होता है। परिवर्तन शीर्षक कविता जहाँ एक ओर इनकी ध्वनि-शक्ति का परिचय देती है वहीं दूसरी ओर वह बौद्धिक परिवर्तन के धरातल का भी संकेत देती है । इस परिवर्तन में दिया गया यह संकेत दिनोत्तर उनके काव्य में विकसित होता गया । उनकी कृतियों पर जहाँ तक भावना का प्रश्न है और कहीं-कहीं शब्दचयन का भी प्रश्न है, बंगला का प्रभाव दीखता है तथा अंग्रेजी कविता से भी वे प्रभावित दीखते हैं । पल्लव के पूर्व की रचना उनके उल्लास, आशा, वेदना, स्मृति, प्रकृति-प्रेम तथा असफल प्रेम की भाव-भंगिमा अपने भीतर छिपाये हुए हैं । पंत जी का पल्लव उन्हें हिन्दी काव्य-क्षेत्र में प्रौढ़ भित्ति पर रखता है । इस पल्लव में वे सभी चीजें मिल जायेंगी जिनका पल्लवन पंत जी में वरावर होता रहा है । चमत्कार और वक्रता की प्रवृत्ति शब्दों में माधुर्य लाने के लिए तोड़-मरोड़, अंग्रेजी कविता से लिये हुए उधार भाव, अंग्रेजी के अधकचरे लाक्षणिक प्रयोग भी दिखाई पड़ेंगे । इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी पल्लव की रचना अच्छी नहीं है । कहीं-कहीं पर प्रकृति को आवलम्बन बनाकर रूपक और उपमा के सहारे सूक्ष्म मार्मिक कार्य-व्यापारों का बड़ी ही तन्मयता तथा सुन्दरतापूर्वक सजीव चित्रण भी किया है । इस संग्रह में अनेक रचनायें प्रथम कोटि की हैं । आध्यात्मिक रहस्य चेतना की झलक भी इसके भीतर दीख पड़ेगी । प्रियतम की छाया समझकर विश्व को प्रेम करने के लिये ललक का वीज भी दीख पड़ेगा । रहस्यवाद कही जानेवाली रचनायें भी स्वाभाविक ढंग से इसमें हैं, यथा स्वप्न और निमंत्रण । छायावाद में जितने भी कवि

हुए प्राकृति के प्रति जितना सुन्दर सहज प्रेम इन्होंने व्यक्त किया उतना अन्य कोई न कर सका। चित्रमयी भाषा इस भावभंगिमा में प्राण डाल देती हैं और इसी में संग्रहीत उनकी परिवर्तन शीर्षक कविता जीवन के चिंतन का संकेत भर ही नहीं देती, अपितु उनकी भावी काव्य-प्रतिष्ठा का संकेत भी देती है।

'गुंजन' में जहाँ पल्लव के भाव-बीजों का संतुलित विकास दीख पड़ता है, वहीं बौद्धिक प्रभाव भी बढ़ता दीख पड़ता है। युगांत में कवि जीवन के वास्तविक प्रवेश-द्वार में प्रविष्ट करने का प्रयत्न करता है। कवि ताजमहल की सुन्दरता को देखकर ऐसी कल्पना कर उठता है जो विशुद्ध बौद्धिक प्रतिक्रिया मात्र है।

"शव को दें हम रूप-रंग, आदर मानव का,
मानव को हम कुत्सित चित्र बनावें शव का।"

शुक्ल जी ने लिखा है कि "युगांत में आकर वह सौंदर्य और आनन्द का जगत में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है।" यह बात दर्शन तक ही सीमित है। चेतना-सम्पन्न प्राण-तत्व की अभिव्यक्ति रचना में नहीं। यह भी कहा जा सकता है कि पंत ने कवि के रूप में अनधिकार चेष्टा यहीं से आरंभ की। अनुभूतियाँ जो पंत के अनुरूप थीं, उन्हें बौद्धिक मशीन में ढाल कर नया रूप देना काव्य के साथ अन्याय करना ही है। 'युगवाणी' का कवि पंत तो राजनैतिक भावधारा में स्पष्ट बहता दीखेगा। युग में व्याप्त विभिन्न विचारधाराओं में वह बह गया है आशक्त व्यक्ति की भाँति, कभी इधर, कभी उधर।

ग्राम्या में पंत जी ने ग्रामीण जीवन के सरस सुन्दर चित्र खींचे हैं। ध्वनिमय काव्य-शैली वहाँ भी मुखर हो उठी है। जहाँ सिद्धान्तों के विवेचन के चक्कर में वे पड़े हैं, वहाँ उनकी बौद्धिकता पुनः जाग उठी है।

इसके बाद पंत जी के काव्य में नया मोड़ दीख पड़ता है। अरविन्द दर्शन की बौद्धिक चिन्तनशीलता ही अधिक दीख पड़ेगी। स्वर्ण-किरण, स्वर्ण-धूलि आदि इधर की रचनाओं में उसका प्रभाव स्पष्ट ही देखा जा सकता है। समसामयिक राजनैतिक एवं सामाजिक विषयों पर भी इधर उनकी रचनाएँ बराबर निकलती रही हैं; वे जबरदस्ती लिखी गयी अनगढ़-सी मालूम पड़ती हैं। ऐसी रचना साहित्य का श्रृंगार नहीं बन सकतीं। उन्होंने गीति-नाट्य, कहानियाँ तथा निबंध भी लिखे हैं जो सामान्यतः अच्छे हैं। जो कुछ भी हो, पंत जी ने खड़ी बोली को माधुर्य प्रदान किया है, भले ही वह शब्दों को तोड़-मरोड़ कर किया गया हो, पुलिंग को स्त्रीलिंग मान कर किया गया हो। इस सम्बन्ध में ही नहीं, छायावाद के काव्य-प्रतिष्ठापन के क्षत्र में भी उनकी मान्यता ऐतिहासिक महत्व की है।

इधर पंतजी की अनेक रचनाएं प्रकाशित हुई हैं जिनके संबंध म डा० राम बिलास शर्मा का मत है कि—

"दूसरे महायुद्ध के पहले जब कांग्रेसी मन्त्रिमण्ल बने थे, तब से 'उत्तरा' के लिखने तक जनता की चेतना और उसके साथ हिन्दी जनता की चेतना में काफी परिवर्तन हो गया है। अन्तचेनावादी पन्तजी से सामाजिक चेतना के ये परिवर्तन छिपे नहीं हैं। लेकिन वे इस नयी सामाजिक चेतना से सहानुमति नहीं रखते, न बौद्धिक न हार्दिक।

वह अपने पुराने समन्यवाद को नया जामा पहना कर फिर हिन्दी पाठकों से कहते हैं, मैं प्रतिगामी नहीं हूँ। लेकिन मार्क्सवाद का कौन-सा विरोधी अपने को प्रतिगामी मानता है? उसका व्यवहार उसकी प्रतिगामिता प्रकट कर देता है। पन्तजी यदि अपने अन्त-चेतनावाद से लोगों को बहकाना चाहते हैं, तो कुछ दिन कोशिश करके और देखें।

—:o:—

महादेवी वर्मा

(जन्म सं० १९६४)

फर्रुखाबाद में आप उत्पन्न हुईं। प्रयाग महिला विद्यापीठ मे आचार्या हैं तथा छायावादी काव्य-शिल्प के विकास की अंतिम कड़ी हैं। महादेवी जी का आगमन हिन्दी काव्य-क्षेत्र में उस समय हुआ जब छायावाद अपनी किशोरावस्था में था। छायावाद के संस्थापक कवि प्रसाद, निराला और पंत की रचनाएँ तब तक लोगों के सामने आ चुकी थीं, जीवन की अन्तर्वृत्तियों के उद्‌घाटन में यह वृहदत्रयी संलग्न थी, महादेवी के काव्य ने उसमें विशेष प्रकार का योग-दान किया।

प्रारंभ में महादेवी जी ने सामाजिक तथा राष्ट्रीय ढंग के गीत लिखे, पर वास्तव में वह उनका क्षेत्र न था, तत्कालीन द्विवेदी-काव्य-धारा का प्रभाव मात्र था। उनकी मौलिक प्रतिभा का दर्शन उनके छाया-रहस्यमय गीतों में हुआ।

छायावादी रचना-विधान के अन्तर्गत प्रकृति के सहारे मन के भाव व्यक्त किये जा रहे थे। महादेवी को प्रकृति के प्रांगण में प्रतिबिम्बित चिरन्तन सौंदर्य का बौद्धिक आभास लगा और उसकी छाया सर्वत्र उन्हें दीख पड़ी। उस सौन्दर्य के अदृश्य देवता से मिलन उन्हें जीवन का चरम साध्य लगा। महादेवी जी ने उससे विलगाव का अनुभव किया। जीवन की विरह-बेला में महामिलन के लिए व्याकुल महादेवी जी का हृदय फूट पड़ा। बेबस हो करुणा के अदृश्य देवता से मिलने के लिए विरह के उद्‌गार महादेवी जी के व्यक्त हुए।

सुख लोगों को उच्छृङ्खल बना देता है तथा दुख और करुणा लोगों को एक सूत्र में बांध सकती है—यह भावना महादेवी के गीतों का आधार रही है। इस भावना के बीच महादेवी के गीत रचे गये हैं। करुणा-प्रधान बौद्ध-दर्शन से महादेवी जी प्रभावित रही हैं बौद्ध-दर्शन उनका प्रिय विषय रहा है। उसका प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक ही है क्योंकि उनका जीवन दार्शनिक अभिव्यक्ति के अधिक उपयुक्त लगता है।

उनकी यह दार्शनिक अभिव्यक्ति कल्पना के लोकमात्र तक ही सीमित समझना उनके काव्य के प्रति अधिक न्याय करना होगा। इस कल्पना-लोक को उन्होंने पीड़ा से संवारा है। इस सम्बन्ध में उनका स्वयं कहना है कि "दुख मेरे निकट जीवन का एक खुला काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बांध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूंद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनष्य

सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुःख में सबको बोर कर विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल-विन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।"

वेदना के प्रति महादेवी इतनी अधिक आसक्त हैं कि वही उनके समस्त काव्य के भीतर दीख पड़ेगी। अमरों का लोक तथा मिलन की कामनायें भी वेदना की प्रतीक्षा भरी घड़ियों के सामने उन्हें तुच्छ लगती हैं। कभी-कभी वे प्रिय के आने की कल्पना करती हैं किन्तु उनके प्रियतम का पदचाप उनके पलकों के स्वर से भी धीमीं है। अतएव निभृत निशीथ की सहज कल्पना उनके काव्य में मिलेगी। उनके भीतर वेदना की टीस भरी है जो काव्य में प्रकृति का आलंबन ले अभिव्यक्त की गई। नारी हृदय गीतों की रचना के लिए अधिक उपयुक्त है। करुणा, स्नेह, भावुकता और कोमलता भरे उच्छ्‌वास उनके लिए अधिक अनुकूल हैं। यह अनुकूलता उनके गीतों में गेयता, रागात्मकता भर देती है। संस्कृत की कोमल-कांत-पदावली की सरसता उनके गीतों में मिलेगी। कल्पनाओं और विचारों की शृंखला अनेक स्थानों पर अस्त-व्यस्त दीख पड़ेगी। जहाँ तक लोक-मंगल का प्रश्न है, गीतों में कल्याण की भावना कहाँ तक है यह तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन इनके गीतों को गुनगुनाने की इच्छा अवश्य करती है। यह कम सफलता की बात नहीं है। गीतों में रूप का आकर्षण अधिक है, आत्मा की पुकार का लगाव कम देख पड़ेगा। भावों की एकरूपता के कारण गीतों की परिधि व्यापक नहीं है।

कुछ लोग महादेवी जी को इस युग की मीरा मानते हैं, ऐसा करना दोनों के प्रति अन्याय है। मीरा मीरा हैं और महादेवी महादेवी हैं। कुछ पदों में भावों की एकरूपता के कारण दोनों की तुलना करना समीचीन नहीं।

महादेवी ने अपने भावों को व्यक्त करने के लिए भाव-चित्रों का भी निर्माण किया है। उनके संबंध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का अभिमत यहाँ दिया जा रहा है "वेदना से इन्होंने अपना स्वाभाविक प्रेम व्यक्त किया है, उसी के साथ वे रहना चाहती हैं। उसके आगे सुख को भी वे कुछ नहीं गिनतीं। वे कहती हैं कि "मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चूर हूँ।" इस वेदना को लेकर इन्होंने हृदय की ऐसी अनुभूतियाँ सामने रखीं हैं जो लोकोत्तर हैं। कहाँ तक वे वास्तविक अनुभूतियाँ हैं और कहाँ तक अनुभूतियों की रमणीय कल्पना है, यह नहीं कहा जा सकता।

एक पक्ष में अनन्त सुषमा, दूसरे पक्ष में अपार वेदना विश्व के दो छोर हैं, जिनके बीच उनकी अभिव्यक्ति होती है:—

यह दोनों दो छोरें थीं
संसृति के चित्रपटी की
उस बिन मेरा दुख सूना,
मुझ बिन वह सुषमा फीकी

पीड़ा का चसका इतना है कि—

तुमको पीड़ा में ढूंढ़ा।
तुममें ढूंढ़ गी पीड़ा।

इनकी रचनाएँ निम्नलिखित संग्रहों में निकली हैं "निहार, रश्मि, नीरजा, यामा श्रौर सांध्य-गीत।" श्रब इन सब का एक में बड़ा संग्रह 'दीप शिखा' के नाम से बड़े श्राकर्षक रूप में निकला है। गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवी जी को हुई वैसी श्रौर किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध श्रौर प्रांजल प्रवाह श्रौर कहीं मिलता है, न हृदय की ऐसी भावभंगी। जगह-जगह ऐसी ढली हुई श्रौर श्रनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।"

महादेवीजी ने सुन्दर गद्य भी लिखा है। उनकी गद्य की श्रपनी निजी, चित्रमय तर्क-प्रधान भावात्मक कोमल शैली है, जिसका दर्शन उनकी भूमिकाश्रों में भी मिलेगा। उन्होंने रेखा-चित्र भी लिखे हैं जो श्रतीत कीं स्मृतियाँ श्रौर शृंखला की कड़ियों में संगृहीत हैं। दोनों रचनाएँ श्रत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं।

रचना का उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है।

गीत

मैं पलकों में पाल रही हूँ रह सपना सुकुमार किसी का।
जाने क्यों कहता है कोई, मैं तम की उलझन में खोई,
धूम्रमयी वीथी में लुक छिप कर विद्युत-सी रोई।
मैं कण कण में ढाल रही, श्रलि, श्रांसू के मिस प्यार किसी का ?
रज में शूलों का मृदु चुंबन, नभ में मेघों का श्रामंत्रण,
श्राज प्रलय का सिंधु कर रहा मेरे कंपन का श्रभिनन्दन।
लाया झंझा-दूत सुरभिमय सांसों का उपहार किसी का।
पुतली ने श्राकाश चुराया, उर ने विद्युत-लोक छिपाया,
श्रंगराज सी है श्रंगों में सीमाहीन उसीकी छाया।
श्रपने तन भाता है, श्रलि, जाने क्यों शृंगार किसी का ?
मैं कैसे उलझूं ! इति-श्रथ में, गति मेरी है संसृति-पथ में,
वनता है इतिहास मिलन का प्यास भरे श्रभिसार श्रकथ में।
मेरे प्रति पग पर बसता जाता सूना संसार किसी का।

दिनकर

(जन्म संन् १९०८)

श्रापका जन्म मुंगेर जिला श्रन्तर्गत सिमरिया गाँव में हुश्रा था। श्रापने पटना विश्वविद्यालय से बी० ए० परीक्षा श्रानर्स के साथ पास की। श्राप विभिन्न सरकारी कार्यों के श्रतिरिक्त प्राध्यापक तक का कार्य जीवन में कर चुके हैं श्रौर सम्प्रति राज्य-परिषद के सदस्य हैं। १९२१ से ही राष्ट्रीय श्रान्दोलन के प्रति श्रापकी ममता थी तथा श्रापकी रचनाश्रों में सहज ही राष्ट्र-प्रेम की श्रभिव्यक्ति हुई। प्रारम्भ में इन्होंने कवित्त, सवैया

श्रौर समस्या पूर्तियां कीं किन्तु इनकी ख्याति हिन्दी-साहित्य में १९३५ के लगभग हुई। उनकी रचनाओं के नाम निम्नलिखित हैं :

बारदोली विजय : बारदोली सत्याग्रह पर गीत : १९२९ ई०, प्रणभंग : खंडकाव्य : १९३० ई०, रेणुका : काव्य-संग्रह : १९३५ ई०, हुंकार : का० सं० : १९३९ ई०, द्वंदंगीत : दार्शनिक रुबाइयाँ : १९४० ई०, रसवन्ती : का० सं० : १९४० ई०, कुरुक्षेत्र : सर्गबद्ध : काव्य : १९४६ ई०, मिट्टी की ओर : आलोचना : १९४६ ई०, सामधेनी : का० सं० १९४७ ई०, धूपछांह : बालोपयोगी काव्य सं० : १९४७ ई०, बापू : काव्य : १९४७ ई०, चित्तौर का साका : वर्णन : १९४९ ई०, श्रीकृष्ण अभिनन्दन ग्रंथ : संपादन : १९४९ ई०, श्री अनुग्रह अभिनन्दनग्रंथ संपादन : १९४९ ई०, मिर्च का मजा : बालोपयोगी काव्य : १९५१ ई०, धूप और धुआँ : का० सं० : १९५१ ई०, इतिहास के आंसू : का० सं० : १९५१ ई०, अर्धनारीश्वर : गद्य : १९५२ ई०, रश्मिरथी : सर्गबद्ध काव्य : १९५२ ई०।

रेणुका के प्रकाशन से दिनकर की प्रतिभा का परिचय हिन्दी-जगत् को लगा, यद्यपि राष्ट्रीय भावनाओं से सम्पन्न रचनायें दिनकर से बहुत पहिले से ही हिन्दी में लिखी जा रही थीं, फिर भी उस समय या तो प्रेम-प्रधान छायावादी रचनाओं का हिन्दी में प्राधान्य था या मनमौजी ढंग पर रचनायें लोग करते थे। तत्कालीन परिस्थितियों के बीच आवश्यकता इस बात की थी कि सरस काव्यात्मक ढंग पर उद्बोधन शक्ति उत्पन्न करने-वाले काव्य का प्रणयन हिन्दी में हो। दिनकर की इस रचना ने वांछित आवश्यकता की पूर्ति की ओर संकेत किया। रूढ़िग्रस्त छायावादी रचना के प्राधान्य के युग में समाज तथा युग में व्याप्त वैषम्य को चुनौती देनेवाली सरस रचनाओं के कारण दिनकर की ख्याति दिनोत्तर बढ़ने लगी। प्रकृति के प्रेम के साथ ही साथ अतीत के वैभव की स्मृति दिलाने वाली उनकी रचनायें हृदय में व्याप्त विक्षोभों को सर्जनात्मक कृतित्व की ओर मोड़ने में सहज उद्बोधनी शक्ति के रूप में सम्मुख आयीं। प्रसाद-गुण से सम्पन्न ओजभरी सरल भाषा, सहज कल्पना इनके गीतों की विशेषता है। इन गीतों में अंधकार के समय प्रकाश की कांतिमय किरणों का विलास है। इन्होंने जीत का संदेश दिया।

मंजिल दूर नहीं अपने दुख का बोझा ढोनेवाले ।
जागरूक की जय निश्चित है हार चुके सोनेवाले ।।

हुँकार तथा सामधेनी रेणुका के विकास की कहानी अपने भीतर समेटे हैं। रसवंती और द्वंद गीत में सरस रचनायें हैं। कवि की प्रौढ़ता का पूर्ण परिचय १९४६ में प्रकाशित 'कुरुक्षेत्र' नामक प्रबन्ध-काव्य से मिलता है। आधुनिक हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में यह सुन्दर है। विशिष्टता की दृष्टि से जहाँ तक विचारोत्तजना का प्रश्न है यह ग्रंथ ऐतिहासिक महत्व का है। यद्यपि महाभारत के आधार पर युद्ध की पृष्ठभूमि लेकर इस रचना का निर्माण हुआ है तो भी विचारों के क्षेत्र में लेखक की सहज स्वतंत्रता अभि-व्यक्त हुई है। प्रस्तुत पुस्तक में सामाजिक अन्याय के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष द्वारा युग के वैषम्य को मिटाकर नूतन समाज-रचना का संकेत है। यद्यपि कुरुक्षेत्र में लेखक की दृष्टि-

एकांकी है, उसने आज की भावभूमि ली है तो भी अनेक पहलुओं पर उसका ध्यान नहीं गया है। इस संबंध में पं० नंददुलारे वाजपेयी की यह राय अत्यन्त महत्व की है,

"अन्याय का अन्त युद्ध से, यही 'कुरुक्षेत्र' काव्य का मुख्य संदेश है। आज के सर्वसंहारक युद्ध में न्याय और अन्याय दोनों ही एक साथ स्वाहा हो सकते हैं और सारा संसार एक अखंड श्मशान में परिणत हो सकता है, इस पहलू पर लेखक की दृष्टि नहीं गई है। युद्ध में विजय ही न्याय और अन्याय निर्णेता है, दूसरी कोई मापरेखा इस विषय के निर्णय की नहीं रहती, यह समस्या भी विचारणीय है। आज की स्थिति में शक्तिशाली ही युद्ध का सहारा लेता है और अधिक शक्तिशाली बनने की आकांक्षा रखता है, यह भी एक अनुभव-सिद्ध तथ्य है। युद्ध से युद्ध का अन्त कभी नहीं होगा, युद्धसे न्याय की प्रतिष्ठा कभी न होगी, अयोग्य साधनों से योग्य साध्य का मिलना असंभव है, यह गांधीजी की सुप्रसिद्ध नीति भी 'कुरुक्षेत्र' में विचारार्थ नहीं आई है। कुरुक्षेत्रके कवि का मुख्य वक्तव्य यह है कि युद्ध अर्थात् हिंसात्मक युद्ध तब तक अनिवार्य है जब तक ससांर में सद्भावना शान्ति और समता की प्रतिष्ठा नहीं होती। अनिवार्य तो यह है ही, युद्ध आवश्यक भी है और बिना युद्ध के मनुष्य के गौरव और आत्मसंमान की सत्ता व्यक्त नहीं होती। दिनकर जी कहते हैं कि जब तक संसार में शान्ति और सद्भाव नहीं है तब तक युद्ध होंगे ही, होने ही चाहिए, पर दूसरी ओर प्रश्न यह भी है कि जब तक युद्ध होते रहेंगे तब तक सद्भावना और शान्ति का विकास होगा कैसे ? दिनकरजी कहते हैं, लड़ते जाओ जब तक समता नहीं, शान्ति न आये, पर प्रश्न यह है कि लड़ते रहने से शान्ति कैसे आयेगी और समता कैसे होगी ? कहीं तो हमें रुकना होगा और युद्ध तथा शान्ति के द्वंद का निपटारा करना होगा और कहीं भी तो यह कहना होगा कि अब युद्ध न होगा, अब शान्ति ही रहेगी।"

युद्ध के विभिन्न पहलुओं पर विचार कर कवि ने उसकी अपनी निजी व्याख्या वर्तमान सामाजिक पृष्ठभूमि पर की है। कहीं-कहीं महाभारत के वर्णित संवाद उसी रूप में रखने का प्रयत्न भी दिखाई पड़ता है। इस ग्रंथ में वह ज्ञानमयी पद्धति से संसार का द्वंद मिटने का स्वप्न न देखकर जगत् न छोड़ने की वात भी कहते हैं। मिट्टी के धर्म को उन्होंने महत्ता दी है। यद्यपि इस ग्रन्थ की चर्चा अनेक लोगों ने महाकाव्य के रूप में की है। पर काव्य की दृष्टि से इसे प्रबंध-काव्य के अन्तर्गत ही रखना अधिक उपादेय है। युद्ध के लिए विचारों के संघर्ष में बौद्धिक जगत में एकरूपता लाना न तो संभव है न स्तुत्य ही है। जीवन के वैषम्य को दूर करने का जो संदेश कुरुक्षेत्र में है वह निश्चय ही कविका वैयक्तिक चिन्तन मात्र है। विचारोत्तेजक ग्रंथों के भीतर उसकी गणना की जानी चाहिए। एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि इसे सर्वथा नवीन न मानना चाहिए क्योंकि नवीन और प्राचीन का समन्वय है। कुछ लोग इसे गांधी-दर्शन से प्रभावित रचना भी मानते हैं पर वस्तु स्थिति यह है कि गांधी-दर्शन इस रचना में नहीं है। लेखक ने धर्मराज युधिष्ठिर को जिस निष्क्रिय जीवन-हीन व्यक्ति के रूप में उपस्थित किया है, वह सूक्ष्म आत्म-शक्ति-प्रधान गांधी-दर्शन के सर्वथा प्रतिकूल है। फिर भी यह रचना साहित्यिक विकास की दृष्ट से दिनकर के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

इनकी दूसरी रचना प्रबन्ध काव्य के क्षेत्र में १९५२ में 'रश्मिरथी' आई। उस संबंध में लेखक का यह मत विचारणीय है:

"बात यह है कि कुरुक्षेत्र की रचना कर चुकने के बाद ही मुझमें यह भाव जगा कि मैं कोई ऐसा काव्य भी लिखूँ जिसमें केवल विचारोत्तेजकता ही नहीं, कुछ-कथा-संवाद और वर्णन का भी माहात्म्य हो। स्पष्ट ही, यह उस मोह का उद्गार था जो भीतर उस परम्परा के प्रति मौजूद रहा है जिसके सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त हैं।"

यदि लेखक की बात मान ली जाय तो यह इतिवृत्तात्मक शैली की रचना होनी चाहिए। पर इतिवृत्तात्मक के साथ विचारोत्तेजक, उपदेशात्मक तथा व्यास शैली पर लिखा गया सात सर्गों का यह प्रबन्ध-काव्य है। महाभारत के कर्ण इसके नायक हैं तथा कथा पूर्ण रूप से महाभारत से ली गई है। कर्ण के ऊपर लिखे गए काव्यों में इसे अभी तक सर्वोत्तम माना जा सकता है। यद्यपि जिन्होंने पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र की कर्ण पर लिखी अप्रकाशित रचना देखी है, उसके सामने दिनकर का यह काव्य जँचता नहीं। किन्तु जब तक उसका प्रकाशन नहीं हो जाता तब तक उसकी बात नहीं उठती। कर्ण को लेखक ने दलित मानव का आदर्श माना है।

मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग, किन्तु, पिता का नाम न बोल सकेंगे,
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा,
मन में लिए उमंग जिन्हें चिरकाल कलपना होगा।

इसमें जो चरित्र चित्रित किये गये हैं वे सबके सब सामान्य रूप से अच्छे बन पड़े हैं। मनुष्यता का नया नेता कर्ण हार कर भी अपनी सुबलिष्ठता तथा धर्म-सम्पन्न-तपस्या के कारण किसी भी बड़े ब्राह्मण से कम न था, यह बात लेखक ने अन्तिम सर्ग में कही है। इस पुस्तक का संदेश यह है कि व्यक्ति की मर्यादा उसके शील और शक्ति पर है न कि कुल और गोत्र पर। इस दृष्टि से इस पुस्तक में पददलित लोगों के लिए लेखक आशा का संदेश देता है। कर्ण का सब कुछ छल और प्रवन्चना से जीत कर भी धर्म राज युधिष्ठिर को भी कर्ण की साधना के कारण उसके सामने झुकना पड़ता है। यह बात गुणी कर्ण के समान लोगों को जीवन का दांव हारकर भी सत्यपथ पर चलने के लिए उद्बोधित करेगी और यही इस पुस्तक का संदेश भी है। यद्यपि पूर्णता की दृष्टि से प्रस्तुत कृति सामान्यत: अच्छी है किन्तु इस पुस्तक द्वारा काव्य के क्षेत्र में किसी ऐतिहासिक कृतित्व का संदेश नहीं मिलता जिसके कारण यह पुस्तक समय की सीमा के आगे जा सकें। भाषा में ही कहीं-कहीं तोड़-मरोड़ और छंदों में गति-भंग खटकनेवाली बात है। फिर भी मैथिलीशरणगुप्त से अलग इसका महत्व है; काव्य-तत्व एवं सरसता के कारण।

दिनकरजी ने आलोचनात्मक ढ़ंग के तथा आत्मव्यंजक निबंध भी लिखे हैं। उनमें अनेक प्रथम कोटि के हैं। इस दृष्टि से दिनकर आधुनिक हिन्दी के वर्तमान कवियों में मौलिक महत्व के हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा

जन्म सन् १८९०

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार श्री वृन्दावनलाल वर्मा का जन्म झाँसी जिले के मऊरानीपुर ग्राम में हुआ था। इनके परपितामह झाँसी राज्य के दीवान थे। वे १८५७ के स्वातंत्र्य आन्दोलन में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के साथ युद्ध में खेत रहे। आपने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की तथा झाँसी के प्रतिष्ठित वकीलों में से एक थे। १९४२ में वकालत छोड़ साहित्य रचना की ओर उन्मुख हुए, और स्वयं प्रकाशन व्यवसाय अपना लिया। सन् १९०५ में तथा ६ में क्रमश: एक उपन्यास और दो नाटकों की रचना की। १९०८ में उन्होंने बुद्ध भगवान की जीवनी लिखी। प्रारम्भ में उनकी रचनाएँ सरस्वती और सुधा में छपती थी और अब प्राय: सभी हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में। उनकी ख्याति हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों को लेकर है। उनकी रचनाओं के नाम हैं—

उपन्यास (ऐतिहासिक)—गढ़कुंडार, मृगनयनी, विराटा की पद्मिनी, झाँसी की रानी लक्ष्मीवाई, कचनार, मुसाहिबजू, छत्रसाल, सत्तर सौ बत्तीस, शाह गफूर, आनंदघन, ललितादित्य, राणा सांगा, माधव जी सिंधिया और टूटे कांटे।

सामाजिक : कुंडली चक्र, प्रत्यागत, हृदय की हिलोर, प्रेम की भेंट, कभी न कभी, लगन, अचल मेरा कोई और शबनम, सोना, अमरबेल।

नाटक (ऐतिहासिक)—फूलों की बोली, हंस मयूर, झाँसी की रानी और जहांदार शाह।

सामाजिक—धीरे-धीरे, राखी की लाज, बांस की फाँस, मंगलसखा, कब तक, पीले हाथ, सगुन, काश्मीर का कांटा, और टंटागु ।

एकांकी—नीलकंठ, लो भाई चो लो।

कहानियाँ—संग्रह : हरसिंगार, कलाकार का दंड, दबे पांव।

कोतवाल की करामात नामक उपन्यास वर्मा जी के नाम से प्रकाशित हुआ है पर वह उनका न होकर उनके किसी मित्र का लिखा हुआ है। वह ऐतिहासिक रोमांस के सफल उपन्यासकार हैं। यद्यपि उनकी भाव-भूमि में बुन्देलखंड मुखर हुआ है तो भी वह बुन्देलखंड साहित्य में अभिव्यक्त होकर स्थानीय न होकर सार्वभौम हो उठा है। उनके उपन्यासों में आचरण गर्भित महान् चरित्र मिलते हैं। इधर उपन्यासों में उनकी जिस कला का विकास हुआ है वह इतिहास और रोमांस का सम्मिलन है। वर्माजी के सर्वोत्तम उपन्यासों में मृग नयनी, तथा झाँसी की रानी लक्ष्मीवाई है। सामाजिक उपन्यासों में वर्मा जी सफल नहीं हुए हैं। नाटक भी उनके बहुत काम के नहीं। जहाँ तक भाषा, शैली का प्रश्न है वर्मा जी की भाषा में एकरूपता के दर्शन होते हैं। सरल सुबोध ढंग से अपनी वात वे कहते चले जाते हैं। बुन्देलखंडी का प्रभाव इनकी भाषा पर है। सभी स्थलों पर एक ही प्रकार की भाषा है। उनकी भाषा जाने माने लेखकों में अत्यन्त निर्दोष होती है। व्याकरण के सामान्य नियमों की अवहेलना यथा विभक्तियों, विराम चिह्नों तक का अव्यवस्थित प्रयोग और निरर्थक सर्वनामों का व्यापक उपयोग, वाक्यों की

अंग्रेजी बनावट, लिंग के अनिश्चित प्रयोग कथा के प्रवाह को रोकते हैं। भावात्मक वर्णनों में उन्हें सफलता मिली है किन्तु वर्णनात्मक प्रसंगों में उनकी भाषा खटकने वाली है। आचार्य चतुरसेन ने वर्मा जी के उपन्यासों पर लिखा है--"इन उपन्यासों में वर्मा जी का अध्ययन प्रकट है। उनका मानव कृति निरीक्षण तथा कल्पना मूर्ति को सर्वांग-पूर्ण बनाने का कौशल भी साधारण नहीं है। एक बात विचारणीय है कि इन उपन्यासों में वर्णित जाति गत भावना में लेखक की सहानुभूति उच्च जाति के पक्ष में है।" जो कुछ भी हो वृन्दाबन लाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों में हिन्दी में सर्वोत्तम माने जाते हैं। उनका जितना सम्मान उनके जीवन काल में हिन्दी में हुआ उतना किसी अन्य ऐतिहासिक उपन्यासकार का नहीं। उनके जैसी कथा कहने वाले वर्तमान हिन्दी में कम ही हैं।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र

जन्म सं० १९६०

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र का जन्म आजमगढ़ के छात्र परम्परा वाले सामंती ब्राह्मण कुल में हुआ था। मिश्र जी सच्चे अर्थ में ब्राह्मण हैं। उन्होंने संस्कृत वाङमय का अध्ययन कर वर्तमान जीवन को देखा है तथा भारतीय परम्परा से अपने मौलिक आदर्श स्थापित किये हैं जो जीवन के मध्य उत्पन्न हुए हैं। यद्यपि उनकी शिक्षा-दीक्षा आजमगढ़, काशी और प्रयाग में हुई है तो भी उन्होंने इलाहाबाद को ही एक प्रकार से अपने साहित्य की साधना भूमि बना ली है। उन्होंने सर्वप्रथम १२ वर्ष की अवस्था में ही तुकबन्दी की जिसकी दो पक्तियाँ ये ह---

आकंठ सुरसरि नीर में सब मनुज यों थे सोहते।
मानो विमल आकाश में नक्षत्र थे मन मोहते॥

उनकी साहित्य की ओर विशेष चि सेन्ट्रल हिन्दू कालेज, काशी में सर्वश्री कमलापति त्रिपाठी, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा आदि के सम्पर्क में हुई। जब वे १०वीं कक्षा में ही थे, तो १९२० में 'अन्तर जगत' के साथ उन्होंने साहित्य में प्रवेश किया। यह रचना समय को देखते हुए काफी प्रौढ़ थी। जहाँ उन्होंने एक ओर मिल्टन, शा, इब्सन, गेटे, नीत्शे, रोम्यां रोलां, प्लेटो आदि के साहित्य का व्यापक अध्ययन किया, वहीं वाल्मीकि, व्यास, तुलसीदास, कालिदास आदि की रचनाओं का उन्होंने व्यापक अनुशीलन भी किया। मिश्र जी की ख्याति हिन्दी में उनके नाटकों को लेकर है। अपने नाटकों के संबंध में स्वयं मिश्र जी ने लिखा है कि--

"जहां तक मेरे नाटकों पर इब्सन और शा का प्रभाव बताया जाता है वहां तक मैं इतना मानता हूँ कि मेरे नाटकों की ऊपरी वेश-भूषा अवश्य यूरोपीय नाटकों से प्रभावित है; पर नाटक का भाव-लोक, उसका अंतरंग पश्चिमी नाटककारोंसे प्रभावित नहीं। इब्सन से यूरोप के साहित्य में निश्चित क्रान्ति हुई थी पर इब्सन की पद्धति यूरोप की शोकांति-

काव्यों और शेक्सपीयर के विरोध में थी, जिनमें जीवन कल्पना से बनाया गया था। वह स्वाभाविक धरती का जीवन नहीं था, जिसे इब्सन ने अपने नाटकों मे दिया। परन्तु इस देश के लिए इब्सन की क्रांति का कोई महत्त्व नहीं। भास और कालिदास तथा संस्कृत के अन्य कई नाटककार इब्सन के प्रायः १००० वर्ष पूर्व के जीवन की स्वाभाविकता के आधार पर नाटक लिख चुके थे। संस्कृत के अधिकांश नाटक समस्या नाटक हैं। शूद्रक का 'मृच्छकटिक' और कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तल' दोनों उस समय के सामाजिक जीवन का सही-सही चित्र देते हैं। कण्व के तपोवन में दुष्यन्त का आश्रम-कन्या शकुन्तला से प्रणय निश्चयात्मक रूप से उस समय की मान्यताओं को चुनौती है, और स्त्री पुरुष के स्वतन्त्र प्रेम का विजय गान है। पश्चिम में अनेकों वाद बनते बिगड़ते रहे और उन्हीं के प्रभाव से यह वादों का बवंडर हिन्दी में अब आया है, नहीं तो कालिदास और अश्वघोष की साहित्य साधना जिन मान्यताओं पर चली उन्हीं मान्यताओं पर तुलसी आदि भी जमे रहे। युग भेद के कारण जीवन दर्शन में भेद नहीं आया। फ्रायड, एडलर आदि ने जिन मनोवैज्ञानिक सत्यों का प्रचार यूरोप में अब किया है उनका पता पतंजलि के आस-पास वात्स्यायन को चल चुका था, जिसके संकेत उपनिषदों में भी मिलते हैं। पुराणों में उनकी स्थूलता और बढ़ी है। श्रीमद्भागवत से लेकर संस्कृत के सभी महा-काव्यों में शृंगार-रस के रूप में यह बीज फैला और फूला-फला। यह प्रकृति की देन है, बुद्धि की उपज नहीं। प्रकृति के तत्वों का सूक्ष्म अनुभव इस देश के कला और साहित्य का आधार बना, इसलिए यहाँ विभेद वृत्ति नहीं है, क्योंकि तथ्यों में कभी विपर्य नहीं होता। लेकिन यूरोप में यूनानी सभ्यता के समय से लेकर आज तक साहित्य और कला बुद्धि प्रधान कल्पना में भटकते रहे। ईमानदारी के साथ उन्होंने जीवन के सामने सिर झुकाकर उसकी जय बोलने का कष्ट नहीं किया; इसलिए वहां सब कुछ अनिश्चित रहा। वाद आया, नए युग ने उसे वदला, और फिर नया वाद स्थापित हुआ। इसका यह अर्थ नहीं कि मुझे भारतीयता के प्रति मोह है। अपने साहित्य और कला के माध्यम से मुझे भारतीयता का जो स्वरूप मिला उसे ही मैं स्वस्थ और वैज्ञानिक मानता हूँ।

एक वात और अपने समस्या नाटकों के संबंध में कहना चाहता हूँ और वह यह कि रचना विवशता की देन है, उसी प्रकार जैसे प्रेम। दुनिया का रूप बदलने के लिए रचना नहीं होती, बल्कि सामाजिक जीवन जिन कठिनाइयों और खड्डोंहेसे पार हो रहा है उन्हीं मेंसे एक या दो का रूप साहित्यकार खड़ा कर देता है। समस्या उठाना ही उसका काम है, समाधान प्रस्तुत करना नहीं। जो अभाव या जो परेशानी उसके भीतर होती है उसका चित्र भी वह खींचता है, पर अपने से स्वतंत्र होकर। मेरे नाटकों में यही दृष्टिकोण प्रमुख है।"

मिश्र जी ने तीन प्रकार के नाटक लिखे हैं। समाज की समस्याओं के लेकर, इतिहास को आधार मानकर तथा पुराण को आधार बनाकर। सभी नाटकों का बहिरंग पश्चिम की नाट्यपरम्परा विशेष कर इब्सन और शा से प्रभावित होंकर तथा अन्तरंग भारतीय

जीवन-दर्शन से है । भारतीय जीवन दर्शन को मिश्र जी ने अपनी दृष्टि से देखा है । नाटकों में स्वगत कथन उनके नहीं मिलता तथा गीतों का प्रयोग उन्होंने उन्हीं वातावरणों में किया है जहाँ पर गीत की रचना आवश्यक हो । उनके नाटकों के नाम हैं—सन्यासी, राक्षस का मन्दिर, राजयोग, सिन्दूर की होली, मुक्ति का रहस्य, आधी रात, गरुणध्वज, नारद की वीणा, वत्सराज, वितस्ता की लहरें, चक्रव्यूह, अशोक । उन्होंने एकांकी भी लिखे हैं जिसका संग्रह मनु तथा अन्य एकांकी नामक पुस्तक में है । संवाद, व्यापार, परिस्थिति और घटना का अत्यन्त स्वाभाविक एवं मार्मिक वर्णन करने में मिश्र जी एकाकी हैं । जहां तक भाषा का प्रश्न है मिश्र जी ने नाटक के अनुरूप शैली ग्रहण की है । ऐतिहासिक, पौराणिक तथा सांस्कृतिक नाटकों में संस्कृत प्रधान प्रवाहमय प्रसाद शैली दीख पड़ेगी और सामाजिक नाटकों में व्यावहारिक भाषा का सशक्त प्रयोग मिलेगा । भरती के शब्दों से बचने वाली उनकी भाषा कम लेखकों ही में मिलेगी । भाषा कहीं-कहीं भावों के मन मोहक चित्र खड़े कर देती है, शैली की दृष्टि से वे विशिष्ट गद्य लेखक हैं । उनके भाषण बड़े तर्क सम्मत तथा ओजस्वी हुआ करते हैं । वे सम्मेलन के साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष रह चुके हैं । मिश्र जी सशक्त कवि भी हैं । छायावाद की रचनाओं को वे उस युग के कवियों का अधःपतन मानते हैं, इसीलिए वह काव्य को भी बहुत बड़ी देन देने जा रहे हैं । सेनापति कर्ण महाकाव्य जिसका प्रारम्भ सन् १९३५से हुआ था, वह उनकी ऐसी देन होगी जो उन्हें सदैव स्मरण कराती रहेगी । इसके १८ फार्म छप चुके हैं, २ फार्म अभी बाकी हैं । जिस प्रकार प्रसाद के नाटकों की प्रतिक्रिया मिश्र जी के नाटक हैं उसी प्रकार संभवतः छायावाद की प्रतिक्रिया यह ग्रन्थ हो । आप हिन्दी में सामाजिक-समस्या नाटकों के युग-प्रवर्त्तक शिल्पी हैं ।

यशपाल

हिन्दी के जाने माने प्रगतिशील कथाकार यशपाल का जन्म कांगड़ा (पंजाब) में हुआ था तथा प्रारम्भिक शिक्षा उनकी गुरुकुल कांगड़ी में हुई थी । सातवीं कक्षा तक वहाँ पर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की । गरीबी के वातावरण में उन्हें उसी जीवन में तिरस्कार मिला जिसकी प्रतिहिंसा उनके मन में हुई । पुनः डी० ए० वी० स्कूल लाहौर में भरती हुए और १९१९ में रौलट एक्ट आन्दोलन के बाद फ़ीरोजपुर अपनी मांके पास चले गये । वह वहां पर आर्य कन्या पाठशाला में अध्यापिका थीं । पहली कहानी उन्होंने पांचवीं या छठी कक्षा में लिखी थी । १९२० से बराबर लिखने लगे । हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार पं० उदयशंकर भट्ट ने आपको कहानी लिखने के लिए प्रोतसहित किया और बरेली से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'भ्रमर' में वह प्रकाशित हुई । भट्ट जी की सिफारिश के साथ छोटे छोटे गद्य-काव्य उन्होंने प्रभा और प्रताप में भेजे जो प्रकाशित हुए । वे गद्य-काव्य राष्ट्रीय थे । प्रारम्भ में नाटक खेलने का भी उन्हें शौक था । पहले यह भगतसिह और सुखदेव जैसे क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में थे । ये कांग्रेस के अनुयायी थे और जब १९१९ में राष्ट्रीय आन्दोलन को गांधी जी ने स्थगित किया तो कांग्रेस के प्रति इनमें विरक्ति की भावना जागी । आप अपनी राजनीतिक तथा साहित्यिक प्रवृत्ति

को एक ही समझनेवाले हमारे विशिष्ट कथाकार हैं। आपने जेल-यात्रा भी की, फरार भी रहे। आप बंगला, फ्रेन्च, इटालियन, रशियन, और उर्दू भी जानते हैं। पिंजड़े की उड़ान और वो दुनियां इन्होंने जेल ही में लिखी थी। आपने 'विप्लव' नामक पत्र भी निकाला। १९४१ में पुनः गिरफ्तार हो जाने के कारण विप्लव बन्द हो गया। १९४१ और ४४ के बीच आपने दादा कामरेड तथा मार्क्सवाद नामक पुस्तकें लिखीं। १९४७ में पुनः इन्होंने 'विप्लव' निकाला। श्री यशपाल उन लेखकों में हैं जो साहित्य को साधन मानते हैं तथा साहित्य के द्वारा क्रान्ति की भूमिका तैयार करने का प्रयत्न करते हैं। हार्डी, गार्ल्सवर्दी, अनातोले फ्रांस, विक्टर ह्यूगो, ग्रीविल दंजियो, बुकेशियो, मोपासां, वाल्जक्, दांते, टालस्टाय, तुर्गनेव, शरत उनके प्रिय कथाकार हैं। वे भाव के आधार पर पात्रों का गठन स्वयं कर लेते हैं। उनकी भावनाओं के आधार पर उनके पात्र उनके हाथों में नाचते हैं। दिव्या इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। पहले वे भाव और विषय का चयन करते हैं और फिर कल्पना के सहयोग से सशक्त कथा का निर्माण करते हैं। उनके भावों का गठन समाज के जीवन से होता है। उत्तराधिकारी उनका सर्वश्रेष्ठ कहानी संग्रह है। उपन्यासों में दिव्या, देशद्रोही, दादा कामरेड, पार्टी कामरेड, मनुष्य के रूप, आदि सुन्दर उपन्यास हैं। कुछ लोग यशपाल के उपन्यासों में अश्लीलता भी देखते हैं और उनके उपन्यासों के नग्न चित्रों की भर्त्सना भी करते हैं। जीवन के भीतर प्रविष्ट हो समाज के वस्तु यथार्थ को अभिव्यक्त करने वाले यशपाल जी हिन्दी के बहुत बड़े कथाकार हैं। उनकी साहित्यिक मान्यताओं से व्यक्ति का विरोध हो सकता है किन्तु उन्होंने जो कुछ भी लिखा है यदि उसे देखा जाय तो हिन्दी में अपने ंग के अकेले कथाकार हैं। यद्यपि वे प्रारम्भ से अन्त तक विद्रोही दीखेंगे किन्तु उनके विद्रोह के मूल में उनका एक अपना आदर्श है और वह आदर्श प्रधान है। जहाँ उनकी राजनीति उभड़ जाती है वहाँ वे निश्चय ही सफल नहीं होते अन्यथा विचार के भेद से यह न मानना चाहिए कि उनकी उपन्यास कला गंदी है। वे हिन्दी के गौरवशाली कथाकारों में से एक हैं। श्री पद्मसिंह शर्मा कमलेश के शब्द वास्तव में सत्य हैं :

"यशपाल जी की गिनती मैं उन लेखकों में करता हूँ जो हिन्दी की ख्याति को प्रेमचन्द जी के वाद आगे वढ़ाने में समर्थ हुए हैं। उनके लेखन का अपना ढंग है। वे विदेशी क्रांतिकारी लेखकों की परम्परा के भारतीय अग्रदूत हैं और उनके दृष्टिकोण की व्यापकता तथा अनुभूति की सचाई बड़े बड़े लेखकों के लिए ईर्ष्या की वस्तु है।"

डा. दिल्ली रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
हैदराबाद
२६५२३

২৫৭.৪৩৩০৫
বা.৭৫২ চি

इनकी दृष्टि में—

'हिन्दी साहित्य और साहित्यकार' बड़े सुन्दर ढंग से लिखा गया है। साथ ही दाम कम रखकर इसकी उपयोगिता को बढ़ा दिया गया है।

—राहुल सांकृत्यायन

---::०::---

मैंने आपके यहां से प्रकाशित श्री सुधाकर पाण्डेय 'साहित्यरत्न' लिखित पुस्तक 'हिन्दी साहित्य और साहित्यकार' ध्यानपूर्वक पढ़ी, मुझे बहुत पसन्द आई।...उन्होंने अबतक की प्रायः सभी खोजों का समुचित उपयोग किया है और फिर भी कवियों और लेखकों के सम्बन्ध में अपनी स्वतन्त्र दृष्टि की पूरी प्रतिष्ठा की है। यह मतवादी विचार-पद्धति को न अपनाकर साहित्यिक विचार-पद्धति को अपनानेवाली मूल्यवान पुस्तक है। आपने डिमाई आकार की प्रायः पौने तीनसौ पृष्ठोंकी इस घनी पुस्तक का मूल्य १।) रखकर प्रकाशन के क्षेत्र में एक नया चमत्कार उपस्थित किया है।...मुझे विश्वास है इस मूल्यमें इतनी सुन्दर सामग्री देनेवाली इतिहास-पुस्तक अब तक प्रकाशित नहीं हुई थी, अतएव इस पुस्तक का सर्वत्र प्रचार होगा। विश्वविद्यालयों में यह पाठ्य-पुस्तक रखी जायेगी और हिन्दी के सभी विद्यार्थी इसका उपयोग करेंगे।

—नन्ददुलारे वाजपेयी

मूल्य : सवा रुपया

सजिल्द : दो रुपया

[कृपया किसी भी हालत में पुस्तक पर छपे दाम से अधिक न दें]

विद्यामन्दिर प्रेस लि०, मानमन्दिर, बनारसमें श्रीकृष्णचन्द्र [illegible]